1970

H E

XVII

9

Library

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XVII. January, 1970 No. 1

अध्यात्म-साहित्य की अनुपम कृति

श्री श्री माँ आनन्दमयी के अमूल्य उपदेशों का अपूर्व संग्रह

★ अमर-वाणी ★

व्याख्याकार—म०म० डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी० लिट्०

• विभिन्न जिज्ञासु भक्तों के विभिन्न प्रकार के संशयों के समाधान के लिए, विभिन्न स्थान और समय पर जो उपदेश श्री श्री माँ के श्रीमुख से प्रकट हुए थे, उन सबका यथासंभव परिवर्त्तनहीन अवस्था में इस संग्रह में लिपिबद्ध किया गया है।

• श्री श्री माँ के श्रीमुख की वाणी स्वभावतः अत्यन्त सरल और सहज भाषा में होती है, किन्तु कुछ स्थलों पर साधारण पाठकों के लिए भाव समझना कठिन हो जाता है। ऐसे सभी कठिन स्थलों को श्रद्धेय महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जी ने अपनी व्याख्या के द्वारा सरलीकृत किया है।

• श्री श्री माँ की यह वाणी वास्तव में मातृभक्तो के निकट महावाक्य के सदृश गुरुत्वसम्पन्न है। उनके श्रीमुख से निकले सभी उपदेश महावाक्यों के समान परम आप्तवचन हैं जिसमें शास्त्रों के ही निगूढ़ सिद्धान्त हैं।

★ ४० पौण्ड का उत्तम कागज ★ माँ के दो नयनाभिराम चित्र ★

★ आकर्षक गेट अप और साजसज्जा से युक्त ★

पृष्ठ-संख्या : ३६६

मूल्य : ६) रुपये

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी, वाराणसी-१

।। श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ।।

श्रीमद्-भागवत-पारायण-महोत्सव

"सतां समाजो भविता पक्षव्यापी सुदुर्लभः ।
अपूर्वरसरूपैव कथाचात्र भविष्यतिः ।।
श्रीमद्भागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः ।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः ।।
नावकाशः कदाचिच्चेद्दिनमात्रं तथ पितु ।
सर्वथागमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः ।।"

व्याख्यान स्थल :

माता आनन्दमयी चिकित्सालय-प्रांगण, शिवाला, वाराणसी ।

भागवतप्रेमी सज्जन,

सच्चिदानन्द स्वरूप परात्पर परमेश्वर की असीम कृपा से भूतभावन परमकारुणिक भगवान् देवादिदेव श्रीविश्वनाथ के अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में आगामी फाल्गुन पौर्णमासी से अमावस्या तक (ई० २१ फरवरी से ७ मार्च १९७०) श्रीमद्भागवत का पाक्षिक पारायण महोत्सव मनाने का निश्चय किया गया है ।

इस पुण्यपर्व पर परम-पूजनीया श्री श्री आनन्दमयी माताजी भी विराजमान रहेंगी ।

यह बहुत ही आनन्द व सौभाग्य की बात है कि श्री वृन्दावन-धाम के प्रसिद्ध महात्मा तथा श्रीमद्भागवत के परम मर्मज्ञ सन्तशिरोमणि अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज इस महोत्सव में पधार कर अपनी हृदयस्पर्शी व सुललित हिन्दी में भागवती कथा सुनायेंगे ।

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
शुकशास्त्रकथायाश्च फले न समतां नयेत् ।

इति
निवेदक
दुर्गा सिंह
सभापति

वाराणसी
ता० २६ जनवरी, १९७०

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan

Brahmachari Nirmalananda, M.A., Shastri.

Kumari Lalita Pathak, M. A.

Brahmacharini Atmananda.

Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

*

ANNUAL SUBSCRIPTION

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 10/50 or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 25/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English. The magazine is published four times a year, in the months of January, April, July & October. The year begins from January.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by international Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication*.

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose, for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd., Varanasi-Branch VARANASI.

LIBRARY
No. . . . .
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृ-वाणी 1
2—श्री मन्दिर—डा० भानुशंकर मेहता 3
3—श्रीमाता का मन्दिर—महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज 8
4—मातृ सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि 12
5—श्री श्री माँ की अमर वाणी—ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त 17
6—श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग—श्री अमूल्यकुमार दत्त गुप्त, एम० ए०, बी० एल० 25
7—शाहबाग-लीला (१) —प्रत्यक्षदर्शी 30
8—कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा—श्री 'दत्त' 35
9—शिवरात्रि व्रत में विशेष शिव पूजा—श्री स्वामी नारायणानन्द तीर्थ कर्तृक (संकलित) 41

CONTENTS

English Section

1. Mātri Vānī 1
2. Sri Sri Mataji's Amara Vāni 3
3. Mātri Satsang—Swami Bhagavadananda Giri ... 7
4. Desirelessness 16
5. In Remembrance—A Jewish Devotee from Germany 22
6. Bhakti Yoga—Prof. Shanti Prakash Atreya ... 25
7. Sacred Places of Kashmir, Jammu & Ladhak—A Devotee 29
8. Matri Līlā 39

Mataji in her thirties during her first visit to Calcutta

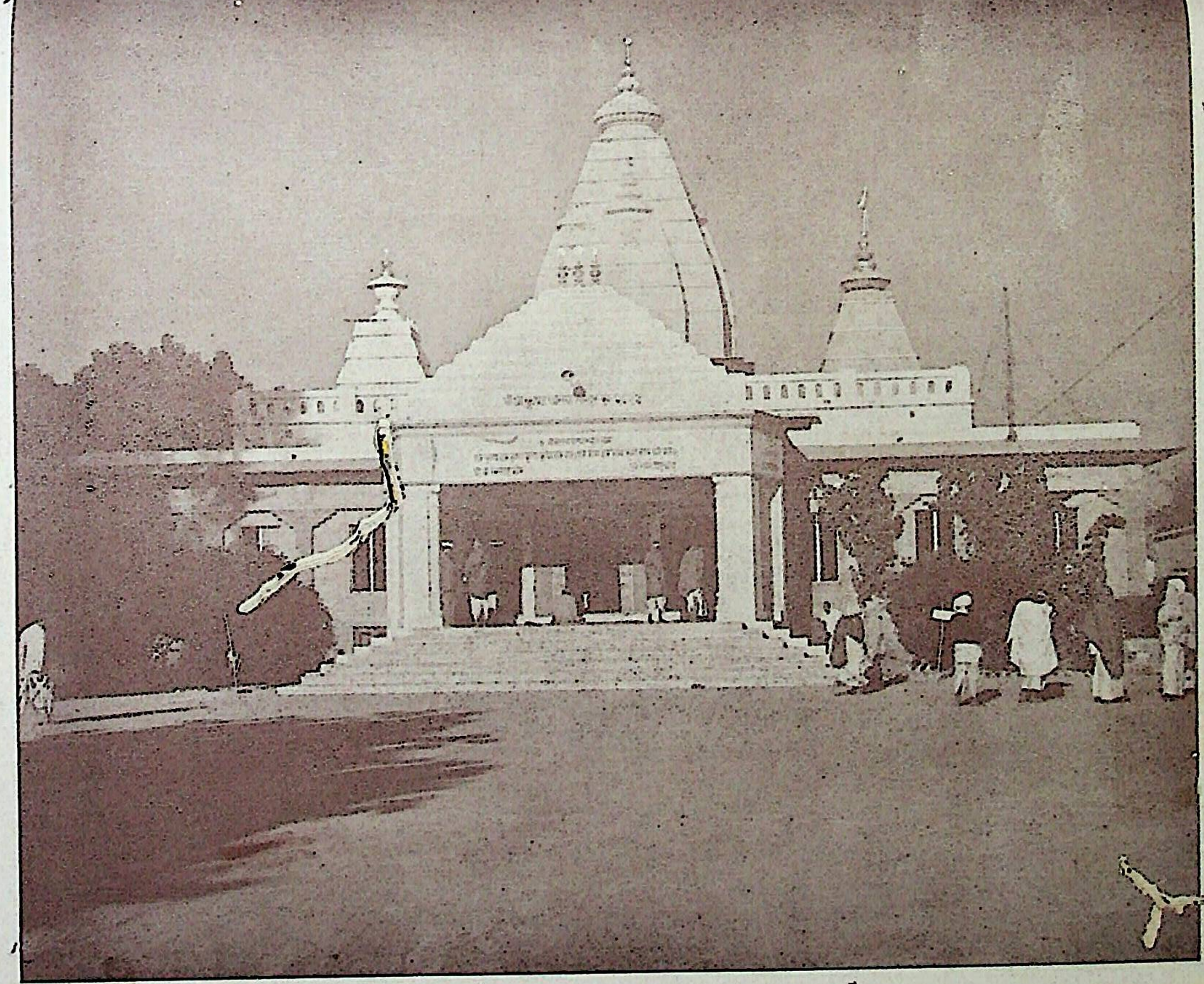

Front view of the three temples in Vrindaban Ashram.

महात्मा का महाप्रयाण !!

कलि-पावन हरि नाम वितरने वाले प्रातःस्मरणीय परमपूज्य श्री श्री हरि बाबाजी महाराज गत पौष कृष्णा दशमी को वाराणसी धाम में श्री श्री माताजी के सान्निध्य में अपने पाञ्चभौतिक तनु को त्यागकर ब्रह्मलीन हो गये ।

आपका जीवन बड़ा ही अनूठा है । ऐसा निष्कलुष आदर्श चरित्र महापुरुष इस युग में अत्यन्त ही निराला और विलक्षण है । कोई आपको श्रीरघुनाथजी का अंशावतार तो कोई श्री चैतन्य महाप्रभुजी का प्रेमावतार, कोई महावीरजी का आवेशावतार तो कोई सिद्धयोगी मानते हैं । श्री बाँध-धाम के हजारों सरल हृदय ग्रामीणों के पास तो आप साक्षात् श्रीहरि भगवान् ही हैं ।

पंजाव प्रान्त के गन्धवाल नामक गाँव में एक उच्चशिक्षित, साधन-सम्पन्न, सदाचारी साधु सेवी क्षत्रिय सिख परिवार में संवत् १९४१ के फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी के चन्दोदय के शुभ लग्न में आप एक कुसुम-सुकुमार दिव्य कलेवर कमनीय कान्ति देवशिशु के रूप में प्रकट हुए ।

आप के पिताजी सरदार प्रताप सिंहजी साधुसेवा में रुचि एवं ध्यान-भजन में प्रेम रखते थे । पाँच भाइयों में आप सबसे छोटे थे । आप का नाम दीवान सिंह था ।

शैशव में आप अपने वाल-मनोहर रूप-लावण्य तथा शिशुसुलभ माधुर्य से तथा किशोरावस्था में अपने सरल, संकोची व सुमिष्ट स्वभाव के कारण माता-पिता, भाई-बहन, सगेसम्बन्धी एवं अड़ोसी-पड़ोसी सबके प्यारे बन गये थे । बचपन से ही एकान्तसेवन एवं ध्यान-समाधि में बैठना ही आपका एकमात्र प्रिय खेल था ।

दीवान सिंहजी अपनी आरम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा होशियारपुर में समाप्त कर लाहौर गये और वहाँ इण्टरमिडियेट पास कर मेडिकल कालेज में भर्ती हो गये । छात्रजीवन में आप मितभाषी, विनयी, समय का सदुपयोग करनेवाले, बड़ों के अनुगत एवं सेवापरायण थे ।

परिवार के लोग आपके विवाह के लिए विचार करते ही आप ने मना कर दी और पढ़ाई छोड़ कर चुपचाप होशियारपुर में आकर अपने सद्गुरु ब्रह्मनिष्ठ अलौकिक-योगसिद्धि-सम्पन्न महापुरुष श्रीस्वामी सच्चिदानन्दजी के आश्रम में आकर गुरुसेवा में जुट गये ।

तीव्र वैराग्य के कारण आप काशी आ गये और वहाँ विद्वत्-संन्यास ले लिया । आप का नाम स्वतःप्रकाश पड़ा । इसके बाद आपने शूलटंकेश्वर में तथा प्रयाग में ६ साल बड़ी कठिन तपश्चर्या की । फिर कई साल तक अवधूत वृत्ति से आपने पंजाब-प्रान्त में भ्रमण के साथ भजन किया ।

इतने समय तक आपकी साधना ज्ञान-प्रधान रही। एक बार आप वर्धा गये। वहाँ हनुमानगढ़ी में महाराष्ट्री-संकीर्तन मण्डली में कीर्तन करते करते आपमें अपूर्व भावावेश का समावेश हो गया। अष्ट सात्त्विक-भाव आपके श्री अंग में प्रकाश पाये। आपने श्री चैतन्य महाप्रभुजीकी जीवनी पढ़ी और कुछ दर्शन भी हुए, तब से ज्ञान की निष्ठा से भाव व प्रेममें आपकी निष्ठा बढ़ी। और जीवन में प्रेम का नया संचार होने लगा। श्री-महाप्रभुजी आपके जीवन देवता बन गये।

फिर घूमते-घामते आप वदायूं जिले में गंगा किनारे गवाँ गाँव में पधारे। इसी गाँव को केन्द्रित कर आस-पास के गंगा किनारे के गाँव गाँव में आपने स्वयं 'हरिहरिहरिहरि' नामोच्चारण करते-करते सारे प्रदेश में भगवन्नाम की बाढ़ सी बहा दी। खादर गाँव के पास २४ मील लम्बी बाँध ६ महीने में बंधवाकर आपने यहाँ के ७०० गाँव में रहनेवाले हजारों गरीब ग्रामीणों की जमीन गंगा-गर्भ में विलीन होने से रोक दी। लोगों ने राहत की साँस ली। सर्वत्र हरिनाम का प्रचार होने लगा। आपकी मध्य आयु इसी अंचल में ज्यादातर व्यतीत हुई।

सन् १९४४ में श्रीमाताजी से आपका मिलन हुआ और तब से श्रीमाताजी के प्रति आपकी श्रद्धा-अनुराग व प्रेम दिनोदिन चन्द्रमा की कला की तरह बढ़ने लगे। श्रीमाताजी के साथ दक्षिण-उत्तर भारत के अनेक तीर्थस्थलों पर आपने भ्रमण किया। पिछले २० वर्ष से आप ज्यादातर वृन्दावन, होशियारपुर, बाँध, बम्बई, पूना, देहरादून आदि स्थानों पर दीर्घदिन रहते रहे। भक्त चरित्रों के पाठ में —रामलीला-रासलीला में आपकी अद्भुत निष्ठा थी। आप जहाँ जाते वहाँ ही सत्संग की बाढ़ सी बह जाती थी।

'पिछले कई साल से आपको हृदय की बीमारी हो गई थी, आपके मन में संकल्प था कि श्री माँ के सामने आपका शरीर जाय। श्रीमाताजी आपको महाप्रयाण के दो दिन पूर्व दिल्ली से काशी लाईं। श्रीमाँ के सामने 'श्रीराम जयराम जयजयराम' की मधुर ध्वनि सुनते-सुनते आपने शरीर छोड़ दिया। मुखमण्डल में गम्भीर प्रशान्ति छाई हुई थी। जहाँ मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है ऐसे अमरलोक में आप विराजमान हैं। आपके पावन दर्शन-स्पर्श से हम कृतकृत्य हैं—धरणी की धूलि धन्य !!

गीकृत महाबन्धं आभीर-वान्धवं देवं। सर्वजीवकृतोद्धारं श्रीहरिं प्रणमाम्यहम् ॥
संकीर्तन - सुधासिन्धुं संकीर्तनसुधाकरम्। संकीर्तनसुधा-पानं श्रीहरिं प्रणमाम्यहम् ॥

जयमाँ ! जयकृष्ण !! जय गौर !!!

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANAR

Ānanda Vārtā

“अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।”

VOL. XVII] JANUARY, 1970 [NO. 1

—मातृवाणी—

पार्थिव प्रेम बहुत कष्टदायक और नाशवान है। लेकिन भगवत् प्रेम बड़ा ही सुखदायक है।

× × × ×

भगवान् का स्वभाव ही ऐसा है कि वे बराबर दरवाजा खोल रखते हैं। जितना समय और शक्ति दुनिया के कामों में लगाये जाते हैं, अगर उतना उनके लिये दिया जाय तो अपने को जानने का मार्ग अपने आप खुल जाता है।

× × × ×

भगवान् हैं प्राणों के प्राण—वे ही आत्मा हैं। उनको पाने का अर्थ है अपने को पाना। दुनिया उसे कहते हैं जो दुर्बुद्धि और दुर्गति की ओर ले जाती है, भगवान् के सन्निकट से दूर ले जाती है। इसलिये एकमात्र श्रेष्ठ मार्ग है—अपने को पाना, अपने को जानना।

× × × ×

इस शरीर का अज्ञात या भ्रम नाम की कोई भी वस्तु नहीं है। चाहे वह सामने हो या दूर। बाह्य दृष्टि से देखना या न देखना जो कुछ होनेवाला है हो ही रहा है।

× × × ×

सदा शान्त रहकर याद रखना है कि भगवान् जब जो भी कुछ कर रहे हैं वे सब शुभ हैं, परिस्थिति अगर सामयिक रूप से एक प्रकार न भी रहे तो चिन्ता की क्या बात है? जब जो कुछ हो जाता है उन्हीं की इच्छा से होता है।

× × × ×

व्याकुल भाव से ग्रहण क्यों ? इस प्रकार ग्रहण आध्यात्मिक मार्ग में चलनेवालों के लिये उचित नहीं। इसीलिये सत्संग में सद्‌भावना के साथ जीवन व्यतीत करने की सफलता है।

× × × ×

सेवा की बुद्धि रहने पर भगवत् सेवा में रहा जा सकता है। मोह बुद्धि में मृत्यु-प्राप्ति। उनका विधान बहुत ही सुन्दर है।

× × × ×

आत्म चिन्तन ही स्वगति की दिशा है; और जगत् की क्रियाओं में अरूप प्रकाश।

श्री मन्दिर

—डा० भानुशंकर मेहता—

मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

बाह्य प्राचीर पर विराजतीं दस सिद्धियाँ[1]
अन्दर दशो दिग्पाल[2]
मातृकाएँ आठ[3]
जिनकी कृपा से
काम क्रोध लोभ मद मोह
मात्सर्य पाप-पुण्य पर
विजय प्राप्त करते भक्त साधक
हरा भरा त्रैलोक्य मोहन
यह भूपुर
अन्दर तड़ाग विशाल
छोर पर जिसके विराजतीं
मुद्राशक्तियाँ दस[4]
मनोहर
ये ही मन्दिर के दस आधार

मैया
मन्दिर विशाल, महिमा अपार
अपरम्पार !

रचना विचित्र
सरोवर बीच
कमल कमाल
सर्व आशा परिपूरक
बाह्य पंक्ति में
षोडश पंखुड़ियाँ शोभतीं
जिनपर दशार द्वय वासनाएँ
मन, बुद्धि, अहंकार,
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध
चित्त धैर्य स्मृति नाम
वार्धक्य, सूक्ष्म शरीर
जीवन और स्थूल तन
सोलह आकर्षणी देवियों की[5]
षोडश नित्याओं की

---

[1] अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य, मुक्ति, प्राप्ति, सर्वकाम ।

[2] इन्द्र (पूर्व), वरुण (पश्चिम), कुवेर (उत्तर), यम, (दक्षिण), ईश (ईशान), नैऋत (नैऋत्य), वायु (वायव्य), अग्नि (आग्नेय), ब्रह्मा (ऊर्ध्व), शेष (अधः) ।

[3] ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा, महालक्ष्मी ।

[4] सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वआकर्षिणी, सर्वआवेशकारिणी, सर्वउन्मादिनी, महांकुश, खेचरी, बीजमुद्रा, महायोनि, त्रिखण्डिका ।

[5] कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी, शरीराकर्षिणी ।

शरण में विराजती हैं
आगे
आठ पंखुड़ियाँ—सर्व संक्षोभिणी
वचन, आदान, गमन, विसर्ग,
आनन्द, हान, उपादान, उपेक्षा
आठ बुद्धियाँ
अष्टार वासनाएँ
अष्ट अनंग देवियों की[1]
छत्रछाया में
शोभायमान
मैया
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

कमल दल पर
विराजमान
त्रिकोण मयी
भवन रचना विचित्र
आश्चर्य की खान
बाहर त्रिकोण
अन्दर त्रिकोण
त्रिकोण भीतर त्रिकोण
सब ओर त्रिकोण
त्रिगुण त्रिकोण
त्रिगुण यह सृष्टि
त्रिगुणात्मिका
तीन देव

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव
आदि, मध्य, अन्त
त्रयी—ऋक्, यजुः, साम,
मन, बुद्धि, चित्त
शक्तियाँ भी तीन
ज्ञान, क्रिया, इच्छा
इड़ा, पिंगला, सुष्मना
नाड़ियाँ तीन
तीनों लोक में
तीन की महिमा अपार
मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

सर्वसौभाग्यदायक
चतुः दशार
नीलवर्ण त्रिकोण
स्थिति चक्र साकार
मन्दिर के सोपान
सुशोभित जिनपर
चौदह नाड़ियों की[2]
स्वामिनी
चौदह देवियाँ
सर्व संक्षेभिणी सर्व विद्राविणी
आकर्षिणी आह्लादिनी
सम्मोहिनी
स्तम्भिनी, जृम्भिनी,

---

[1] अनङ्गकुसुमा, अनङ्गमेखला, अनङ्गमदना, अनङ्गमदनातुरा, अनङ्गरेखा, अनङ्गवेगिनी, अनङ्गमदनांकुशा, अनङ्गमालिनी ।

[2] अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, वारणा, हस्तिजिह्वा, यशोवती, पयस्वामिनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना ।

वशंकरी, रंजिनी,
उन्मादिनी,
अर्थ साधिनी,
सम्पत्तिपूरिणी,
मन्त्रमयी,
देवी द्वंद क्षयंकरी
नाड़ियाँ जो रचती
जागृत स्थूल शरीर
झंकृत जिसमें
अर्चना के मंजीर
भक्ति के ताल
मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

मन्दिर की दीवार
ललित लाल
दस त्रिकोण का जाल
सर्वार्थ साधक माल
विराजती जहाँ
प्राणों की स्वामिनी
दस देवियाँ
सर्व सिद्धिप्रदा सम्पतप्रदा
सर्व प्रियंकरी मंगलकारिणी
सर्वकामप्रदा दुःखविमोचिनी
सर्वमृत्यु प्रशमिनी
सर्वविघ्न निवारिणी
सर्वांग-सुन्दरी, सर्व सौभाग्यदायिनी
पंचभूत तन्मात्रा का यह द्वार
शोभा अपार
मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

आगे मण्डप महान
सर्व रोग हर
दस त्रिकोण विनिर्मित
बँधी जहाँ इन्द्रिय वासना
रचना में लगी दस कलाएँ[1]
दस शक्तियाँ सर्वज्ञा
देती जो शक्ति ऐश्वर्य
जो ज्ञानमयी व्याधिनाशिनी
आधारा पापहरा
सर्वं आनन्दमयी रक्षिणी
सव इच्छित फल देने वाली
यह पुण्यस्थली
दर्शन अनुपम कृपाल
मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

यह अन्तराल—
यहाँ पहुँच गया जो
सर्व द्वन्द से मुक्त हो गया वो
सर्व रक्षा कर
हरित अन्तराल
विशाल
अष्टत्रिकोण सृष्टिचक्र द्वार

---

[1] रेचक, पाचक, शोषक, दाहक, प्लावक, क्षारक, उद्धारक, क्षोभक, जृम्भक, मोहक, वह्नि।

जिनपर
आसीन
वशिनी, कामेश्वरी,
मोहिनी, विमला,
अरुणा, जयिनी,
सर्वेश्वरी, कौलिनी,
देवियाँ आठ
शीत-उष्ण, सुख-दुख
इच्छा-सत्त्व रज-तम से
जो लेतीं उबार
मैया,
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

प्रविष्ट हो
गर्भगृह में आ गये
सर्वसिद्धिप्रद जो
आद्याशक्ति का जहाँ निवास
शाश्वत त्रिकोण विधान
हर कोण पर विराजमान
देवी महिमामयी
कामेश्वरी,
भगमालिनी,
वज्रेश्वरी !
करो करो जय जयकार
महिमामय मन्दिर विशाल,
महिमा अपार,
अपरम्पार !

नमन करो, दर्शन करो,
हो प्रणिपात
हृत पुण्डरीक पर
मणिद्वीप पर
विराजमान
सर्वं आनन्दमयी
नादबिन्दु रूप
त्रिपुर सुन्दरी
ललिता
अनुपम अलौकिक
त्रैलोक्य शक्ति
परम माता
शक्तिशिवा
प्रकृतिमूला
जिनके चरण युगल पर नत
त्रिदेव देवाधिदेव
जिनका भृकुटि विलास
सृष्टि का सृजन विनाश
नमन करो
शरणागत हो
माँगो भक्ति अविचल
माँगो माँ अम्बे
सदा विराजो
दीन हीन भक्त के
मन मन्दिर में
हृदय कमल पर
नमो, नमो,
जगन्माया को नमो, नमो,
नमो सर्वं आधार
महिमा अपार
मैया . . . .

मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

आओ
परिक्रमा करें
नव त्रिकोण के इस मन्दिर की
पाँच ऊर्ध्वमुख
चार अधोमुख
नव जो निराकार शिव के,
द्योतक जो मूल प्रवृत्ति के !
पाँच ऊर्ध्वमुख जो
त्रिकोण देवी के,
शिवयुवति के,
शक्ति के
त्रिकोण
जो
ब्रह्माण्ड में
रचते
पंच महाभूत
पंचतन्मात्रा
पंच ज्ञान इन्द्रिय
पंच कर्म इन्द्रिय
पंच प्राण
महाप्राण इस पिंड में
त्वक् असृक,
मांस, मेद, अस्थि,
और
चार अधोमुख
त्रिकोण
जो
शिव हैं
श्रीकण्ठ हैं
चित्त बुद्धि अहंकार मन हैं
पिंड में
मज्जा शुक्र प्राण जीव हैं
इन्हीं नव से बनते
एक आठ दस दस चौदह
त्रिकोण
जिनमें व्याप्त विश्व व्यापार
सृष्टि, संस्थिति, संहार,
प्रकृति, विकृति,
ब्रह्म की लीला
सचराचर, उत्पत्ति, विकास,
सत्; चित्, आनन्द,
परमानन्द,
आओ परिक्रमा करें
इस मन्दिर की,
मैया
जगदम्ब की,
देवी
चिरन्तन सत्य की
बिन कृपा जिनके न हो उद्धार
महिमा अपार
मैया
मन्दिर विशाल, महिमा अपार,
अपरम्पार !

श्री माता का मन्दिर

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज

यह विश्व पराशक्ति श्री श्री जगन्माता के विश्राम और लीला का नित्य निकेतन है। उनका लीलाक्षेत्र यही है एवं लीलातीत विश्राम भूमि भी यही है। सिद्ध योगी जन, अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार जो जिस मार्ग का पथिक है तद्रूप, मां के मन्दिर का दर्शन करते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार विश्व के बहिरंग प्रदेशों में नित्य चल रहे हैं, किन्तु विश्व के अन्तर्गृह में किसी प्रकार की कलध्वनि नहीं है। वहाँ शान्त परिवेश के मध्य मां परमेश्वर के साथ सामरस्य प्राप्त करती हुई विराजमान हैं। वहाँ सृष्टि-संहार की कलध्वनि नहीं पहुँचती। विश्व जननी और विश्व पिता सभी द्वन्द्वों का परिहार करते हुए अखण्ड अद्वय-स्वरूप में वहाँ विराजमान हैं। वहाँ शक्ति का स्पन्दन एवं शिव का नित्य अस्पन्दभाव अद्वय समरस स्वरूप में नित्य विद्यमान है। विश्व महाशक्ति का कार्य है। कार्यरूप में स्फुरित होने के पहले ही यह महाशक्ति के साथ सम्पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करते हुए महाशक्ति के साथ ही विराजमान है एवं परम शिव पूर्ण अहं रूप में अपने स्वरूपभूत शक्तिआत्मक विश्व का नित्य दर्शन कर रहे हैं। कारण उनका स्वरूप प्रकट है। शिवभाव निष्क्रिय तथा निराकार है एवं शक्तिभाव सक्रिय और साकार। परमस्वरूप में वे एक महाबिन्दु के रूप में नित्य विराजमान हैं। महाबिन्दु में एक ही पूर्ण अखण्ड सत्ता विराजमान है। वह है—परम अद्वय। वह शिव होते हुए शक्ति एवं शक्ति होते हुए भी शिव है।

विश्व रचना समझने के लिए धीर और स्थिर रूप में महाबिन्दु के स्वरूप और कृत्य पर गौर करना आवश्यक है। यह महाबिन्दु ही शास्त्रों की पारिभाषिक भाषानुसार कामरूपी-परबिन्दु है। पारमार्थिक दृष्टि सम्पन्न ऋषियों ने इसे रवि अथवा आत्मारूपी सूर्य के नाम से जाना है। यही परमास्थिति का सांकेतिक निदर्शन है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार का समन्वित नित्यरूप है। दो विरोधी शक्तियाँ परस्पर आकर्षण और विकर्षण कर रही हैं। इस आकर्षण और विकर्षण की लीला में विश्व की सृष्टि और संहार की क्रियाएँ नित्य चल रही हैं। किन्तु इस खेल के अन्तर्गत स्थिति रूप, स्थिरबिन्दु नित्य अचलभाव से प्रतिष्ठित हैं। विरुद्ध दोनों बिन्दुओं में एक का नाम अग्नि और दूसरे का नाम सोम है। अग्नि ताप-स्वरूप हैं, इनका कार्य है—संहार करना अर्थात् फैली हुई शक्ति को बटोर लाना। यही अग्नि और सोम अनन्त प्रकार के विरुद्ध-शक्ति के प्रतीक स्वरूप एवं स्थितिबिन्दु, सविता, समस्त विरोधों का समन्वय स्वरूप है। एक ओर स्थितिबिन्दु नित्य स्थिति शील हैं, दूसरी ओर

नित्य क्रियाविन्दु अग्नि और सोमभाव को आश्रय बनाकर नित्य क्रिया करते चल रहे हैं, सृष्टि और संहार दोनों इनके अन्तर्गत हैं।

विभिन्न ऋषि और विभिन्न सिद्ध पुरुष अपने-अपने इष्टभाव के माध्यम से इस सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रियाओं को समझने का प्रयत्न करते हैं एवं इस प्रसंग में बाहर से भीतर प्रवेश करने का एवं भीतर से बाहर आने का क्रम समझने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार विभिन्न चित्र यंत्र रूप में या चक्र रूप में तंत्र शास्त्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। प्रत्येक यंत्र बाहर से भूपुर एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु एक साधारण तथ्य है। विशेष क्षेत्र में तारतम्य हो सकता है और है भी, किन्तु यहाँ उनके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। हम प्रस्तुत लेख में इस विश्वचक्र का जो विशिष्ट स्वरूप प्रसिद्ध है, उस सम्बन्ध में किंचित् चर्चा करेंगे। इसे श्रीचक्र कहा जाता है। यही श्रीमाता का यंत्र एवं विश्व रचना का एक प्रसिद्ध सांकेतिक प्रतीक है।

इस यंत्ररूपी श्रीमाता के मन्दिर में सभी लोगों में एवं सभी के ऊर्ध्व में बिन्दु या महाविन्दु का स्थान है। यहीं से सृष्टि का प्रवाह निर्गत होता है एवं यह प्रवाह यहीं आकर शान्ति प्राप्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम महाविन्दु के साम्यभाव को लक्ष्य करते हुए यह सब कह रहे हैं। यह महाबिन्दु निरन्तर स्थिर रहने पर भी निरन्तर गतिशील है। फलस्वरूप यह निस्पन्द होकर भी निरन्तर स्पन्दनमय है। इस महाबिन्दु में एक ओर जिस प्रकार दो विषम बिन्दुओं की क्रियाएँ हो रही हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार एक समविन्दु की क्रियाएँ नित्य चल रही हैं। इस दृष्टि से देखने पर एक विन्दु ही तीन बिन्दु के रूप में कल्पित होता रहता है। इन तीन बिन्दुओं से तीन रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। इन तीनों रेखाओं के परस्पर संयोग से एक त्रिकोण उत्पन्न होता है। यही त्रिकोणधाम विश्वसृष्टि के योनि स्वरूप मातृमण्डल रूप में गृहीत होता है। इस तथ्य को जरा विस्तार के साथ कह रहा हूँ। वेदान्तदर्शन में सूत्र है—'योनेः शरीरम्।' शरीर-रचना योनि के अधीन है। बिन्दु और योनि के संघर्ष से व्यष्टि और समष्टि, समग्र विश्वक्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। इस बात को जरा और साफ ढंग से कह दे रहा हूँ। सृष्टि मूल की पर्यालोचना करने पर समझ में आता है कि इसकी मूलसत्ता एक ओर निरंश और दूसरी ओर सांश है। निरंश सत्ता स्पन्दहीन अथवा स्पन्दातीत, नित्य, शान्त है। वस्तुतः वही शिवभाव का या आत्मा का परमस्वरूप है। इसी निरंश सत्ता में शिव-शक्ति दोनों हैं, किन्तु दोनों में कोई विलक्षणता नहीं है। कारण वहाँ एक ही सत्ता है। शैव उसे शिव कह सकते हैं, शाक्त उसे शक्ति कह सकते हैं। यह निरंश का क्षेत्र सर्वदा निरंश ही रहता है। यह मन, बुद्धि के निकट अगम्य है, फिर भी मन-बुद्धि की सभी क्रियाएँ इसके अधीन हैं। सांश भाग

शिवभाव प्रधान या शक्तिभाव प्रधान है—यही दो भाव हैं। वास्तव में सत्य यह है कि दोनों शक्ति स्वरूप हैं, कारण दोनों ही सांश हैं। सांश सत्ता के शिव रूप को अम्बिका कहा जाता है एवं शक्ति रूप को शान्ता। दोनों ओर से धारा प्रवाहित होती है—अम्बिका की ओर से जिस प्रकार की धारा निकलती है, उसी प्रकार शान्ता की ओर से भी प्रवाहित होती है। त्रिकोण की अथवा योनि की रचना में यही धारागत वैशिष्ट्य विशेष कार्य करता है। स्मरण रखना होगा कि विश्व रचना के मूल में त्रिकोण का निर्माण होता है, त्रिकोण का निर्माण अत्यन्त रहस्यमय है। प्रत्येक धारा प्रवाह में जिस स्थिति का आविर्भाव होता है, उसका स्वरूपगत वैशिष्ट्य भी इन दोनों धाराओं का सम्मिलित वैशिष्ट्यमूलक है। उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि धाराओं का मूलस्थान अम्बिका और शान्ता हैं, इनका मिलन दोनों की सत्ता के समांश भी हो सकता है और विषमांश भी। तदनुसार सृष्टि में पार्थक्य होता रहता है। यहीं पीठ के निर्माण का गुप्त रहस्य निहित है। चार प्रकार के वाक्तत्त्व भी इस रहस्य के साथ संश्लिष्ट हैं। त्रिकोण का जो मध्यविन्दु है, वही चरमपीठ है जिसे परावाक् के नाम से वर्णन किया जाता है। इसके साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क है।

(१)

श्रीमाता का मन्दिरात्मक यह श्रीचक्र एक ओर समष्टि अथवा महासमष्टि रूप विश्व है एवं दूसरी ओर व्यष्टि रूप मानव देह है, यह दोनों के साथ अभिन्न है, इसे स्मरण रखना होगा। पराशक्ति विश्वरूपिणी : यही उनकी इच्छात्मक अवस्था है। इसके ऊपर पृष्ठ पर उनका विश्वात्मक स्वरूप है। पराशक्ति विश्वरूप होने पर भी चक्ररूप में प्रकाशमान नहीं है, इसीलिए यह अस्फुरित विश्व है। स्फुरण होने पर यही इच्छा चक्र रूप धारण कर लेती है। पराशक्ति विमर्शरूपा है। जगत् का उद्गीरण और निगीरण उनकी स्वेच्छा का स्फुरण मात्र है। यह जो विश्वचक्र की बातें बतायी गयीं, यह बिन्दु से भूपुर तक विस्तृत हैं। सृष्टि का क्रम क्या है, अब उसे बताया जा रहा है।

सृष्टि से पूर्व कोई प्रपंच न रहने के कारण उसे शून्य कहा गया है, यह प्रकाशात्मक परमशिव की स्थिति है। तांत्रिकों की सांकेतिक भाषा में इसका नाम है—बिन्दु, जिसका पहले अग्नि और सोम के सामरस्य के नाम से वर्णन किया गया है। इसकी अन्तिम अवस्था विसर्ग नाम से आख्यात होती है। सामरस्य रूप यही बिन्दु ही काम अथवा सूर्य है, यही शिवशक्ति का सम्मिलित रूप है। चिद्गगन चन्द्रिका और 'भानुजृम्भण' नाम से इसका निर्देश है। यही सामरस्यात्मक कामबिन्दु के दो रूप हैं। एक अग्निस्वरूप एवं दूसरा सोमस्वरूप। आगमों की सांकेतिक भाषा में एक का नाम 'अ' एवं दूसरे का नाम

'ह' है। अग्निबिन्दु रक्तस्वरूप एवं सोमबिन्दु शुक्लस्वरूप है। दोनों बिन्दुओं के संयोग से चित्कला या संवित् का आविर्भाव हुआ। यह संवित् और कुछ नहीं, प्रकाशरूपी अग्नि संबंधवशतः विमर्शरूपी चन्द्रबिन्दु का स्राव है। अग्नि के स्पर्श से जिस प्रकार घृत गल जाता है, यह भी उसी प्रकार का है। इन दोनों बिन्दुओं के अन्तराल या मध्यावस्था से जो धारा निःसृत होती है, वही विमर्श शक्ति की लहरी है। सांकेतिक भाषा में इसे हार्धकला कहा गया है। जब कामकला रूप अक्षर इस हार्धकला के साथ युक्त होता है तब उस अक्षर से बैन्दव चक्र का आविर्भाव होता है।

बैन्दव चक्र तीन हैं, मातृका में समष्टि रूप अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की समष्टि। इसी चक्र से ३६ तत्त्वरूप विश्व उत्पन्न होता है। श्रीचक्र के अंकित स्वरूप में यह मध्य त्रिकोण के नाम से जाना जाता है। यह मातृका त्रय की समष्टि या सदाशिव या परमात्मा या तुरीय बिन्दु से उद्भूत है।

पराशक्ति परिस्फुट शिवशक्ति समापन्न बीज का अंकुर स्वरूप है। जब परमशिवरूपी सूर्य की किरणें विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण में प्रतिफलित होती हैं तब चित्तरूपी प्राचीर में महाबिन्दु का आविर्भाव होता है। यह जो चित्त है, वह अहंकारात्मक एवं परिस्फुट अकार और हकार का सामरस्य स्वरूप है। रक्तवर्ण और श्वेतवर्ण दोनों बिन्दु वाक् और अर्थ के आभास को प्रकट करते हैं। अहंकारात्मक सूर्य या रवि दोनों के सामरस्यरूप हैं, इसीलिए कमनीय और कामपदवाच्य हैं। रवि की ये कलाएँ अग्नि और सोम के नाम से दो बिन्दुओं के रूप में परिचित हैं। यही कामकला विद्यादेवी का स्वरूप है। यदि चक्रक्रम को जान लिया जाय तो जगन्माता महात्रिपुर सुन्दरी की प्राप्ति होती है।

कालचक्रादि तंत्रों में कामकला लिखने की विधि प्रदत्त हुई है। तदनुसार पहले एक बिन्दु का सन्निवेश आवश्यक है। उसके नीचे तिर्यक् भाव में अगल-बगल दो बिन्दुओं को बैठाना होगा। इन तीनों बिन्दुओं के नीचे हंसपद अंकित करना चाहिये। आचार्यों का कहना है—यहीं तक लिपि संभव है। इसके आगे जो कुछ है, यह लिपि के द्वारा लिखना असम्भव है। बाकी आनन्दस्वरूप है। कामकला की अभिव्यक्ति कामालय में होती है अर्थात् योनिस्थान में। यह आनन्द का द्योतक है। जब लिपिबद्ध किया जाता है तब उसे हंसपद के नाम से लिखा जाता है। भगवान् शंकराचार्य कामकला के जिस ध्यान को बता चुके हैं, उससे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम चिन्तनीय देवी का आनन, उसके नीचे दो कुच या स्तन, उसके नीचे कामकला तत्त्व ध्यान का विषय है। मुखबिन्दु ही कामबिन्दु है। कुचबिन्दु दो विमर्श बिन्दु हैं। उसके नीचे जो कुछ है, वह हकारार्द्ध या अर्द्धनारीश्वर शिव का योनिस्थान है। (क्रमशः)

।। ॐ माँ ।।

मातृ सत्संग

(५१)

श्री स्वामी भागवतानन्द गिरि

स्थान :—त्रिवेणीतट—प्रयाग। अर्धकुम्भ मेला। ता० २७ जनवरी १९४८ माघ कृष्ण–१, २००४

प्र० :—मन को होश में लाने की दवा क्या है ?

माँ :—यहाँ सर्वत्र कितनी कितनी सुन्दर भगवत्कथायें हो रही हैं—यह सब तो उसी आध्यात्मिक दवा की ही जाहिरात हो रही है। भगवान् का नाम जप करना—वह भी दवा ही है। गाड़ी में, मोटर में वे लोग वह दवा लेकर घूमते हैं। दवा लो और हमेशा नियमपूर्वक उसका पान करो। देवलोक, मनुष्य लोक—इन सब का अपना अपना स्वरूप होता है। जिसको जैसा चश्मा होता है वैसा दीखता है। जैसे दूर देखने के लिये अलग चश्मा है, पास में देखने के लिये भी अलग चश्मा होता है ठीक वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में चश्मा न हो तो अनुभव नहीं होता है। तुम लोग त्रिवेणी-प्रयाग में आये हो—अच्छी बात है। यहाँ तो वेदांत भी हाजिर है। हर तरह से भगवत्कृपा रूप औषधि दी जा रही है। किसी जगह श्रीमद्भागवत का पाठ हो रहा है तो किसी जगह धूमधाम से नाम कीर्तन हो रहा है। किस्म-किस्म की दवाइयाँ दी जा रही है। जिसको जो अनुकूल आवे वैसी दवा ले लें। यदि कोई बेहोश हो जायें तो यह लोग जल को छिटक रहे हैं। जो कीर्तन हो रहा है—मानो यह जल का छिटकाव हो रहा है। यदि वे लोग इन्जेक्शन लेते तो भी और बात थी। त्रिवेणी का खूब प्रभाव है। जो लोग त्रिवेणी में आये हैं—उन सब लोगों का कुछ न कुछ अवश्य शुभ होगा ही।

प्र० :—यीशु ने कहा है कि—"बीज को यदि पत्थर में डालोगे तब भी वह उगेगा।

माँ :—यह त्रिवेणी भी कितना पवित्र और सुन्दर स्थान है। इस स्थान का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो लोग त्रिवेणी में आवेंगे उन लोगों का कुछ न कुछ अवश्य शुभ होगा ही। यहाँ से कोई खाली हाथ से वापिस नहीं जायेगा। इसलिये यहाँ पर जरूर सत्संग करना चाहिये। सत्संग में जाना अच्छा न लगे तब भी जबरदस्ती से सत्संग अवश्य करना चाहिये। सुनते-सुनते सत्संग अच्छा लगेगा। सुना है कि बहुत लोग सत्संग का त्याग

करके पीछे से पछताते हैं और रोते हैं। सत्संग करते समय बीज का रोपण हो जाता है। जैसे इन्जेक्शन लेते समय क्रिया होती है—वहाँ दर्द होता है। ठीक वैसे ही सत्संग अच्छा न लगे तब भी करना चाहिये। जैसे माँ अपने छोटे बच्चे को जबरदस्ती हाथ पकड़ के दवा पिलाती है। उस समय बच्चा जोर से चिल्लाता है तब भी माँ दवा पिलाना छोड़ती नहीं है। उस समय उस बालक की दृष्टि में तो उसकी माँ शत्रु जैसी मालूम होती है। लेकिन जब बच्चा अच्छा हो जाता है तब समझता है कि माँ ने यदि दवा पिलायी न होती तो उसका शरीर अच्छा नहीं हो सकता था। उस समय बच्चा को पता चलता है कि उसकी माँ ने ही उसकी रक्षा की थी। जो माता-पिता हैं, वे लोग बच्चा समझे या न समझे अपना कार्य करते जाते हैं। इसलिये तो सब लोग भगवान् को ही परम पिता, परमात्मा मानते हैं। हरि-कथा ही एक मात्र सच्ची कथा है—बाकी सब व्यथा और वृथा है। सारी दुनिया ही अपना घर है। जहाँ पराया समझा वहाँ ही दुःख है। दुःख देना भगवान् का स्वभाव है। भगवान् विपद् देकर विपद् हरण करते हैं। माँ कभी अपने बच्चे को प्रेम से सुलाती है तो कभी थप्पड़ भी मारती है। बच्चा तो अबोध होता है। उनको लगता है कि उसकी माँ जुल्म कर रही है। माँ भी बच्चे को मारने के बाद कभी-कभी रोती है। अये! यह सब दुःख आया कहाँ से? सृष्टि कहाँ से आयी? भगवान् ही सृष्टि रूप में बन गये हैं। भगवान् के सिवाय कुछ है ही नहीं। सर्वत्र एकमात्र भगवान् ही है। कुछ भावना रखने से कुछ मिलेगा—पूर्णता प्राप्त करने के लिये पूर्ण तरीके से करना चाहिये। महात्मा लोग कहते हैं कि मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है। सुना है कि—देवता लोग भी मनुष्य जन्म पाने की लालसा करते हैं।

प्र०—देवता देवता को चाहता है। शराबी शराबी को चाहता है। साधु साधु को चाहता है। सब लोग अपने-अपने गुणों के अनुसार लोगों को चाहते हैं।

माँ—इससे उलटा—काम, क्रोध, लोभ की मूर्ति भी अपने को रुलाती है। दिव्य भाव की बात अलग है।

श्री गोपाल ठाकुर—सब दोष अपने अन्दर से ही आते हैं।

माँ—यदि ऐसा न होता तो दोष कहाँ से आवे? अपने-अपने गुण के अनुसार दोष सताते हैं। जो भीतर में है—वही बाहर मूर्त्त बन जाता है।

प्र०—देवलोग कहाँ हैं?

माँ—देवलोग देवलोक में हैं?

प्र०—देवलोक मन के अन्दर हैं कि मन के बाहर?

माँ—सब कुछ तुम्हारे भीतर ही है। सब में सब रहा है। पूर्ण में से पूर्ण जाने से पूर्ण ही रह जाता है। देवलोक कहाँ नहीं है?

प्र०––यदि देवलोक बाहर होता तो सब लोगों को भी देखना चाहिये।

माँ––यदि देवलोक बाहर होगा तब भी तुमको नहीं दीखेगा। तुम तो भीतर या बाहर कुछ नहीं देख सकते हो।

प्र०––उसको देखने के लिये दरवाजा कैसे खुलेगा।

माँ––यदि तुमको एक मूर्ख लड़का है और तुम उनको पंडित बनाना चाहते हो तो उनको हास्पीटल में ले जाओ। सद्गुरु रूपी डाक्टर की सलाह लेकर दवा चालू करो। जहाँ राम हैं वहाँ आराम है। और जहाँ राम नहीं हैं वहाँ बे-आराम है माने––रागद्वेष रहता है।

प्र०––सब डाक्टर लोग अपनी-अपनी दवा की जाहेरात करते हैं?

माँ०––यहाँ तो वहुत डाक्टर लोग हैं। किसी को किसी डाक्टर की दवा लग जाती है।

प्र०––जप की माला में १०८ मनिका क्यों रखते हैं?

माँ––किसी से सुना है कि ८ मनिका का जप अपने गुरु के लिये है और वाकी १०० जप अपने लिये है।

प्र०––गुरु के लिये सिर्फ ८ ही जप क्यों?

माँ––(गोपाल ठाकुर को सम्वोधन करके) पिताजी तुम बोलो।

श्री गोपाल ठाकुर––माँ, मुझको तो इस बात का पता नहीं है।

माँ––१०८ मनिका क्या? महात्माओं के नाम के आगे भी १०८ लिखा जाता है–तो क्यों यह प्रश्न आयेगा। हर समय हर बात आती नहीं है।

प्र०––अवतार में और मनुष्य में फर्क क्या है?

माँ––जहाँ एकमात्र ब्रह्म ही सर्वत्र है वहाँ कोई फर्क नहीं है। (श्री गोपाल ठाकुर को) बाबा तुम बोलो।

श्री गोपाल ठाकुर––मैं तो माँ के पास माँ की बातें सुनने आया हूँ––बोलने नहीं आया हूँ।

माँ––एक बात है। जैसे जल और तरंग। तरंग जल के बिना नहीं हो सकता है। एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति कोई-कोई कहते हैं कि अवतार में भगवान् ही खुद अवतरण करते हैं। भगवान् ही जीव रूप बनते हैं––साधक रूप से बनते हैं। भगवान् ही साधन करके अपने को ही पाता है। सच पूछो तो उनकी कोई साधना ही नहीं है। उनका प्रकाश ही वैसा होता है।

प्र०––ऐसा कोई दृष्टान्त है कि जिन्होंने विना साधना किये भगवत्-प्राप्ति की हो?

माँ--इसमें दो धारायें हैं। एक दृष्टि से तो वह उस वस्तु को प्राप्त करता है दूसरी दृष्टि से स्वयं प्रकाश ही है, वहाँ प्राप्त अप्राप्त की कोई बात ही नहीं है। वहाँ स्वयं ही प्रकाश होता है। स्वयं प्रकाश किसके पास होता है ? वह तो हर समय हो रहा है। जैसे लकड़ी में अग्नि गुप्त रूप से रहती है। घर्षण होने से अग्नि प्रकाशित होती है। अंधकार को वह अग्नि दूर करती है। प्रकाश तो हर समय है ही उनके लिये प्रकाश अप्रकाश का प्रश्न ही नहीं है। इसलिये उनको स्वयं प्रकाश कहते हैं। जब पेड़ पर फल परिपक्व हो जाता है तब वो फल किसी को बुलाने नहीं जाता कि तुम आओ और मुझ को ले जाओ। जब आम पेड़ पर पक जाता है तब वह कहने नहीं जाता कि तुम आकर ले जाओ।

प्र०--माँ, जब भगवान् श्री कृष्ण का ध्यान करते हैं उसी समय भगवान् श्री राम का भी ध्यान हो सकता है कि सिर्फ एक इष्टदेव का ही होना पड़ेगा ?

माँ--तुम जिस समय अपने पिताजी की सेवा करते हो ठीक उसी समय क्या तुम अपने काका जी की भी सेवा कर सकते हो ? किसी समय अपने इष्टदेव का चिंतन करते समय यदि दूसरे विग्रह का ध्यान आ जाये तो आने दो। तुम अपना लक्ष्य छोड़ना नहीं, ठीक तरह से अपने इष्टदेव का ध्यान करने की चेष्टा करते रहो। एक लक्ष्य होने से काम बनता है। दोनों मूर्तियों में भगवान् का ही प्रकाश है। पहले अपने एक इष्ट को लेकर मग्न हो जाओ। भगवान् को लेकर रहने से उस एक में दो को प्राप्त कर सकते हो। सिर्फ दो ही क्यों--समस्त विश्व--ब्रह्माण्ड में जो कुछ है सब कुछ प्राप्त कर सकोगे ? तुम्हारी अभी जो अवस्था है उसके मुताबिक इस शरीर ने तुमको बताया है। तुम दोनों भगवान् के नाम लेते चलो। गुरुप्रिया दीदी के फूफाजी की बात है। उन्होंने अपने गुरु से गुरु दीक्षा ली थी। एक बार वे एक महात्मा के पास गये और उनसे कहा,--"मैंने अपने गुरु से दीक्षा लेने के बाद जैसा-जैसा साधन बताया था वैसा मैंने आज तक किया है लेकिन कुछ नहीं हुआ है।" उस महात्मा ने कहा--"तुम सब साधन छोड़ दो"। घर आने के बाद वे बड़ी मुश्किल में पड़ गये। क्या करना चाहिए ? १५ वर्ष का साधन भजन कैसे छोड़ दें ? तो फिर महात्मा की बात को भी कैसे छोड़ दें ?

इस प्रश्न के डर से उन्होंने खाना छोड़ दिया। उस समय यह शरीर ढाका में था। वे लोग इस शरीर के पास आये। इस शरीर ने कहा,--"यदि उस महात्मा ने कहा हो तो छोड़ दो। उन्होंने जैसा कहा है वैसा करो। यदि ठीक तरह से कहा होगा तो जरूर परिवर्तन होगा। यदि तुम छोड़ने जाओगे तब भी पहले वाला का ध्यान रह जायेगा। दोनों वस्तु करते रहो। जो वस्तु तुम्हारे लिये ठीक होगी वह अपने आप तुमको पकड़ लेगी। तीन दिन के बाद

उन्होंने भोजन किया । यदि किसी के आदेश से परिवर्तन हो जाये तो उनको पकड़ लो । तुम दोनों की सेवा करो । बहुत अच्छी तरह से करो । कोई-कोई गुरु को इष्टदेव में देखते हैं तो कोई-कोई इष्टदेव को गुरु में देखते हैं । अन्त में एक रूप, एक क्रिया खड़ी हो जाती है । यह बिलकुल सत्य बात है । एक शून्य के भीतर सारा अंक रह गया है । दोनों हाथों में लड्डू है । सब में सब है । अपने-अपने इष्टदेव में, गुरु में खूब-खूब निष्ठा होनी चाहिये । एकनिष्ठ होने के लिये सिर्फ एक को पकड़ना चाहिये । मेरे गुरु में वे भगवान् ही सदा-सर्वदा विराजते हैं । राम कृष्ण सब कुछ मेरा गुरु का ही स्वरूप है । यह सब प्रकाश मेरे गुरु का ही प्रकाश है ऐसा समझना चाहिये । जब तक ऐसा भाव न आवे तब तक चेष्टा करते रहो । सिर्फ एक में स्थिर हो जाओ ।

इस शरीर में साधना का सब प्रकार का खेल हो गया है । कितना सुन्दर वृक्ष है ? इसमें और साक्षात् शिव में कोई फर्क नहीं है । 'एक' को प्राप्त होने से सारे विश्व-ब्रह्माण्ड का दर्शन हो जाता है । जब तक ऐसे भगवान् के दर्शन न हो तब तक साधन-भजन करते रहो ।

(क्रमशः)

OUR NEW GUJRATI PUBLICATION
SRI MA ANANDAMAYI—NA—SANNIDHYAMA
—VOL I
BY
SWAMI BHAGAVATANANDA GIRI
The book contains "Matri Satsang" during MA's Gujrat tour in December, 1947. It also includes the Gujrati translations of Sri Bhaiji's "SAD VANI" and Sri Abhay's "ANANDAMAYI LILA KATHA."

श्री श्री माँ की अमरवाणी

(ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज कृत व्याख्या सहित

प्रश्न—शरीर में हृदय किस स्थान में है ?

माँ—हृदय कहाँ नहीं है ? जैसे एक वृक्ष-मूल से पत्ती तक एक बीज है, उपमा सर्वाङ्गीण तो होती नहीं। वृक्ष में ऐसा कौन स्थान है जहाँ शाखा उत्पन्न होकर बीज को धारण नहीं कर सकता ? जो बीज मिट्टी में है, वह वृक्ष के किस स्थान में नहीं है ?

प्रश्न—शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में सुनने तथा देखने के केन्द्र हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक केन्द्र भी है जहाँ से भगवत् सत्ता प्रकट होती है।

माँ—वृक्ष में जैसे नाना गति, स्थिति, प्रकाश हैं, वैसे ही केन्द्र सभी जगह हैं।

प्रश्न—केन्द्र तो मध्य भाग में रहता है न ?

माँ—तब केन्द्र मध्य भाग में ही है। भगवान् जहाँ प्रकाशित होते हैं वही हृदय है। हृदय एक ही है, फिर हृदय अनन्त हैं। एक वोलता है—मेरा हृदय, दूसरा बोलता है—मेरा हृदय, लेकिन हृदय एक ही है।

प्रश्न—शास्त्र तो कहता है, हृदय कहाँ ?

माँ—वावा; शास्त्र तो पढ़ाये नहीं ! हृदय का स्थान एक ही है—मध्य कहाँ है और कहाँ नहीं। अगर तुम कहते हो, यही मध्य भाग है, तो यह शरीर कहेगा—वही मध्य स्थान है। साधारण दृष्टि से हृदय छाती के मध्य में है और अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार जो वात है। इस शरीर की ओर भी—हाँ, जिसका जिस स्थिति में जिस रूप में जो प्रकाश है। भगवान् कहाँ नहीं हैं ? कहो। इसलिये हृदय की वात भी वैसी है—एक कहो एक है, अनन्त कहो अनन्त हैं।

प्रश्न—हार्ट फेल होने पर समाप्त हो जाता है।

माँ—हार्ट फेल का हार्ट और हृदय एक वात नहीं है। शरीर में है ऐसा जो कहते हो, इस दृष्टि से जो वीज बोये वही फिर वापस पाये, क्रम गति के नियम से। फिर देखो पूरे वृक्ष में बीज कहाँ नहीं है। इस दृष्टि से कहना—हृदय कहाँ नहीं है। एक में अनन्त, अनन्त में एक है—जिसका जहाँ प्रकाश होता है उसका हृदय वहीं है।

प्रश्न—वीज का जन्म कैसे होता है ?

माँ—वीज रूप में वे स्वयं ही हैं, उनको छोड़कर क्या बीज रहता है ?

प्रश्न—भागवत में लीला का क्या रहस्य है ?

माँ—सब प्रकार के कर्मों में 'क्यों' यह प्रश्न रह ही जाता है। इसके समाधान के लिये क्या करना चाहिए ? आई०ए, बी०ए, एम०ए, किसे कहते हैं—पास करना पड़ता है। यहाँ पास करने का अर्थ है आवरण रहित होना। निरावरण होने पर 'क्यों' चला जाता है। इसीलिए कहा जाता है—भागवत पढ़ो। जिसने कुछ भी नहीं पढ़ा उसका प्रश्न नहीं और जिसने पास कर लिया है उसका भी प्रश्न नहीं है। भागवत क्या है ?—भागवत और भगवान् एक हैं। भगवान् की सब लीलाएँ—साकार सगुण रूप में भगवान् का जो प्रकाश है उनकी लीलाएँ भागवत में हैं।

प्रश्न—भगवान् ये लीलाएँ क्यों करते हैं, (रामलीला)। क्या इससे मर्यादा की हानि नहीं हुई ?

माँ—इस शरीर का कोई व्यक्तिगत विषय नहीं है। भगवान् अपने को लेकर स्वयं खेल रहे हैं। कोई कहता है—अपनी माया से रच रहे हैं, कोई कहता है—मनश्चक्र में। किसके साथ खेलते हैं ?—अपने साथ, अपनी जो माया शक्तियाँ अलग-अलग हैं उनके साथ। और एक बात है, तुम लोग कहते हो न ऋषिगण वामन अवतार में लीला के प्रार्थी हुए थे। उस समय रामचन्द्र ने कहा था, कृष्ण अवतार में लीला होगी, अभी नहीं, सभी वस्तुएँ भगवान् की ही हैं, इसलिए अपने साथ अपना खेल है।

और भी एक बात है शक्तिमान पुरुष सब कर सकते हैं—ऐसा भी कहते हो। सब जगह यह बात नहीं। गरल एक मात्र नीलकण्ठ ही पचा सकते हैं।

प्रश्न—गीता में एक बार कहा गया—कर्म करो, फिर कहा गया, सब त्याग करो—इस विरोध का क्या समन्वय है ?

माँ—देखो अध्याय है न एक स्थिति में कर्म और एक स्थिति में शरणागति है। शरण लो कहने से क्या शरण लिया जा सकता है ? शरण लेना और छोड़ने का भी स्थान है।

गीता प्रतिदिन पढ़ो। पढ़ने से क्या होगा ?—जैसे कोई स्वयं आकर बोल देता है, वैसे गीता उस रूप में, अक्षर रूप में कृपा करती है। तुम कहोगे, अक्षर फिर कैसे कृपा करेगा। देखो, इसीलिये ग्रन्थ की बात होती है। उसका काम करते हुए एक स्थिति आ जाती है। साधारणतया यह है बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया, इससे महत्त्वपूर्ण क्रिया है ही नहीं। गीता पढ़ो और नित्य प्रतिदिन कुछ क्रिया और कर्म करो, तब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। आन्तरिक प्रश्न होने पर उसका समाधान निश्चय ही होता है। लक्ष्य एक हुए बिना काम नहीं बनता। एक अग्र, मन तो अनेक अग्रों में हैं। एक अग्र होने पर उसी

क्षण प्रकाश की ओर होना। इसलिए जबतक तुम्हारे भीतर गीता का प्रकाश न होता है तबतक गीता पढ़ना न छोड़ना।

प्रश्न—माया के बीच में रहकर माया के बन्धन से छुटकारा कैसे मिलेगा ?

माँ—जंगल काटकर मैदान बनाते समय, जंगल में जाकर जंगल काटना होगा। माया किसकी ?—भगवान् की माया अनादि है। परन्तु इसमें रास्ता रख दिया गया है। जैसे जंगल में जाकर जंगल काटकर मैदान बन गया। वर्तन साफ होने पर बर्तनों का वास्तविक प्रकाश, आवरण हट जाने पर वास्तविक प्रकाश आ जाता है। वैसे ही माया मोह आदि का जो आवरण है उसको हटाने का उपाय क्या है ?—सत्संग और अपने-अपने गुरु ने जो बताया है।

और अगर गुरु न मिला हो—सब नाम उन्हीं का नाम हैं। सब रूप उन्हीं का रूप हैं, सब गुण उन्हीं का गुण हैं। और किस उपाय से मेरी मुक्ति मिलेगी, कौन है रास्ता, कैसे होगा—सर्वदा इस प्रकार ध्यान रखने से ही होगा। किसी भी उपाय से उनको याद रखना—

हरि की कथा ही कथा है
अन्य सब व्यर्थ व्यथा है

व्याख्या

१. हृदय क्या है और कहाँ है ?

जिज्ञासु के प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में माँ ने सरल तथा संक्षेप में अत्यन्त निगूढ़ बात कह दी। जो लोग उपासना मार्ग के पथिक हैं उनको हृदय के बारे में चिन्तन करना पड़ता ही है। प्राचीन वैदिक युग में भी दहर विद्या के प्रसंग में हृदयाकाश के सम्बन्ध में आलोचना हुई थी। शास्त्रों में अनेक स्थानों में इस दहर पुण्डरीक या हृदय कमल की आलोचना हुई। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित हुआ कि ईश्वर या परमात्मा सब भूतों के हृदय में निवास करते हैं और वहाँ से माया शक्ति के द्वारा यन्त्रारूढ़ होकर सर्वभूत को संचालित करते हैं। हृदयस्थित ईश्वर से प्रेरित होकर ही जीव तत् तत् कर्म में प्रवृत्त होता है। यही माया यन्त्र का नियन्त्रण है। मनुष्य कर्तृत्वाभिमान वश सोचता है कि अपने शरीर से किये हुए सब कार्यों का कर्ता वह स्वयं है। इस कर्तृत्वाभिमान के प्रभाव से वह वास्तविक कर्ता न होकर भी अपने को कर्ता समझता है, इसलिए उन कर्मों के फल, सुख या दुःख जो भी हो, अनुभव करता है।

यहाँ एक रहस्य की बात है। गीता में 'सर्वभूत' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है परन्तु सब जीवों (सर्वभूतानां) के हृदय की बात एकवचन में कही गयी है (हृद्देशे)। इससे समझा जाता है कि देहावच्छिन्न जीव संख्या में बहुत होने पर भी उनका हृदय एक ही है। हृदय आकाश रूप है। बाहर जैसे एक ही भूताकाश जिसे हम नीलाकाश कहते हैं सभी अपने-अपने मस्तक के ऊपर देखते हैं, वैसे अन्तर में भी एक ही आकाश है, जिसे कोई-कोई चित्ताकाश भी कहते हैं, हम अपने हृदय में पृथक्-पृथक् रूप में अनुभव करते हैं। हृदय विश्व का केन्द्र है। हम लोगों का ज्ञान समूह इस अन्तराकाशरूपी हृदय को स्पर्श न कर सकने के कारण बहिर्मुख से इन्द्रियों के द्वारों से शरीर को आश्रय बनाकर रूप रस आदि विषयों की ओर धावित होता है। इसका मूल कारण देहात्मबोध है जिसके फलस्वरूप हम लोगों का आत्मसंवित् प्राण रूप में परिणत होकर, देह का आश्रय लेकर विषयों की ओर दौड़ता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिये शून्य का भेदन अवश्य ही करना है। आपात दृष्टि से इस हृदयरूपी शून्य का भेदन करके हृदय की ऊर्ध्व गति प्राप्त कर लिये जाने पर यह परिच्छिन्न हृदयाकाश ही चिदाकाश में अवश्य हा परिणत हो जाता है। चिदाकाश में आत्मशक्ति अनुग्रह रूप में स्फुरित होकर हृदय से उत्थित ऊर्ध्वगति के साथ तादात्म्य प्राप्त करती है। उसी स्थान में भगवत् प्रेम का पूर्वाभास अनुभव किया जाता है। चिकित्सकों के परिचित हृदय या heart और हम लोगों का वर्णित दहराकाशरूपी हृदय एक नहीं है। जीव अनन्त है। इसलिये हृदय अनन्त है, अथच हृदय एक ही है और एक दृष्टि से कहा जा सकता है। प्रत्येक हृदय में हृदय के अधिष्ठाता नित्य विराजमान हैं। वास्तविक हृदय चिदाकाश को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। वह आकाश देश तथा काल के द्वारा अवच्छिन्न नहीं है। वहाँ उसके अधिष्ठाता नित्य विराजमान हैं। चित्त अन्तर्मुख होने पर ही इड़ा तथा पिंगला नाड़ी के स्वरूप वाम तथा दक्षिण आवर्त नाम के दो काल प्रवाह विषमता को छोड़कर साम्य भाव प्राप्त होने के साथ-साथ धीरे-धीरे मध्य नाड़ी खुल जाती है। तब श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से बन्द हो जाती हैं। प्राचीन काल में बुद्धदेव ने इसी को 'मध्यमार्ग में प्रवेश' के रूप में वर्णित किया है। माँ ने कहा है— बीज से वृक्ष पैदा होने पर भी वृक्ष के सर्वत्र जैसे बीज की सत्ता का अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही मानव शरीर के एक विशेष स्थान में हृदय का अस्तित्व प्रचलित रहने पर भी समय आने पर समझ में आ जाता है कि वह सर्वत्र है। इस हृदयरूपी या आकाशरूपी केन्द्र से चारों ओर वायुमंडल का विस्तार हुआ है। इसीलिये किसी भी क्षण में वायुमंडल को तरंगहीन कर आकाशरूपी हृदय प्राप्त किया जा सकता है। संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि अन्तर्मुख न होने पर हृदय का वास्तविक परिचय नहीं

मिलता और हृदय की प्राप्ति न होने पर उसकी ऊर्ध्वमुखी गति की प्राप्ति कैसे हो सकती है? यह ऊर्ध्वमुखी गति मूर्धन्य नाड़ी का आश्रय लेकर होती है। यह उज्ज्वल गति है। उपनिषत् में है—'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यः'। इस एक शब्द से मूर्धन्य नाड़ी की ओर लक्ष्य किया गया है। उपनिषत् में यह बात शब्दों में उल्लिखित हुई। वि० तन्त्रशास्त्र में यह ऊर्ध्वमार्ग २६ अंगुल है, ऐसा विवरण मिलता है। यह गति हृदय से ब्रह्मस्थान तक विस्तृत है।

एक प्रचलित विवरण है कि—

यतो निर्याति विषयः यस्मिश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद् विजानीयात् मनसः स्थितिकारणम् ॥

इससे ज्ञात होता है कि हृदय से ही विषयों का निर्गमन होता है और फिर हृदय में ही उनका विलयन होता है। इस हृदय में ही चिर चंचल मन शान्त होता है। अतः हृदय के वारे में माँ ने संक्षेप में जो बतलाया है वह सब अंशों में ठीक है और मनन करने से यह बात सबकी समझ में आयेगी।

२. भगवान् का लीला-रहस्य

भगवान् की लीला का विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत और पुराण आदि में है। इस लीला के तत्त्व तथा औचित्य के सम्बन्ध में लोगों के मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लीला क्या है? हम लोग खेल को ही लीला कहते हैं। खेल प्राणों का स्वतः स्फूर्त उच्छ्वास है। यह आनन्द के प्रभाव से उत्पन्न होता है। जब तक शिशु क्षुधा या रोग में पीड़ित रहता है तब तक वह खेल में प्रवृत्त नहीं होता। जब तक मनुष्य अभाव की ज्वाला से छटपटाता है, तब तक वह अभाव की पूर्ति के लिये व्यस्त रहता है। उस समय खेल-कूद में उसकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? जब तक जीव आवरण के भीतर रहता है तब तक उस आवरण से मुक्त होना ही उसकी कामना का विषय और लक्ष्य रहता है। उस समय उसका स्वाभाविक कार्य है आवरण से मुक्ति प्राप्त करना। अतः अभाव का जो कार्य है उसका एकमात्र प्रयोजन है अभाव-निवृत्ति और अभाव की निवृत्तिजनित सुख है, लेकिन लीला इस प्रकार नहीं है। यह आवरणरहित स्थिति का स्वतःस्फूर्त स्पन्दन है। आत्मा प्रकाश स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं है, लेकिन माया के आवरण से आवृत रहने के कारण उसकी सभी क्रियाएँ उस आवरण की निवृत्ति के लिये होती रहती हैं। परन्तु जब प्रकाश आवरण शून्य हो जाता है तब उसके अन्तस्तल में निहित आनन्दशक्ति स्वतः ही स्फुरित होती है। यही ह्लादिनी शक्ति का खेल है। भगवल्लीला इसी का आत्मप्रकाश मात्र है।

कोई-कोई श्रीमद्भागवत में वर्णित रासलीला पर आक्षेप करते हैं। लोग अपने दृष्टिकोण के अनुसार सभी वस्तुओं पर विचार करेंगे। भगवान् आप्तकाम हैं। भक्तों की तृप्ति के लिये उनकी लीला होती है। अनेक मुनिगण इसीलिये कृष्ण अवतार में गोपियों के रूप में अवतीर्ण हुए थे। भगवल्लीला योगमाया के अन्तराल में और योगमाया के प्रभाव से रचित होती है। साधारण लोगों की बात तो दूर है इस लीला के दर्शन का अधिकार देवी देवताओं को भी नहीं है।

श्री भगवान् की सत्ता सच्चिदानन्द रूप में विश्व-आत्मा के साथ अभिन्न रूप से विद्यमान है। किसी के भी साथ उनका मिलन क्यों न हो वह वास्तव में अपने साथ अपना ही मिलन है। अद्वैत दृष्टि में द्वितीय का स्थान कहाँ? जिसकी इस प्रकार की दृष्टि न हुई अथवा जो श्रीकृष्ण जी को भगवत्स्वरूप में नहीं मानता उनके द्वारा की हुई समालोचना बहिरंग है, वह लीलातत्त्व की वास्तविक आलोचना नहीं है। साधारण मनुष्य के लिये भगवल्लीला को आदेश रूप में ग्रहण कर उसका अनुकरण करना उचित नहीं है। क्योंकि यह लीला गुप्त है और योगमाया के अन्तराल में इसका अनुष्ठान होता है। गीता में भगवान् ने कहा—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" अतः भगवान् के चरित्र को आदर्श रूप में ग्रहण करना मनुष्य के लिये उचित नहीं है। मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श बन सकता है। श्रीकृष्ण जी के मनुष्य-देह धारण करने पर भी उनकी सभी लीलाएँ उनकी परमसत्ता में प्रतिष्ठित हैं। ऐसे महापुरुषों के उपदेश ग्रहणीय हैं—उनके कार्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। समुद्र के मन्थन के समय भगवान् शिवजी ने कालकूट विष का पान किया था। मनुष्य की बात तो दूर है, देवताओं के द्वारा वह सम्भव नहीं हुआ। अग्नि शक्ति से युक्त होने के कारण वह सर्वभुक् है। मनुष्यों में वह शक्ति कहाँ है? माँ ने संकेत से इन सब बातों का उल्लेख किया।

३. कर्म करना और शरण लेना

गीता में श्रीकृष्ण जी ने अपने मुख से कहा—कर्म करना होगा, फिर उन्होंने स्वीय मुख से कहा—सब कर्मों का त्याग कर उनकी शरण लेनी होगी। आपात दृष्टि से मालूम होता है कि ये विरोधी बातें हैं। लेकिन इनमें विरोध नहीं है। जब तक जीव कर्ता बनकर रहते हैं तब तक उसमें कर्तृत्वाभिमान रहता है। इसलिए अपने किये हुए कर्म के फल भोग के लिए उसका उत्तरदायित्व भी रह जाता है। इसलिए जीवन की प्राथमिक स्थिति में कर्म न करते हुए उससे एक कदम भी आगे चला नहीं जाता। लेकिन कर्म किये जाने पर ही सुख या दुःख रूप फल का भोक्ता बनकर उसे संसार में भ्रमण करना ही पड़ेगा।

अतः ऐसे कौशल से उसे कर्म करना चाहिए ताकि वह सुख दुःख आदि भोग के बन्धन में फँस न जावे। जीवात्मा स्वभाव से कर्मों का कर्त्ता नहीं, लेकिन कर्म करने से ही सुख दुःख रूप फल की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है। अतः जीव को कर्म जनित फल से मुक्त होना होगा। इसलिए भगवान् का उपदेश है——सकाम होकर कोई कर्म न करें। कामना रहित होने से इष्ट तथा अनिष्ट फल के भोग से मुक्ति मिलती है। लेकिन कर्म करने से फल की उत्पत्ति अवश्यम्भावी है——यही प्रकृति का नियम है। इसलिए कर्मजनित फल को अपना भोग्य न बनाकर जगत् को अर्पित करना चाहिए। यही आध्यात्मिक जगत् का साधारण नियम है। कर्म के मार्ग पर चलने से समझ में आ जाता है कि प्रकृति के गुणों से ही कर्म होते रहते हैं। जीव अहंकार वश व्यर्थ ही समझता है कि कर्म उसी ने किया है। इन कर्म फलों को निज क्रियाजन्य न समझकर प्रकृति और पुरुष के द्वारा समझना चाहिए। तब देखने में आता है कर्म के जो फल हैं वे स्वतः ही उत्पन्न हो रहे हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि प्रकृति में स्थित गुण समूह ही स्वभाव से क्रियाशील होकर कर्म का सम्पादन करता है। लेकिन अहंकार से विमूढ़ होकर आत्मा अपने को कर्ता समझता है और इसलिए फल भोग करने के लिए वाध्य होता है, लेकिन जब उसको देखने में आता है कि निष्क्रिय आत्मा तटस्थ साक्षीमात्र है, तब वह अपने को फल के भोक्ता के रूप में नहीं मान सकता। जब वह समझ सकता है कि प्रकृति के गुण चेतन पुरुष रूपी परमात्मा के द्वारा संचालित हुए बिना कोई भी क्रिया कर नहीं सकते, तब वह परमात्मा को ही संसार के सभी कर्मों के कर्ता रूप में समझ सकता है। इस उपाय से जीव अपने देहात्मभाव से मुक्त होकर पहले प्रकृति या गुण को और बाद में प्रकृति के अधिष्ठातृ ईश्वर को कर्ता के रूप में पहचान सकता है। पुरुष कर्ता नहीं है——इस प्रकार का बोध ही ज्ञान का उदय होना है एवम् परमात्मा ही एकमात्र कर्ता है, यही भक्ति का उदय है। भक्ति के प्रभाव से निज हृदय विहारी परमात्मा को दर्शन करने का अधिकार आता है। उस समय वे ही एकमात्र कर्ता हैं तब वह समझ सकता है और निज कर्तृत्वाभिमान निवृत्त हो जाता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कर्तृत्व का अभिमान रह जाने के कारण जीव को कर्म करना पड़ता है। उसके बाद ज्ञान और भक्ति के उदय होने पर निज कर्तृत्व का बोध कट जाता है। इससे समझना चाहिए कि जबतक देहाभिमान है और निज कर्तृत्व बोध है तबतक जीव कर्ता है। इस दशा में कर्मत्याग अनुचित है। ज्ञान के उदय होने पर जब कर्तृत्व अभिमान दूर हो जाता है और भक्ति के प्रभाव से भगवद्दर्शन के साथ जब समझ में आता है कि ईश्वर ही एकमात्र कर्ता है, तब कर्म-त्याग तथा आत्म समर्पण का समय आता है। यही शरणागति है। इसीलिए माँ ने कहा——"किसी स्थिति में कर्म और किसी स्थिति में शरण है।"

४. वास्तविक गीता-पाठ किसे कहते हैं।

गीता का पाठ बहुत से लोग करते हैं लेकिन माँ ने जिस दृष्टि से इसे देखा उस दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि वास्तविक गीता पाठ बहुत कम लोग करते हैं। वास्तविक गीता-पाठ किसे कहते हैं ? गीता को सजीव तथा चेतन समझकर हृदय में जिज्ञासा लेकर उसका पाठ करना चाहिए। ऐसा करने पर गीता पाठ से सब संशय दूर हो जाता है। धीरे-धीरे ऐसी दशा का उदय होता है कि गीता का पाठक स्वयं ही गीता का स्वरूप धारण कर लेता है। उस समय फिर उसे गीता पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

५. माया में रहकर माया से मुक्ति

माँ ने इस विषय में एक सारगर्भित उपदेश दिया है। माया में स्थित जीव माया के बाहर कैसे जा सकेगा ? माँ कहती हैं—माया के बीच मायातीत भी हैं जिनकी शक्ति के रूप में माया खेल रही है। गीता में भी है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

मायास्थित माया के सञ्चालक सत्ता को प्रपन्न रूप में आश्रय ले सकने पर उनकी कृपा से माया स्वयं कट जाती है। माया में प्रवेश न कर सकने पर माया के अतीत होने की चेष्टा व्यर्थ है।

६. गुरु प्राप्ति के अभाव में कर्तव्य क्या है।

बहुतों के मन में प्रश्न उठता है कि गुरु मिलने पर उनके निर्देश के अनुसार कर्म की ओर चलना चाहिए, लेकिन जिसे गुरु मिला ही नहीं उसका क्या कर्तव्य है। माँ कहती हैं—मूल में एक अखण्ड सत्ता ही भिन्न-भिन्न सत्ता के रूप में है, इस उपाय से एक ही सत्ता को आश्रय बनाकर उसी भाव में भावित होकर मनुष्य को अग्रसर होना पड़ता है। वही महान् सत्ता तो सर्वत्र विराजमान हैं। वे ही भक्ति की व्याकुलता देखकर ठीक समय पर अपनी इच्छा के अनुरूप किसी भी आधार प्रकट होकर भक्त को कृपा करते हैं। हृदय में आकांक्षा की तीव्रता रहने पर भगवदनुग्रह से कोई भी अभाव नहीं रहता।

———

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

(पंचम खंड)

(श्री अमूल्य कुमार दत्तगुप्त एम० ए०, बी० एल०)

सत् चित् आनन्द

माघ, ७ बृहस्पतिवार (अंग्रेजी २०-१-४९) आज करीब १०–३० बजे आश्रम जाकर देखा कि माँ हाल में बैठी हैं। बहुत से सज्जन और भद्रमहिलाएं माँ को घेर कर बैठे हैं। माँ किसी एक विषय पर बातें कर रही थीं। मेरे पहुँचते ही आलोचना बन्द हो गयी। थोड़े समय नीरवता में बीत जाने के बाद एक सज्जन ने पूछा—"माताजी, ब्रह्म को सत् चिदानन्द कहते हैं। इस चित् शब्द का क्या अर्थ है?" देवशंकरजी ने उस प्रश्न में ही जोड़ा—"सत् कहने से जो समझा जाता है, चित् से उससे भिन्न कुछ समझा जाता है, आनन्द से फिर और कुछ। एक ही पदार्थ के तीन नाम एक ही समय हो नहीं सकते। सत्, चित् आदि शब्दों को गुण नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म में गुण नहीं रहता, तो फिर एक ही वस्तु के तीन भिन्न-भिन्न नाम कैसे सम्भव हैं?"

माँ—चित् का अर्थ चेतन या ज्ञान है—लेकिन चित् से चित्त भिन्न है। चित्त साफ करने की वस्तु है—जैसे चित्तशुद्धि की जाती है। चित्त शुद्ध होने पर चित् का प्रकाश होता है। (देवशंकर जी से) और तुमने जो कहा—एक वस्तु के तीन नाम कैसे सम्भव हैं—इसके उत्तर में कहा जाता है कि सत् चित् आनन्द अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं। सत् या सत्य में प्रतिष्ठा होंने पर ही चित् प्रस्फुटित होता है और चित् या ज्ञान के प्रकाश के साथ ही आनन्द का प्रकाश होता है। सत् का प्रकाश पूर्ण रूप से न होने पर चित् का प्रकाश नहीं होता—उसका आभास मात्र आ सकता है। जब सत्य का पूर्ण प्रकाश हो गया उसी क्षण चित् का प्रकाश प्रारम्भ हो गया। चेतन जितने पूर्णरूप से प्रकाशित होता रहता है आनन्द भी उसी क्रम से पूर्णतया खुलने लगता है। इसलिये सत् चित आनन्द एक ही वस्तु है—और इसी को तुम लोग ब्रह्म कहते हो। फिर सत् एक होकर भी अनन्त हो सकता है—सत् को खंड-खंड रूप से देखने पर ही वह अनन्त है। उसी प्रकार चित् और आनन्द भी। साधना से सत्य को खंड रूप से पाया जा सकता है। फिर भगवत् कृपा से पूर्ण सत्य को एक ही साथ पाया जा सकता है। कितने प्रकार ही सम्भव है।

एक सज्जन—माताजी, साधना से भगवत् प्राप्ति और कृपा से भगवान् का लाभ—इन दोनों में अन्तर क्या है?

माँ—भगवत् कृपा से ही भगवत् प्राप्ति होती है। लेकिन मनुष्य सोचता है कि इन्होंने साधन भजन से भगवान् को पाया, लेकिन कब कैसे प्राप्ति होगी भगवान् ने ही उसे ठीक करके रखा। जो हो रहा है वह अपने आप ही हो रहा है—साधन भजन के परिणाम से कुछ नहीं हो रहा है। फिर साधन-भजन की सार्थकता यह है कि वह अहंकार का नाश करता है। इसलिए कहा जाता है कि कुछ नहीं किया जा सकता है, सब हो जाता है। यह जो भगवत्-प्राप्ति की बात कही गयी वह व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ लाभ या अलाभ आदि कुछ नहीं है। जब केवल एक ही संत्ता है तो कौन किसको प्राप्त करेगा ?

एक महिला—माताजी, भगवान् तो हमलोगों को दूर से आकर्षित कर रहे हैं।

माँ—हाँ, अगर दूर बोलो तो दूर—फिर भगवान् सबसे निकट से भी निकट हैं। वे ही हमारी अन्तरात्मा हैं। जब तक दो हैं तबतक दूर है, नहीं तो दूर कहाँ ? आत्मा जब एक है तब निकट दूर का कोई प्रश्न नहीं है।

सान्त साधना से अनन्त भगवान् की प्राप्ति कैसे सम्भव है ?

उसी समय इस देश के रहनेवाले कई सज्जन वहाँ आये। उन सबको देखकर माँने कहा—"तुम लोग कहाँ से आये हो ?" उन सज्जनों में से एक ने कहा—"माताजी, हमलोग काशी में ही रहते हैं। मणिकर्णिका के पास हमलोगों के घर हैं। हमारे ये साथी मैजिस्ट्रेट हैं।" माँ ने उन सबको बैठने को कहा। उन सज्जनों के बैठ जाने पर उनमें से एक ने माँ से पूछा—"माताजी, भगवान् तो अनन्त हैं, उनको पाने के लिये जिससे साधना की जाती है वह सान्त है। अब प्रश्न है सान्त साधन से अनन्त को कैसे पाया जा सकता है ?"

माँ—नहीं, साधन भी अनन्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इतनी साधना से भगवान् मिल सकता है। साधना की किसी भी दशा में भगवान् का प्रकाश हो सकता है। फिर साधना करने की बात अगर है तो इसका अन्त नहीं है। वह अनन्त है। जब सत्ता एक है तो किसी भी समय उनका प्रकाश हो सकता है।

सज्जन—सत्ता अगर दो कहूँ तो दोष कहाँ ?

माँ—दोष की बात नहीं कर रही हूँ। दो भी बोल सकते हो। प्रभु-दास, पूर्ण अंश रूप में एक होकर भी तो दो हैं। बीज और वृक्ष तुम्हारी दृष्टि में अलग मालूम हो सकते हैं लेकिन वस्तुतः वे अलग नहीं हैं। बीज में ही वृक्ष है फिर वृक्ष में ही बीज है। एक के भीतर ही अनन्त सृष्टियाँ हैं—अनन्त गतियाँ हैं। गति क्या है ? वृक्ष के छोटे-बड़े आदि सब आकार उस बीज में हैं।

सज्जन—केवल बीज से वृक्ष पैदा नहीं होता है। मिट्टी की भी ज़रूरत होती है। अतः यह कहना कठिन है कि वृक्ष बीज से आया है या मिट्टी से।

माँ—ठीक तो है—अगर चाहते हो तो कहो केवल मिट्टी से ही वृक्ष बनता है। कारण यह है कि वृक्ष बनने के पहले बीज को मिट्टी में मिल जाना पड़ता है। वृक्ष बनने के लिये बीज और मिट्टी इन दो की आवश्यकता क्यों है जानते हो? सृष्टि करने के लिये दो की आवश्यकता है। एक से सृष्टि हो नहीं सकती।

अन्य एक सज्जन—धर्म पथ में चलने में इतनी बाधाएँ क्यों हैं?

माँ—ये सब जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से होते हैं। तुमने जगत् की नाना वस्तुओं में अपनी वासना कामनाओं को फैला रखा है। जब तुम उन सबको छोड़कर धर्म के पथ पर चलने लगते हो तब वे सब आकर—'हम सबको मत छोड़ो' इस प्रकार की प्रार्थना करते हैं। इन सब से ही बाधाएँ आती हैं।

सज्जन—लड़का जब विद्या अर्जन करना चाहता है उस समय पिता-माता जैसे उसमें बाधा नहीं डालते, उसी प्रकार भगवान् क्यों बाधाओं को दूर नहीं कर देते?

माँ—जो कुछ बाधाएँ आती हैं वे सब मंगल के लिये ही आती हैं। साधना में तीव्रता की वृद्धि के लिये, धीरज की शिक्षा देने के लिये भी इन बाधाओं की आवश्यकता है।

बात समाप्त न होते ही श्रीयुत कृष्णप्रेमजी अपनी शिष्या कृष्णार्पिता को साथ लेकर आये। आज उनके आने की बात थी इसलिये आलोचना आगे बढ़ नहीं सकी। इसके बाद श्रीयुत कुमार बाबू ने भागवत का पाठ प्रारम्भ कर दिया—उसी में १२ बज गया। भोजन का समय उत्तीर्ण होते देखकर माँ ने खुकुनी दीदी को श्रीयुत कृष्णप्रेमजी आदि के भोजन के प्रबन्ध के लिये कहा। दीदी भी इतने समय रसोई समाप्त कर उनके लिये ठहर रही थीं। सबको साथ लेकर वे चली गयीं। हम लोग प्रणाम करते हुए घर लौट आये।

सन्ध्या के समय गोपी बाबू श्री श्री माँ से भेंट करने के लिये आये। माँ कब यहाँ से चली जायेंगी पूछे जाने पर माँ ने गोपीनाथ जी से कहा—'अगले शनिवार को यहाँ से विन्ध्याचल जाने की बात है। बाबाजी, चलो, एक बार विन्ध्याचल घूम लिया जाय।' गोपी बाबू ने भी कुछ न कहकर विन्ध्याचल जाने की सम्मति दी। माँ ने गोपी बाबू को दूसरे दिन आश्रम में प्रसाद पाने के लिये कहा और भी कहा—'कल जब बाबाजी यहाँ आयेंगे उस समय ठीक किया जायगा हम लोग किस गाड़ी से विन्ध्याचल चलेंगे।'

इसके बाद श्रीयुत कृष्णप्रेम आदि आकर हाल में बैठे। माँ के अनुरोध से उन्होंने एक कीर्तन सुनाया। सुनकर गोपी बाबू बहुत प्रसन्न हुए। लगभग सन्ध्या के समय

उन्होंने बिदा ली। सन्ध्या के बाद माँ गंगा के किनारे चबूतरे पर घूम रही थीं। हम लोग वहाँ खड़े थे। माँ ने मुझको देखकर कहा—'विन्ध्याचल जाओगे न ?' मैंने कहा—'नहीं जानता।' माँ ने कहा—'चलो, विन्ध्याचल देख आओगे।' माँ ने मेरे मित्र मनमोहन को जाने के लिये कहा। मैंने सोचा कि अकेला ही जाऊँगा। लेकिन बाद में समझ में आया कि मैं अपनी पत्नी, कन्या आदि को लेकर विन्ध्याचल जाऊँ—माँ का यही आदेश है। तदनुसार मैं तैय्यार होने लगा।

विन्ध्याचल की यात्रा

माघ, ९ शनिवार (अंग्रेजी २२।१।४९) करीब १ बजे हम लोंग एक बस से विन्ध्याचल की ओर चल पड़े। मैं सबको साथ लेकर चला, घर में ताली लगा दी। हमारे मकान के मालिक उसी में नीचे के तल्ले में रहते हैं। इसलिये सावधानी की उतनी आवश्यकता थी नहीं। बस गोपीनाथ कविराज जी के घर के पास रोक ली गयी। गोपी बाबू और सदानन्द दादा वहाँ से बस में सवार हुए। अब स्टेशन के पास होकर बस राजघाट की ओर चली। 'अपने घर का क्या प्रबन्ध करके आया'—माँ ने पूछा। मैंने घर पर किसी आदमी के रखने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था, माँ को यह बात पसन्द न आयी। बस के राजघाट पर पहुँचने पर खुकुनी दीदी ने कुसुम (ब्रह्मचारी) दादा को हमारे घर की चाभी देकर कहा—'इस चाभी को योगेश (ब्रह्मचारी) दादा को देकर कहना अमूल्य दादा के घर पर रात में रहने के लिये किसी आदमी की व्यवस्था करनी है।' माँ ने कहा—'जितनी सावधानी चाहिए वह हुआ। अब जो हो जाता है।' माँ की इस बात को सुनकर भय हुआ। माँ के व्यवहार से मालूम हुआ कि उनका अभिप्राय है कि मैं मकान के मालिक को ज्यादा विश्वास न करूँ।

गंगा पार होकर बस विन्ध्याचल की ओर चलने लगी। करीब ३-३० बजे हमलोग चुनार पहुँचे। यहाँ बस रुकी । हम लोग बस से उतरे। किसी समय ज्योतिष बाबू (भाई जी) हवा बदलने के लिये चुनार में थे। माँ तथा भोलानाथ उस मकान में आये थे। जिस मकान में ज्योतिष बाबू थे हम लोग वहाँ गये। मकान गंगा के सन्निकट है। स्थान बड़ा ही सुन्दर है। यहाँ एक अलौकिक घटना हुई थी जिसका उल्लेख ज्योतिष बाबू ने 'मातृदर्शन' पुस्तक में किया। जिस दिन माँ चुनार छोड़कर दूसरे स्थान को जा रही थीं उस दिन ज्योतिष बाबू माँ को गाड़ी में बैठाने स्टेशन पर आये थे। स्टेशन से ज्योतिष बाबू जब लौट रहे थे तब माँ ने उनसे कह दिया कि चुनार के किले के बगल में जपा पुष्प की माला उसे पड़ी मिलेगी—उसे उठा ले जाना। लौटते समय किला के पास आकर

ज्योतिष वाबू ने देखा कि रास्ते से थोड़े दूर पर एक सुन्दर जपा की माला पड़ी है। उस निराले स्थान पर पहाड़ की दीवार पर माला कौन छोड़ गया यह सोचकर ज्योतिष बाबू को वहुत आश्चर्य हुआ। वाद में ज्ञात हुआ जिस दिन माला मिली उसी दिन भूल से ढाका के आश्रम में काली जी के गले में माला नहीं पहनायी गयी थी। डा० पन्नालाल के कहने से जहाँ माला पायी गयी थी मैंने उस स्थान को दिखला दिया। डा० पन्नालाल के अनुरोध से वहाँ कुछ समय तक कीर्तन हुआ। प्रसाद भी बाँटा गया। बाद में हम लोग बस पर चढ़े और विन्ध्याचल की ओर चल पड़े। संध्या समय विन्ध्याचल पहुँचे, पहाड़ के निचले भाग में हम लोग उतर आये, सामान लेकर बस ऊपर उठ गयी। बस में हम लोग २५-२६ आदमी थे। हम लोगों के रहने का प्रवन्ध माँ ने ही कर दिया। मैं, मनमोहन, मि० पेतित, गोपी वाबू, सदानन्द दादा आदि महेश भट्टाचार्य जी के भजनालय में रहे। डा० पन्नालाल, श्री विनयसेन और श्री अमलसेन पितृ मन्दिर में ठहरे। महिलाओं ने आश्रम के नीचे तल्ले में स्थान लिया।

श्री रामनाम की खरीद !

घट ही व्यापार रामनाम को खरीद करौं,
धरौं हैं सम्हारि कहीं अन्तहि न जात हौं।
छमा के तराजू संतोष सेर पूरो करि,
दया के दूकान पर बैठि अठिलात हौं॥
कहैं 'रघुनाथदास' संतन मुख बेचत हौं,
हाजिर हौं हजूर ताते फेरत सकुचात हौं।
भयो सुख भारी लाभ दूनो भरि पायों मोंहि,
यही बनि आई बनिआई करि खात हौं॥

शाहबाग-लीला (१)

"प्रत्यक्षदर्शी"

ढाका शहर में, शाहबाग नामक एक प्रसिद्ध और विशाल वाटिका है, जो कि अत्यन्त मनोरम और सौन्दर्य से परिपूर्ण है । आज से तीन सौ वर्ष पूर्व यह नवाब गनीमियाँ के अधीन था । ढाका के उत्तर दिशा में 'एक विराट सिंहद्वार दृष्टिगोचर होता है, जिसको पार करने से ही इस शाहबाग के सुविस्तृत सुन्दर मैदान की प्राकृतिक शोभा नजर में आती है । इसी के पश्चिम खण्ड को 'रमना मैदान" के नाम से पुकारा जाता है, जो कि बहुत ही रमणीय अंचल है और जिसमें एक भद्रकाली मन्दिर अवस्थित है । इस मन्दिर के सम्मुख एक स्वच्छ, मनोहर पुष्करणी है । मैदान के मध्यस्थल में इस जीर्ण मन्दिर के निकट ही एक आश्रम वाटिका फलादि वृक्षों से परिपूर्ण और प्राचीरावृत एक कुञ्जवन में शोभा पा रहा था । "ढाका का इतिहास" नामक पुस्तक में इस आश्रम वाटिका को आचार्य शंकर द्वारा प्रतिष्ठित योगी संन्यासियों का साधन-स्थान कहकर परिचय दिया गया है । मैदान के उत्तरांश में वट-वृक्षादि से सुसज्जित एक पर्वत अपनी शोभा दिखा रहा था । पूर्वांश में देवदार वृक्ष श्रेणीबद्ध होकर खड़े हैं, जिसके समीप ही एक सुन्दर सरोवर है । इसीके एक तट पर आमों का घना कुञ्ज है । रमणा मैदान के पश्चिमांश में, "मैमनसिंह रोड" के नाम से एक दीर्घ राजपथ है । आज के इस वसन्त ऋतु के दिन, प्रकृति देवी ने इस राजपथ को लाल हरसिंगार तथा अन्य नाना प्रकार के पुष्पों से इस प्रकार सुसज्जित कर दिया है, मानो किसी के अभिनन्दन का आयोजन किया जा रहा है ।

शाहबाग में वसन्त ऋतु का पदार्पण स्वभावतः ही एक विशेष समारोह की रचना करता है । परन्तु माँ जैसी सौन्दर्यमयी देवी की उपस्थिति के कारण, ऋतुराज वसन्त अपने अक्षय सौन्दर्य भंडार को लेकर ही शाहबाग में उपस्थित हुआ, उस देवी की आरती के लिए ।

इसी वसन्त ऋतु के एक दिन, यात्रियों का एक दल धीरे-धीरे शाहबाग की ओर अग्रसर हो रहा था । यह चैत्र महीने का बाईसवाँ दिन था, तारीख थी ६ अप्रैल १९२६ । यात्रियों में से कोई एक कह रहा था—"शाहबाग में एक माँ आई हैं, चलिए दर्शन कर आएँ ।" धूप की प्रखरता असहनीय प्रतीत हो रही थी परन्तु यात्रियों का पवित्र मनोभाव, उनकी उत्सुकता, माँ को दर्शन करने की तीव्र इच्छा, इस प्रचण्ड सूर्य की तीव्रता को भी छाँव की शीतलता प्रदान कर रही थी ।

शाहबाग के निकट पहुँच कर ही सर्वप्रथम, यात्रीदल ने बाईं तरफ गुरुनानक गुरुद्वारा के उद्देश्य में हाथ जोड़कर नमस्कार किया, मानो इष्ट दर्शन के प्रारम्भ में, गुरु को प्रणाम कर लिया हो। शाहबाग के शुरू में ही एक सुरम्य वटवृक्ष है जिसके नीचे सब यात्री एकत्रित हुए, एवं निकटस्थ नल के जल से हाथ-पैर धो लिये। इसके पश्चात् द्वारपाल की अनुमति लेकर सब लोग द्रुतगति से लाल सड़क के ऊपर से चलने लगे, और कुछ क्षण पश्चात्, संगमरमर के विराट हॉल के उत्तर तरफ की लम्बी सीढ़ियों के पास आकर रुक गये। तब सब यात्रियों ने नतमस्तक होकर उस देवी को प्रणाम किया, जिनको वे देखने आए थे। सब मन्त्रमुग्ध होकर एक देदींप्यमान, द्विभुजा, मध्याह्न गायत्री रूपा एक देवींमूर्ति की ओर देख रहे थे, जो अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित एक प्रतिमा के समान प्रतीत हो रही थी। एक लाल साड़ी अपने शरीर में ओढ़े, सीढ़ियों पर भावावेश में लेटी हुई थी। ललाट पर बड़ा सिंदूर का तिलक, शुभ्र, स्वर्ण वर्णा, केश-कलाप, घन मेघ के समान शोभा विस्तार करते हुए, अपनी भुजाओं पर निज मस्तक रखकर घोर निद्रा में विराज रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि नीलाकाश में बादलों के आड़ से निकलकर सूर्य देवता सुन्दर, उज्ज्वल किरणों का जाल विस्तार कर, देवी का श्रीमुखमण्डल ज्योतिर्मयी कर रहा था। दर्शनार्थी स्त्रियाँ अर्द्ध-चन्द्र के आकार में माँ को घेर कर घास पर बैठ गईं। प्रवीण दल प्रणाम करके निकट ही किसी घर में विश्राम करने चले गए, एवं नवागत युवकवृन्द माँ को प्रणाम कर, इधर-उधर घूमने लगे। परस्पर के वार्तालाप से पता चला कि माँ प्रातःकाल से ही इस अवस्था में पड़ी हुई हैं, एवं दोपहर के दो बजे, सिर्फ पाँच मिनट के लिए सबके सम्मुख खड़ी होकर दर्शन देंगी। उस समय माँ का चरण स्पर्श करने का अवसर मिलेगा। परन्तु अन्य समय यदि माँ को न बताए, हठात् कोई उनके चरण स्पर्श करे तो उनके शरीर में विपरीत क्रिया का आविर्भाव होता है।

दो बजने में अभी आधे घण्टे की देर है देखकर युवकगण उद्यान की शोभा देखने में निकल पड़े। भूमि पर बिखरी हुई मखमली घास इस प्रकार प्रतीत हो रही थी, जैसे कोई दुल्हन हरे कपड़ों में लिपटी बैठी हो। वहाँ के विस्तीर्ण फल-फूलों के बगीचे, तथा सूर्य की किरणों से नील-पिंगल प्रतीत होने वालीं शैलमालाएँ मानो एक अनोखे जगत् का निर्माण कर रही थीं। प्रकांड हॉल के पश्चिम तरफ एक कदलीवन अपना साम्राज्य फैलाए खड़ा था। उत्तर की तरफ थी एक बृहत् गोलाकृति पद्मपुष्करणी। इसके अतिरिक्त आश्रम को घेर कर छोटे-मोटे कई मकान थे। बाग के प्रवेश द्वार पर एक बृहत् कृत्रिम फव्वारा चारों तरफ मोती रूपी जलकण बिखेर रहा था। निकट ही पुष्पों की बहार लगी हुई थी। कई प्रकार के फूल जैसे मोतिया, जवा, स्थल पद्म, गुलाब एवं बहु किस्मों के पीले फूल अपनी

शोभा से मन को हर्षित और प्रफ्फुलित कर रहे थे। इसके दक्षिण तरफ था फलों का विराट बगीचा।

यह सब देखते-देखते २० मिनट बीत गए और युवकगण लौट आए देखा माँ अभी भी समाधिस्था हैं। माँ के जागने का समय होने वाला है, सभी उद्ग्रीव होकर माँ के उत्थान के लिए जप करने लगे। उसी समय अकस्मात् माँ उठकर खड़ी हुईं। आश्चर्य की बात यह है कि माँ के पास तो घड़ी नहीं थी, न ही किसी ने उन्हें बुलाया था। फिर भी माँ को किस प्रकार से पता चला कि पूरे दो बज गए हैं? अन्तर्यामी देवी की महिमा ने सबको चकित कर दिया। सब लोग जरा हट कर खड़े हो गए। माँ अब स्वयं क्या करेंगी, क्या बोलगी—इसी तरफ सबका ध्यान था।

माँ धीरे धीरे उठकर खड़ी हुईं। सर्वांग से एक अनुपम एवं अलौकिक ज्योति उनकी देह को आलोकित कर रही थी। दर्शनार्थीगण मानो स्थानकाल भूल कर निर्निमेष नयन से माँ के भाव रस को पान कर रहे थे। माँ का शरीर अस्वाभाविक ढंग से डोल रहा था। दोनों चरणकमल केवल पैर के अंगूठों पर टिका हुआ था। उनका तपः-शीर्ण तनु स्वर्गीय तेज से परिपूर्ण था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उन्होंने देवलोक से अभी-अभी मर्त्यभूमि पर पदार्पण किया है और मर्त्यवासियों के परिचय से अज्ञात हैं। किसी तरह दो चार कदम चल कर माँ एक खम्भे के पास जाकर रुक गईं। आगन्तुक यात्रिगण अब एक एक करके माँ के चरण स्पर्श करके प्रणाम करते गए। पाँच मिनट बीत गए। माँ स्थिर दृष्टि से एकटक एक ओर देखती रहीं। कुछ पुरुषों ने मिलकर पन्द्रह मिनट तक करताल और मृदंग के साथ "हरिबोल" कीर्तन में योगदान किया।

महिलाओं में से दो जने माँ को सहारा देकर धीरे धीरे वासगृह की तरफ ले गए, और उत्तर की ओर तीकोन कोठरी में ले जाकर माँ को बिठाया। फिर माँ को भोजन और फलादि खिलाने की प्रचेष्टा होने लगी। माँ अपने हाथों से द्रव्य उठाकर अपने मुख में नहीं दे सकतीं। यह माँ का स्वाभाविक भाव है। साधारण लोगों के बहुत सारे चालचलन, रहनसहन माँ सीख न सकी थीं। श्रद्धेय श्री रमणीमोहन चक्रवर्ती, जिनको माँ ने स्वामी रूप में पाया था वे इसी शाहबाग में, नवाब के कर्मचारी के पद पर काम करते थे। परन्तु परिवार-संयोजन उनके द्वारा नहीं हो सका क्योंकि माँ दिवारात्रि भक्ति साधना में डूबी रहती थीं। वे तो विवाहित होकर भी अटूट ब्रह्मचारिणी थीं। लौकिक स्वभाव, आहार विहार, माँ के अन्दर प्रस्फुटित न हो सका था, माँ के द्वारा यह भी स्पष्टरूप से प्रदर्शन हुआ है कि वह खाना, पीना, वार्त्तालाप, इच्छा अनिच्छा सब कुछ त्यागकर भी स्वच्छन्द रूप से पाँच छः महीने या उससे भी अधिक दिन अतिवाहित कर सकती थीं।

जैसे भी हो, एक महिला श्वासरोध करके माँ को कुछ खिलाने के लिए प्रस्तुत होने लगीं। भोजन का एक ग्रास माँ के मुँह में भर दिया गया। परन्तु दिव्यभावमग्ना माँ को उस सामान्य भोजनांश को निगलने के लिए भी बहुत समय लगा। अंत में उस स्त्री को श्वास छोड़ना पड़ा। उस दिन वही एक ग्रास ही माँ के लिए पर्याप्त भोजन था। माँ का एक और अनोखा भाव उस दिन प्रदर्शित हुआ। इतने नरनारी माँ को भक्ति तथा श्रद्धा से नमस्कार कर रहे थे, फल मिष्टान्न आदि माँ की सेवा में अर्पित कर रहे थे, परन्तु माँ किसी के प्रति भी अनुराग या विराग नहीं दिखा रही थीं। इसके माने यह नहीं कि माँ गम्भीर तथा समाधिस्थ बनी रहीं, माँ का स्वरूप, उनका कमल की भाँति हँसता हुआ मुख, सर्वत्र एक आनन्दमय जगत् का सृजन कर रहा था, और प्रत्येक हृदय में आनन्द की फुलझड़ियाँ बिखेर रहा था, सकल भक्तगण स्वयं ही श्रद्धा और प्रेम से परिपूर्ण होकर नतमस्तक खड़े रहे।

नवीन यात्रियों में से एक व्यक्ति आकुल हृदय से माँ की दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा तथा प्रतीक्षा कर रहा था। सब लोगों के प्रणाम के पश्चात् वह माँ की शुभ दृष्टि आकर्षण करने में समर्थ हुआ, और सोच रहा था कि जब सब आगन्तुक लोग माँ से विदा लेकर चले जाएँगे तब वह अपना निवेदन, अपनी तुच्छ प्रार्थना माँ के चरण-कमलों पर रखेगा। माँ जब अपने विशाल नयनों से उसकी ओर देख रही थीं, तब वह कुछ चमत्कार तो बोध न कर सका, परन्तु एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति के साथ-साथ, माँ के पुण्य दर्शन करने की इच्छा उसके मन में दृढ़ रूप से बन गई थी।

भक्तवृन्द प्रसाद ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। यह देखकर उस व्यक्ति ने उस मधुमय दिव्य वन-विभाग से प्रस्थान किया एवं एकान्त में जाकर सान्ध्यकृत्य आदि की समाप्ति के पश्चात् पुनः वहाँ आकर माँ के दर्शन की अपेक्षा में खड़ा रहा। माँ जब भी सामने से गुजरती थीं तो ऐसा प्रतीत होता था कि एक अमिट तेजपूर्ण रश्मि उसके अन्तस्थल में प्रवेश करके उसके हृदय, मन, आत्मा को अधिकार कर लेता हो। इधर प्रसाद लेने के बाद भी शाहबाग यात्रीगण निज गृह में नहीं लौटे, क्योंकि आज तो उनके प्रिय प्राण देवता के श्रीचरण स्पर्श करने का अधिकार पाकर ही वे अपने को चरम कृतार्थ समझ रहे थे, और धन्य मान रहे थे अपने भाग्य को।

सन्ध्या ने जैसे ही पृथ्वी से विदा लिया, वैसे ही अन्धकारमय रात्रि ने धरणी पर पदार्पण किया। माँ के वासगृह के बीचवाले बड़े कमरे में कीर्तन आरम्भ हुआ। इसके दोनों ओर के त्रिकोण कमरों के दरवाजों के पास बैठकर महिलागण माँ का दर्शन कर रहा था। धीरे-धीरे माँ धरातल पर लुढ़क कर सो पड़ीं। उनके शरीर से बाह्य चेतना परिलक्षित

नहीं हो रही थी। किसको क्या पता माँ का आत्मचैतन्य, अन्तरराज्य के किस सूक्ष्म देश में विहार कर रहा था। 'नाम' कीर्तन खूब तेजी से चल रहा था। सब लोगों का विश्वास था कि नाम कीर्तन द्वारा ही माँ को बाह्यजगत् में शीघ्र आकर्षण किया जा सकता है। माँ को फिर से अपने बीच में पाया जा सकता है। रात्रि प्रायः ग्यारह बजे के पश्चात् माँ अन्यमनस्कता पूर्ण भाव लेकर उठ बैठीं, बहुत देर के पश्चात् धीरे-धीरे माँ ने आँखें खोलीं, भक्तगणों ने कीर्तन बन्द किया एवं माँ की दृष्टि लाभ करके अपने भीतर नवजीवन पाया। क्रमशः एक के बाद एक माँ को प्रणाम करके, और भोलानाथजी के चरण-स्पर्श करके अपने-अपने घर की तरफ रवाना हो गए। नवागत युवक अब सतर्क होकर माँ के द्वार पर आकर खड़ा हुआ। बाबा भोलानाथजी वहाँ पर विराजमान थे। भावमग्ना होने के कारण माँ की जिह्वा अवश थी। ठीक तरह बोल न पा रही थीं। भोलानाथ की तरफ देखकर उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"इसको क्या चाहिए ?" आगन्तुक ने उत्तर दिया—"ईश्वर सेवा में मेरा जीवन नियोजित हो जाए।" माँ मौन रहीं, प्रार्थी ने प्रस्थान किया। (क्रमशः)

—

सन्त-स्नेह !

गुजरात के प्रसिद्ध सन्त श्री प्रीतमदासजी के यहाँ एक बार एक चोर चोरी करने गया। अनाज की एक गठरी बाँधकर वह बाड़े से बाहर निकलने लगा, परन्तु लाख यतन करने पर भी उसे रास्ता नहीं मिला। भूत की तरह भटकता रहा। सुबह लोगों ने उसे देखा और पकड़कर स्वामीजी के पास ले गये।

श्री प्रीतमदासजी मुस्कराकर मीठी वाणी से बोले—'अरे भाई चोर नारायण! आप दिन में क्यों नहीं आये। दिन में लेने आते तो क्या मैं आपका सत्कार न करता ?"

चोर चरणों में गिर पड़ा। माफी माँगी, आँखों से दो बूंद आँसू गिरी। लोगों ने उसे मोती के बिन्दु कहा। हृदय पिघल गया, चोरी चिरकाल के लिए छूट गई। सन्त स्नेह स्पर्श से मन में भगवद्भाव का संचार हो गया। जीवन की सही दिशा मिली—जिधर से प्रेम-सूरज तरुण-लालिमा लिए उदित हो रहा था !

कैलास-मानसरोवर-प्रदक्षिणा

श्री 'दत्त' (पूर्वानुवृत्ति)

इतिहासकारों का कहना है कि तिब्बत के राजा 'मोङ चन् स्म चो' (ई० स० ६२९-४१) ने सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद हिमालय के कुछ भाग पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया था।

करीब दो सौ वर्ष तक उक्त प्रदेश तिब्बत के शासन में रहा। इस दीर्घ समय के असर से भोट प्रदेश के निवासियों की मुखमुद्रा पर छाप मंगोल जैसी हो गई है।[1] बाद के भारत के वीर शासकों ने तिब्बत पर भारी आक्रमण कर अपने पूर्वजों द्वारा खोया हुआ भाग पुनः प्राप्त कर लिया था। उस समय भारत की सीमा में कैलास-मानसरोवर का प्रदेश भी था।

इस गाँव के करीब १५० गज आगे जाने पर दायें हाथ के एक टीले पर ग्राम्यशाला थी जो बन्द थी क्योंकि छुट्टी का दिन था। शाला में चारों ओर जंगली पुष्पों का बगीचा था। स्थान तो सुन्दर था परन्तु सफाई का अभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता था। यहाँ से चलकर बायें हाथ की पगडंडी पर आगे बढ़ने से हरे-भरे लहलहाते खेत आ मिले जो देखने पर चक्षुओं के द्वारा हृदय को भी हरे-हरे रंग से रंगीन करते थे। खेत के किनारे-किनारे आगे बढ़ता हुआ मैं सिरखा ग्राम में आ पहुँचा। सिरदंग से सिरखा करीब आध मील दूर होगा। यहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि गाँव के कई एक भोटिये स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के सामने धान्य तैयार कर रहे थे। इन दिनों अनाज तैयार कर वे उसे तिब्बत की मण्डियों में विक्रय के लिये ले जाते हैं। सिरखा गाँव सोसा गाँव सा बड़ा मालूम पड़ा। गाँव के पत्थर वाले एवं गंदगी भरे मार्ग से होकर जब मैं मिलन-सभा (धर्मशाला) में दाखिल हुआ कि तुरन्त ही वर्षा शुरू हो गई। यदि मैं आने में पाँच मिनट भी विलम्ब कर देता तो पूरा भींग जाता। धर्मशाला में चारों ओर दृष्टि फेंकने पर पता चला कि खाखी बाबा जी, दामू भाई, राजदेवजी और जयन्ती भाई आज की यात्रा से क्लांत होकर इधर-उधर लम्बे होकर पड़े हुए थे। उनको पूछने पर मालूम हुआ कि वे सब यहाँ पर करीब दस मिनट पूर्व ही आ पहुँचे हैं। मैंने घड़ी में देखा तो इस समय २-४० हुआ था।

---

[1] १—भारत के गुड़गाँव जिले के भूगोल बिभाग के डीन डा० इतना का कहना है कि उत्तरी भारत में रहने वाले गुजर लोग १४वीं शताब्दी में रूस के जार्जिया स्थान से आये हैं। अनुमान है कि तैमूर लंग की विजय के सिलसिले में ये लोग यहाँ आये होंगे।

जब मैंने विश्राम कर रहे यात्रियों से पूछा कि आप लोगों में से किसी को मार्ग कें नारायण आश्रम देखने की भी इच्छा नहीं हुई ? यह सुनकर राजदेव जी बोल पड़े, क्या आवें, आज की पंगु की चढ़ाई ने तो मानो पीठ की रीढ़ ही तोड़ डाली है।" मैंने देखा कि अभीतक इन लोगों की क्लान्ति दूर नहीं हुई है अतः इस विषय में ज्यादा छेड़छाड़ करना ठीक नहीं। अतः मैंने चुप्पी साध ली। मेरे प्रश्न के प्रत्युत्तर देते हों इस भाव से खाखी बाबा धीमे स्वर से गुनगुनाने लगे, "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ, मैं मूरख डूबन डरी रही किनारे बैठ।" कुछ समय के उपरान्त स्वयं राजदेव जी पूछने लगे, "नारायण आश्रम का क्या समाचार है ?" तब मैंने प्रत्युत्तर दिया कि यह सब सुनने में कोई लाभ नहीं होगा। व्यर्थ ही हृदय व्यथित एवं मन चिन्तित होगा। जयन्ती भाई बोले, "ऐसा होगा तो देखा जायगा, जो कुछ हो बता दीजिये न।" इतने में दामूभाई ने करवट बदलते हुए व्यंग किया, "स्वामी जी, जो कुछ कहना हो इस ढंग से कहियेगा ताकि न हृदय जले, न मन चिन्तित हो।" इस प्रकार से कहते हुए वे हँसने लगे। उनके इस व्यंगात्मक हास्य को समझने में अन्य यात्रियों को देर न लगी अतः सब अपने-अपने मुख फिराने लगे। सबकी उत्सुकता को शान्त करने के हेतु मैं कहने लगा कि नारायण आश्रम में दो बंगाली साधु टिके हुए हैं। उनमें से एक से मेरी बातचीत हुई। वे दोनों कैलास यात्रा पर गये थे किन्तु मार्ग में बहुत अस्वस्थ हो जाने पर, इच्छा न होने पर भी, उन्हें वापस लौटना पड़ा। अभी भी उनके स्वास्थ्य में जितना चाहिये उतना सुधार नहीं हुआ है। वे कहते थे कि लीपु-ला पर बहुत ही वर्फ जमी हुई है। मैं आगे बात कर ही रहा था कि बीच में ही राजदेव जी झट से बोले, "यह सब तो ठीक किन्तु चीनियों का क्या समाचार है यह पहले बतलाइये न।" मैंने कहा—"इस विषय में तो बंगाली साधु कहते हैं कि चीनीयों ने उन्हें किसी प्रकार परेशान नहीं किया। उन दोनों के पास ऐसा था ही क्या जिससे उन्हें नानाविध कष्ट उठाना पड़े।" यह सुनकर कुछ यात्री प्रसन्न हुए। खाखी बाबाजी करवट बदलते हुए मार्के की बात बोल गये, "उन लोगों का कोई विश्वास नहीं। चूहे खाने वाले लोग गुण में भी चूहे जैसे ही होते हैं जो दिन में या रात्रि में लोगों को फूंक-फूंक कर काटते हैं। हम लोगों को तो भइया सावधान होकर रामआसरे चलना ही कल्याणकारी है।"

इस प्रकार से बातचीत चल रही थी, इतने पर कमर पर हाथ रखते हुए भारी थकावट से काले हो गये चेहरे वाले हमारे यात्रा संघ के शेष दो यात्री—जगुभाई और भगतजी धर्मशाला में आ धमके। कोने में लकड़ियाँ फेंक दीं, उल्टी-सुल्टी बरसाती को द्वार पर लटका दी, पैरों के जूते दूर फेकें और जमीन पर टेढ़े-मेढ़े पैर रखते हुए दोनों वीरों ने एक कोने के समीप आकर अपने को पटक दिया। इनके इन सब अभिनयों से हमलोग तुरन्त ही समझ गये

कि आज की चढ़ाई-उतराई वाली यात्रा इन लोगों के लिए कैसी महसूस हुई है। बाहर में वर्षा चालू थी। हिमाच्छादित पर्वतों पर से बहता हुआ आ रहे वायु ने देखते-देखते ही शीत के परिमाण में अधिक वृद्धि कर दी। यात्रियों ने अपने पास में सुरक्षित ऊनी वस्त्र पहनना शुरू कर दिया। ऊनी के अन्य वस्त्र तो विस्तर में थे जिन्हें लेकर अभी तक मजदूर नहीं आ पहुँचे थे। करीब आधा घंटे बाद वर्षा बन्द हुई। शीत वायु की गति भी कम हो गई। इतने में हमारे समीप में बैठा हुआ एक भोटिया युवक पर्वतों की ओर उंगली निर्देश करता हुआ मुझे कहने लगा, "स्वामी जी, देखिये तो सामने। थोड़ी देर में इतना अधिक बर्फ गिर गया।" उस दिशा में दृष्टि दौड़ाने पर मैंने देखा कि आधे घण्टे पूर्व जिन पर्वतों ने केवल हिम के मुकुट धारण किये थे वे सब इस समय रजत की जरी वाले ओवरकोट (Over Coat) में चमक रहे थे। दृश्य अद्भुत था। अब मैं दूरवीक्षण-यंत्र द्वारा उनके सुस्पष्ट सौन्दर्य के देखने का मोह रोक न सका अतः यंत्र को उसकी ओर रखते हुए मैंने उसमें दृष्टि केन्द्रित की। आह, क्या अनुपम शोभा है इस तुषाराच्छन्न पर्वत-पंक्ति की! मैं उनके सन्निकट ही अवाक् होकर खड़ा हूँ ऐसा ही मैंने अनुभव किया। इससे मुझे ठंड महसूस होने लगी। देह में कंपन होने पर हाथ से पकड़ा हुआ यंत्र भी कंपित होने लगा। उपस्थित अन्यान्य यात्रियों की भी इच्छा यंत्र द्वारा यह अलौकिक दृश्य देखने की होने पर क्रमशः सबको उसका लाभ दिया गया। सब आनन्द में झूम रहे थे। अब तो भोटिये पुरुष और बाल-बच्चे भी अपने को रोक न सके। एक भोटिया बालक हँसता हुआ बोल पड़ा, "इस यंत्र से पहाड़ों की ओर देखने पर तो ऐसा ही लग रहा है कि मैं तो क्षणमात्र में बर्फ के पास में जा पहुँचा हूँ। मन में भय होता है कि इतनी दूर से अब मैं अपने गाँव सिरखा में वापस कब पहुँच सकूंगा।" उसकी बात सुनकर वहाँ उपस्थित सब लोग हँस पड़े।

कुछ समय के बाद मैं और दामु भाई यहाँ के बाजार देखने के लिए चल पड़े। धर्मशाला की पश्चिम दिशा में, समीप में, ग्राम्यशाला का भवन है। भवन के प्रांगण में छात्रों के लिए आधुनिक तरीकों से शारीरिक व्यायाम प्रदान करने के हेतु बालीबॉल खेलने की दो खम्बों पर बँधी हुई जाली (Net) थी। पहाड़ों की इस शाला में भी आधुनिकता का प्रवेश देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

धर्मशाला के नीचे के भाग में दो कमरे हैं जिसमें से एक में तो भोटिया कुटुम्ब रहता है जब कि दूसरा कमरा खाली पड़ा है। धर्मशाला की सीढ़ी उतर कर गली में आने पर सामनेवाले मकान के नीचे दो दुकान हैं। दायें हाथवाली दुकान भैरों सिंह भोटिया की है जहाँ पर अनाज, घी, गुड़, शक्कर, तेल, मिर्च, मसाला, दियासलाई इत्यादि और कपड़ा, साबुन, छतरी इत्यादि बिकते हैं। भैरो सिंह इस गाँव का पोस्टमास्टर होने से उनकी दुकान

में एक स्थान पर छोटा तराजु, मुहर, दिया इत्यादि रक्खा हुआ था। पहाड़ों में बड़ी दुकान के मालिक ही पोस्ट मास्टर का कार्यभार सँभालता है जिससे सरकार के डाक विभाग की ओर से उसे प्रतिमास १० रुपये से लेकर २० रुपया वेतन मिलता है। भैरो सिंह की दुकान की ओर से होकर हम गाँव की ओर चले। मार्ग के दायीं ओर जल की दो बड़ी धारायें देखीं जो एक पक्के कमरे में से होकर बाहर निकाली गई थीं। इनका उपयोग स्नान करने के लिये किया जाता है। बाहर के भाग में भी एक और जलधारा थी जिसका उपयोग गाँव के लोग पीने के लिये करते थे। यहाँ से आगे बढ़ने पर मार्ग में दो-तीन और दुकाने हैं। मार्ग से करीब एक फर्लाङ्ग ऊपर के भाग में पहाड़ पर ग्रामोद्योग शाला है जहाँ पर स्त्री, पुरुष, बालकों को गलीचा बनाना; आसन गुंथना, ऊन कातना, कम्बल, चुटके, शाल आदि बुनना इत्यादि ग्रामोद्योग में प्रशिक्षित किये जाते हैं। यहाँ पर अति सुन्दर आसन; कालीन इत्यादि की बिक्री भी होती है। विभिन्न प्रकार के रंग और बुनाई के ऊनी वस्त्र यहाँ पर सस्ते भाव में मिलते हैं। पहाड़ के ऊपरी भाग में फल-फूलों के उद्यान भी हैं। गाँव के चारों ओर हरे-हरे पहाड़ उन पर ध्वज से उन्नत वृक्ष इत्यादि सचमुच चित्ताकर्षक थे जो गाँव के सौन्दर्य में चार-चाँद लगा देते थे। ये सब मनमोहन तो थे ही किन्तु कैलास मार्ग के अभीतक देखे गये गाँवों की अपेक्षा यह गाँव गन्दगी में सबसे आगे था। शायद स्वच्छता जैसा कोई शब्द यहाँ के लोगों के कानों तक पहुँचा न होगा या यों कहे कि स्वच्छता जैसी कोई वस्तु इन लोगों को दिखाई न पड़ती होगी। गाँव में मक्खियों का भी आतंक है। वे सपरिवार सब जगह दृष्टिगोचर होती हैं, फिर चाहे खाद्य सामग्रीं हो या चाहे अखाद्य। हम दोनों के यह गाँव देखकर धर्मशाला में वापस लौटने तक खाखी बाबाजी ने रसोई पका ली थी। मजदूर लोग धर्मशाला के नीचे के बरामदा में रसोई पका रहे थे और साथ ही साथ एक दूसरे से हँसी-मजाक करते हुए आनन्द उडेल रहे थे। भगवान की सायं आरती, स्तुति इत्यादि नित्यकर्म से निवृत्त होने के उपरान्त ही भगवान को प्रसाद निवेदन कर सभी यात्री प्रसाद पाने के लिए बैठ गये। मेरे लिये भी फलाहारी भोजन तैयार किया गया था अतः मैं भी सबके साथ-साथ मैदान में उतर आया। आज की कठिन यात्रा से सब यात्री अपेक्षाकृत अधिक क्षुधार्त थे। कुछ समय तक तो मौन सेवन करते हुए ही जल्दी-जल्दी जठराग्नि में आहुतियाँ पड़ने के फलस्वरूप जब पचास प्रतिशत क्षुधा निवृत हो गई तब सभी ने अपनी जबान के घोड़ों को छोड़े। आज की हंसी मजाक का लक्ष्य हमारे भगत जी थे। रसोई परोस रहे खाखी बाबा की ओर आंख मिजते हुए, व्यंग भरे शब्दों में राजदेव जी कहने लगे, "आज भगतजी को प्रेम से खिलाओ। बेचारे की यहाँ पहुँचते-पहुँचते तो टंगड़ी ढीली हो गई है। ना...ना करने पर भी खिलाते रहना। वह बड़े लज्जाशील स्वभाव के हैं। शर्म से कुछ नहीं खाने से

इतने दिन के भीतर ही उन बेचारे का पेट मानों पीठ से चिपक गया हो ऐसा लगता है। घर में भी इसी तरह बड़े शर्म से केवल दस-बारह रोटियाँ ही खाकर उठ जाते हैं।" इस प्रकार बोलते हुए वे हँस पड़े। सांथ-साथ करीब सभी यात्री हँस पड़े। अब भगतजी हँसते हुए बिना बोले न रह सके, "एस० एम० (राजदेव जी का यह संक्षिप्त नाम है।) आज तो इतने पहने हैं कि कुछ भी न खाने पर भी पेट फुला हुआ दिखाई पड़ता है।" इस प्रकार कहते हुए वे अपने अंग पर पहने हुए ऊनी वस्त्रों को क्रमशः गिनने लगे। यह देखकर खाखी बाबा ने भी हँसते हुए चुटकी ले ली। "भगत जी, यहाँ पर तो आप सबके सामने शर्माते हैं लेकिन रास्ते में "चपाचप" चढ़ाते रहते हैं। ऐसा कहते हुए खाखी बाबा ने दोनों हाथों से खाने का अभिनय कर दिखाया। यह सुनते ही राजदेवजी ने गम्भीर मुखमुद्रा करते हुए एक और तीर छोड़ा, "वह तो सिर्फ बालभोग है।" यह सुनते ही सभी यात्री हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगे। हँसते हुए सभी के आँखों में पानी आ गया। भगतजी भी सभी के साथ-साथ हँसने का दिखावा कर रहे थे। कुछ समय के बाद उन्होंने राजदेवजी के प्रति हाथ जोड़ते हुए हँसी भरे वदन से कहा—"आज आप क्यों इन सब लोगों के साथ-साथ मेरी खिल्ली उड़ाने में तुले हुए हैं। अब रहने दीजिये। कुछ कल के लिये भी तो रखिये।" मैंने भी भगतजी को पूछ ही लिया, "भगत जी! तब तो आप बालभोग के बाद रात्रि में वृद्ध-भोग भी चढ़ाते रहते होंगे।" इस वृद्धभोग की बात सुनते ही सबके हँसी के फव्वारे फूट पड़े। राजदेवजी ने कहा—"हाँ ठीक है। रात्रि में जब यात्री सो रहे होते हैं तब समीप के बिछौने की ओर से "कड़-कड़" जैसे शब्द सुनाई पड़ते हैं मानों कि कोई कम्बल में मुख छिपाकर काजू-बादाम और शक्कर चबा रहे हों।" यह सुनते ही भगत जी हँसते हुए कहने लगे,—"अब कृपया रहने दीजिये, बहुत हो गई। आज तो आपने हँसी मजाक की हण्डी मेरे ही सिर पर पटक दी है।" खासी बाबा जी भगतजी की थाली में साग परोसते हुए कहने लगे, तो क्या हो गया। होने दो न। अच्छी ही हंडी फूट रही है। बिना हाजमे की दवाई से ही खाना हजम हो जायेगा।"

खाखी बाबा के समयोचित उपदेश में सत्य भरा पड़ा था। आजकल के बड़े-बड़े चिकित्सक और मनोवैज्ञानिकों का भी मत है कि मुक्त हास्य करने से मानसिक एवं उदर-जनित रोगों की आसानी से निवृत्ति होती है। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है—'ऐसे हँसो कि तुम्हारे कमरे की दीवारें कंपित होने लगें।"

हम लोग एक दूसरे से आनन्द उडेलते हुए भोजन समाप्त कर बिछौनों में पड़ गये।

क्रमशः—

शिवरात्रि व्रत में विशेष शिवपूजा

श्री स्वामी नारायणानन्द तीर्थ कर्त्तृक

(संकलित एवं व्याख्यात)

सनातनधर्म माननेवाले आस्तिक सभी हिन्दुओं को वर्ष में कम-से-कम आठ प्रकार के व्रत तथा उपवास अवश्य करना चाहिए। अन्यान्य जिन व्रतोपवास आदि का विधान हमारे धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट है उन सब का पालन करना सर्वथा कर्तव्य है—इसमें किसी प्रकार संशय करना अनुचित है। अगर अस्वस्थता के कारण सबका पालन सम्भव न भी हो तो कम-से-कम नीचे लिखे हुए आठ तो अवश्य ही करना चाहिए। प्राचीन विद्वानों का यही अनुशासन है।

(१) श्री श्री शिवरात्रिव्रतोपवास—फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी।
(२) श्री श्री रामनवमी व्रतोपवास—चैत्र शुक्ल नवमी।
(३) श्री श्रीकृष्ण जन्माष्टमी व्रतोपवास—भाद्र कृष्णाष्टमी।
(४) श्री श्री दुर्गाष्टमी व्रतोपवास—आश्विन शुक्लाष्टमी। कोई-कोई चैत्र शुक्लाष्टमी भी पालन करते हैं।
(५) शयन एकादशी—आषाढ़ शुक्ला एकादशी।
(६) पार्श्व परिवर्तन एकादशी—भाद्र शुक्ला एकादशी।
(७) उत्थान एकादशी—कार्तिक शुक्ला एकादशी।
(८) भैमी एकादशी—माघ शुक्ला एकादशी।

श्री रामनवमी और श्रीकृष्ण जन्माष्टमी जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र के और लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के शुभ जन्मदिवस हैं, श्री शिवरात्रि की तिथि उस प्रकार भगवान् देवादिदेव महादेव का जन्मदिवस नहीं है। श्रीरामजी तथा श्रीकृष्णजी विशेष किसी कार्य के लिये इस मर्त्यभूमि में अवतीर्ण हुए थे। अपने-अपने कर्म सम्पन्न होने पर उन्होंने फिर अपने नित्यधाम वैकुण्ठ या गोलोक में प्रस्थान किये। उसी प्रकार श्री शङ्कर अपने कार्य समाप्त कर किसी विशेष स्थान में चले गये ऐसी बात नहीं। वे जगत् के आदि हैं और सब कारणों के कारण हैं। फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी तामसी रात्रि है इसलिये तमोगुण के अधिपति-देव भगवान् श्री श्री शिवजी की यह अति प्रिय रात्रि है। इस शुभ तिथि में अगर कोई निरम्बु उपवासी रहकर रात्रि में जाग्रत रहकर भगवान् परम कारुणिक श्री श्री आशुतोष का पूजन चार प्रहरों में विल्वपत्रों से करता है तो भगवान् प्रसन्न होकर अपने परम भक्त को

शिवसायुज्य प्रदान करते हैं। श्री शङ्कर देवी श्री पार्वती से कहते हैं—एकतः सर्वपुष्पाणि विल्वपत्रं तथैकतः। मणिमुक्ताप्रवालैश्च स्वर्णपुष्पादिभिस्तथा। न तथा जायते प्रीतिर्विल्वपत्रैर्यथा मम॥ एक ओर सब प्रकार के फूल और दूसरी ओर विल्वपत्र अर्थात् मेरे पूजन में सब प्रकार के फूलों की अपेक्षा विल्वपत्र ही उत्तम है। विल्वपत्र से मेरा जितना सन्तोष होता है, मणि मोती और प्रवाल या सोने के फूलों से भी उतना नहीं होता।

प्राचीन काल में एक बार कैलास पर्वत के शिखर देश में महादेव देवी पार्वती के साथ सुख से रह रहे थे। एक दिन देवी पार्वती ने महादेव से पूछा—हे भगवान्, आप धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग के कारण हैं। आप सन्तुष्ट होकर जीवों को चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। अतः कौन से कार्य, व्रत, या तपस्या से आपका सन्तोष होता है? भगवान् शंकर ने देवी के प्रश्न सुनकर कहा—

फाल्गुने कृष्णपक्षस्य या तिथिः स्याच्चतुर्दशी।
तस्या या तामसी रात्रिः सोच्यते शिवरात्रिका॥
तत्रोपवासं कुर्वाणः प्रसादयति मां ध्रुवम्।
न स्नानेन न वस्त्रेण न धूपेन न चार्चया॥
तुष्यामि न तथा पुष्पैर्यथा तत्रोपासतः।

फाल्गुन के महीने में जो कृष्ण चतुर्दशी तिथि है. उस समय जो अन्धकारमय रात्रि आती है उसे शिवरात्रि कहते हैं। जो उस दिन उपवास करता है वह निश्चय ही मुझे सन्तुष्ट करता है। उस दिन उपवास करने पर मेरा जितना सन्तोष होता है वैसा सन्तोष न स्नान से, न वस्त्र से, न धूप से, न पूजन से और न पुष्पों से होता है। इस तिथि में उपवास का ही महत्त्व अधिक है। शिव रहस्य में वर्णित हुआ है—

भूतेश्वरादिह परोऽस्ति न पूजनीयो
नैवाश्वमेधसदृशः क्रतुरस्ति लोके।
गङ्गासमं त्रिभुवने न च तीर्थमस्ति
नान्यद् व्रतञ्च शिवरात्रिसमं तथास्ति॥

इस संसार में महादेव से बढ़कर श्रेष्ठ देवता नहीं है। जगत् में अश्वमेध के समान यज्ञ नहीं है। त्रिभुवन में गंगा के समान और कोई तीर्थ नहीं है उसी प्रकार शिवरात्रि के समान अन्य कोई व्रत भी नहीं है। अतः शाक्त, वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सभी आस्तिक हिन्दुओं को यह व्रत अवश्य करणीय है।

उपवास के पहले दिन त्रयोदशी में स्नान कर ब्रह्मचारी और एकाग्रचित्त होकर निरामिष या हविष्य भोजन एक बार करना चाहिए। इससे अन्यथा न करना चाहिए। रात्रि में

शिवजी का नाम स्मरण करते हुए पवित्र स्थान में कुश की शय्या में, सम्भव न होने पर कम्बल के बिस्तरे में शयन करना चाहिए। रात्रि के शेष भाग में उठकर अवश्य करने वाले काम अर्थात् मलमूत्रादि त्याग, मुख धोना तथा प्रातः स्नान करना चाहिए। उसके अनन्तर प्रातःसन्ध्या, देवपूजन, मध्याह्न-सन्ध्या सम्पन्न कर और साम को सायं-सन्ध्या करने के बाद पवित्र तथा साफ जगह शिवलिंग पर विल्वपत्रों से पंच, दस या षोडश उपचारों से चारों प्रहरों में शिवजी का पूजन करना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार नृत्य गीतों से रात्रि जागरण करना चाहिए। दूसरे दिन शिवरात्रि व्रतकथा ब्राह्मण के मुख से सुनकर शिवभक्त और सदाचारी ब्राह्मणों को भोजन कराकर और भोजन की दक्षिणा आदि देकर उन्हें प्रसन्न कर स्वयं पारना करना चाहिए। पारना का मंत्रः—

ॐ संसार-क्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शंकर।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥

हे शंकर, मैं संसार की यातना से जल रहा हूँ। इस (शिवरात्रि के) व्रत के फलस्वरूप तुम मेरे प्रति प्रसन्नवदन होकर मुझ पर सन्तुष्ट हो। हे नाथ, तुम मुझे ज्ञानदृष्टि प्रदान करो।

उपवास के दिन तेल लगाना, विलास सामग्री का भोग, दिन में निद्रा और तास या सतरंज खेलना निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। पारना के दिन दो बार भोजन, दूसरे का भोजन, दूर जाना, कष्ट देनेवाले काम और दिवानिद्रा निषिद्ध हैं। ब्रह्मचर्य पालन करना भी कर्तव्य है। गुरु, मातुल, पिता और पुत्र का अन्न परान्न नहीं हैं। दिन में सो जाने से या बार-बार पानी पीने से 'ॐ नमो नारायण' यह मन्त्र १०८ बार जप करना चाहिए।

द्रष्टव्य :—सधवा स्त्री को निरम्बु उपवासव्रत न करना चाहिए, करने से पति की आयु क्षीण हो जाती है। अगर तीव्र आकांक्षा हो तो पति की अनुमति लेकर कर सकती है।

नर्मदेश्वर शिवपूजा पद्धति

सभी देवताओं का पूजन दिन में पूर्व या उत्तर दिशा होकर और रात्रि में उत्तराभिमुख होकर करना चाहिए। केवल शिवपूजा उत्तराभिमुख होकर करनी चाहिए। शोधित भस्म या चन्दन से उसके भी अभाव में जल से अपने ललाट में त्रिपुण्ड्र (अर्धचन्द्र के आकार की तीन रेखाएँ) बनाकर, गले में रुद्राक्ष धारण कर पूजा में बैठना चाहिए। उसके बाद शिखाबन्धन कर आचमन और विष्णु नाम स्मरण करना चाहिए। आसन के बारे में शास्त्र में उल्लेख है—'चैलाजिनकुशोत्तरम्' यही उत्तम है। शुद्ध भूमि के ऊपर पहले कुशासन, उसके ऊपर कृष्णसार मृग का चर्म, उसके ऊपर रेशमी कपड़ा, उसके अभाव में कुशासन या कम्बल का आसन या गलीचा का आसन भी व्यवहृत किया जा सकता है। काष्ठासन में (पीढ़ा), केवल वस्त्रासन

में या भूमि पर बैठे पूजन करना निषिद्ध है। देवकार्य में दाहिने पैर के ऊपर बायाँ पैर रखकर बैठना चाहिए। पितृकार्य में इसके विपरीत अर्थात् बाँये पैर के ऊपर दाहिना पैर रखकर बैठना चाहिए। एक आसन में बैठकर पूजन करना सम्भव हो तो उत्तम है।

विशेष द्रष्टव्य—जिन लोगों का प्रणव में अधिकार नहीं है वे लोग ॐ कार की जगह नमः का प्रयोग करें।

आचमन

ॐ विष्णुः ॐ विष्णु ॐ विष्णुः। ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। दो बार आचमन करें।

आचमन का अर्थ

आकाश में सूर्य मंडल के सदृश प्रकाशमान, वेदादि शास्त्रों में प्रसिद्ध परमेश्वर का उत्तम तत्त्व ज्ञानी गण सर्वदा दर्शन करते हैं।

बायें हाथ में आचमनी लेकर उससे अर्घा से जल उतनी मात्रा लेनी चाहिए जिससे ब्राह्मणों के हृदय तक, क्षत्रियों के कण्ठ तक, वैश्यों के तालू तक पहुँच सके। उतनी मात्रा का जल गौ के कानों की आकृति समान दाहिने हाथ के ब्राह्मतीर्थ में तीन वार लेकर पीना चाहिए। उसके बाद हाथ धोकर अंगुष्ठमूल से ओठों को दो बार मार्जन करना चाहिए, फिर तर्जनी, मध्यमा और अनामिका मिलाकर उनसे एकबार ओठों को स्पर्श कर दाहिना हाथ धो लेना चाहिए। फिर तर्जनी, मध्यमा, अनामिका मिलाकर उनके अग्रभाग से मुख को स्पर्श कर, क्रम से अंगुष्ठ और तर्जनी के अग्र से दक्षिण और वाम नासारन्ध्र, अंगुष्ठ और अनामिका के अग्र से दक्षिण तथा वाम नेत्र, उन्हीं से दक्षिण तथा वाम कर्ण, और अंगुष्ठ तथा कनिष्ठा के अग्र से नाभि छूकर (हाथ धोकर), करतल से हृदय, दाहिनी सब अंगुलियों से मस्तक, फिर उन्हीं अंगुलियों से दक्षिण तथा वाम वाहुओं के मूलों के स्पर्श कर हाथ धो लेना चाहिए। जलपान से लेकर हाथों का प्रक्षालन तक होने पर एक वार आचमन होता है। अनुपनीत ब्राह्मण बालक, स्त्री तथा शूद्र दाहिने हाथ की सब अंगुलियों के द्वारा जल लेकर ओठों में एक बार या तीन बार छींटना चाहिए और पहले जैसे ओठों का मार्जन आदि करेंगे।

अंजली बद्ध कर

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
ॐ पुण्डरीकाक्षः॥

अर्थ :—बाह्य (अर्थात् शरीर) और आभ्यन्तर (अर्थात् मन) इन दोनों के एक में

अपवित्र और दूसरे में पवित्र होकर, अथवा उभय दशाओं में अपवित्र होने पर जो पुण्डरीकाक्ष को स्मरण करता है वह बाह्य व आभ्यन्तर के साथ पवित्र होता है।

शिखा बन्धन

द्विजाति वर्ण के लोग वैदिक गायत्री उच्चारण कर शिखा बन्धन करेंगे। जिनका वैदिक गायत्री में अधिकार नहीं वे लोग नीचे लिखे मन्त्र से शिखा बन्धन करेंगे।

नमः ब्रह्मवाणी-सहस्राणि शिववाणी शतानि च।
विष्णोर्नाम-सहस्रेण शिखाबन्धं करोम्यहम्॥

अर्थ :—बहु सहस्र वेदवाक्य और बहुशत शिवजी के वाक्य स्वरूप विष्णु के जो सहस्र नाम हैं उनको स्मरण करते हुए मैं शिखा का बन्धन कर रहा हूँ।

सूर्यार्घदान

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये, सवित्रे कर्मदायिने।
ॐ नमो भगवते श्री सूर्याय नमः।
ॐ एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्तं गृहाणार्घं दिवाकर।

(सामवेदी गण) इदमर्घ्यं, (अन्य वेदी गण) एषोऽर्घः ॐ श्री सूर्याय नमः।

सूर्य प्रणाम

ॐ जवाकुसुम-संकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।
ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥

स्वस्तिवाचनम् : हाथ में चावल लेकर घंटा को बजाते हुए—

ॐ सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणञ्च बृहस्पतिम्। ॐ स्वस्ति, ॐ स्वस्ति, ॐ स्वस्ति। कहकर चावल शिवजी के सम्मुख तीन बार निक्षेप करना चाहिए।

साक्ष्य मंत्र कृतांजलि होकर—

ॐ सूर्यः सोमो यमः कालः सन्ध्ये भूतान्यहः क्षपा।
पवनो दिक्पतिर्भूमिराकाशं खचरामराः।
ब्राह्मं शासनमास्थाय कल्पध्वमिह सन्निधिम्।
ॐ तत् सत् अयमारम्भः शुभाय भवतु।

संकल्प

दाहिना घुटनाँ जमीन में विछाकर उत्तराभिमुख हो बाँये हाथ में आचमनी लेकर उसमें तिल, तुलसी, कुश के त्रिपत्र और हरीतकी डालकर (सधवा स्त्री हो तो तिल के स्थान में यव, कुश के बदले दूर्वा के त्रिपत्र डालकर) दाहिने हाथ से आचमनी ढककर—विष्णुरोम् तत् सत् (स्त्री और शूद्र श्री विष्णुर्नमः) अद्य फाल्गुने मासि कृष्णे पक्षे चतुर्दश्यां तिथौ (अथवा त्रयोदश्यां तिथावारभ्य) अमुक गोत्रः श्री अमुक देवशर्मा (....गोत्रा देवी, दासी, दासः) श्रीशिवप्रीतिकामः (या कामा) शिवरात्रिव्रतमहं करिष्ये। यह कहकर ताम्रपात्र का जल ईशानकोण में डालकर पात्र को उलट कर रखें। फिर उस पर फूल या चावल देकर घंटा ध्वनि के साथ अपने-अपने वेदोक्त संकल्प-सूक्तों का पाठ करें।

सामवेदीय संकल्प सूक्त—

[1]ॐ देवो वा द्रविणोदा पूर्णां विवष्ट्वासिचम्। उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्व-मादिद् वो देव ओहते।

ऋग्वेदीय संकल्प सूक्त—

[2]ॐ या गुंगूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती इन्द्रानिमह्व ऊतये, वरुणानीं स्वस्तये।

यजुर्वेदीय संकल्प सूक्त—

[3]ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

---

१. धन देने वाले अग्निदेव तुम लोगों की कामना की पूर्णाहुति करें अतः घृत से पात्र पूर्ण कर लीजिए और अग्नि कों उसे दीजिए।
ऐसा करने पर अग्निदेव आप लोगों को इष्ट वस्तु देंगे।

२. जो कुछ (अदृश्यचन्द्र) और सिनीवाली (दृश्य चन्द्र) नामके दो प्रकार अमावस्या के देवता हैं, जो पूर्णमासी के देवता हैं, हम उनके आवाहन करते हैं। हमारी रक्षा के लिये इन्द्रपत्नी का आवाहन करते हैं और हमारे शुभ के लिए वरुणपत्नी का आवाहन करते हैं।

३. जो मन जाग्रत व्यक्ति से दूर जाता है, जो निद्रित व्यक्ति के पास उसी प्रकार निकट आता है, जो आत्मा में स्थित है, जो सबसे दूरगामी है और चक्षुरादि इन्द्रियों कों प्रवृत्त करनेवाला है हमारा वह मन धर्मबिचार में लग्न हो।

कृतांजलि होकर पढ़िये—

ॐ शिवरात्रिव्रतं ह्येतत् करिष्येऽहं महाफलम् ।
निर्विघ्नमस्तु मे चात्र त्वत्प्रसादाज्जगत्पते ॥
चतुर्दश्यां निराहारो भूत्वा शम्भो परेऽहनि ।
भोक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्त्यर्थं शरणं मे भवेश्वर ॥

जो लोग पूजा के बाद रात में जल, फल, दुग्ध आदि लेंगे वे लोग इस मन्त्र का पाठ न करें ।

अर्थ : मैं यह महाफल देनेवाले शिवरात्रि का व्रत करूँगा । हे जगदीश्वर, आपकी प्रसन्नता से इस कार्य में मेरा विघ्न दूर हो । शम्भो, मैं चतुर्दशी को निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा । हे ईश्वर, भोग और मोक्ष के लिए तुम मेरा आश्रय बनो ।

गन्धादि की पूजा—'वं' कहकर पूजन सामग्रियों में जल का प्रक्षेप ।

एते गन्धपुष्पे ॐ एतेभ्यो गन्धादिभ्यो नमः (जमीन में दीजिए)
एते " ॐ एतदधिपतये ॐ श्री विष्णवे नमः (जल में गन्ध पुष्प दीजिए)
एते " एतत् सम्प्रदानेभ्यः ॐ पूजनीयदेवताभ्यो नमः (जल में दीजिए)
एते " ॐ नारायणाय नमः (जल में दीजिए)
एते " ॐ श्रीगुरवे नमः

गुरु प्रणाम

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

अर्थ : जो अखण्ड मण्डलाकार चर और अचर जगत् में व्याप्त होकर विराजमान हैं उस ब्रह्मपद का जिन्होंने मुझे दर्शन कराया ऐसे श्री गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ । मेरा जो मनश्चक्षु अज्ञान रूप तिमिर से ढका हुआ था, उसे जिन्होंने ज्ञानरूप काजल की वर्ती से उन्मीलित किया, ऐसे श्रीगुरु को प्रणाम करता हूँ ।

एते गन्धपुष्पे ब्राह्मणेभ्यो नमः

सामान्यार्घ्य की स्थापना

सम्मुख की जमीन में जल से त्रिकोण मंडल बनाइये । उसके बाहर गोलाकर मंडल फिर उसके बाहर चारकोण का एक मंडल बनाइये और त्रिकोण पर पूजन कीजिए ।

एते गन्धपुष्पे ॐ आधारशक्तये नमः

एते " ॐ प्रकृत्यै नमः ।

एते " ॐ कूर्माय नमः ।

एते " ॐ अनन्ताय नमः ।

एते " ॐ पृथिव्यै नमः ।

'फट्' कहकर अर्घा धोकर उसे त्रिकोण पर रखकर 'नमः' शब्द से अर्घा को जल से भरिए फिर अर्घा के आगे के भाग में अर्घ्य रखिए (विल्वपत्र, चन्दन, पुष्प, दूर्वा, चावल और जल) फिर जल का शोधन कीजिए ।

जल शोधन

अंकुशमुद्रा (दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधिए, फिर उसमें से मध्य अंगुलि को सीधे और तर्जनी को टेढ़ा निकालने पर अंकुश मुद्रा बनती है, देवता का 'मुद्' प्रीति 'रा' दान करता है इसलिए इसका नाम मुद्रा है) से जल छूकर कहिए :—

ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु ॥

इसके बाद ॐ कहकर उस जल में गन्ध, पुष्प, तुलसी देकर धेनुमुद्रा (कृतांजलि होकर बाँये हाथ की अँगुलियों के बीच दाहिने हाथ की अँगुलियों को प्रवेश कराकर दाहिनी तर्जनी बाँयी मध्यमा में, बाँयी तर्जनी दाहिनी मध्यमा में, बाँयी कनिष्ठा दाहिनी अनामिका में, दाहिनी कनिष्ठा बाँयी अनामिका में रखना) दिखलाना चाहिए । मत्स्य मुद्रा (दाहिना हाथ की हथेली अधोमुख रखकर उसी हाथ के पृष्ठ में बाँया हाथ अधोमुख रखना और दोनों हाथों के अंगुष्ठ बाहर रखिए ।) से अर्घा का जल ढककर ८ बार प्रणव जपिए । स्त्री या शूद्र प्रणव के स्थान पर 'नमः' मन्त्र जप करेंगे ।

आसन शोधन

बैठने के आसन के नीचे एक त्रिकोण मंडल बनाकर हाथ में गन्ध पुष्प लेकर 'एते गन्धपुष्पे ॐ ह्रीं आधारशक्तये कमलासनाय नमः' कहकर आसन पर गन्धपुष्प देकर आसन छूकर कहिए :—

अस्य आसनमन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसनोपवेशने विनियोगः ।

ॐ पृथ्वी त्वया धृता लोका, देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां नित्यं, पवित्रं कुरु चासनम् ॥

अर्थ :—हे पृथिवी, तुमने सब लोकों को धारण किया है। हे देवि, विष्णु ने (कर्म रूप में) तुमको धारण किया है। तुम मुझे सर्वदा धारण करो और इस आसन को पवित्र बनाओ। इसका भावार्थ है—कूर्म रूप में विष्णु ने तुम्हें धारण कर रखा है, इसलिए हे पृथ्वी, तुम जैसे अचल हो, तुम्हारे धारण करने के कारण सब लोक जैसे अचल रूप में स्थित हैं, उसी प्रकार पूजन के समय मैं भी चंचल न होकर स्थिर और अचल रहूँ, मैं पृथ्वी से यही प्रार्थना करता हूँ।

गुरुपंक्ति प्रणाम

कृतांजलि होकर बाँयी ओर झुककर प्रणाम कीजिए :

ॐ गुरुभ्यो: नमः, ॐ परमगुरुभ्यो नमः, ॐ परापरगुरुभ्यो नमः, (यहाँ परमेष्ठि गुरुभ्यो नमः नहीं कहना पड़ता है जैसे कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामे गुरुत्रयं यजेत्। गुरुञ्च परमादिञ्च परापरगुरुं तथा। दक्षपार्श्वे गणेशञ्च मूर्ध्नि देवं विभावयेत्) गौतमीय तंत्र।

दाहिने झुककर प्रणाम कीजिए—ॐ गणेशाय नमः। शिर पर कृतांजलि से ॐ नमः शिवाय।

कर शोधन

'ऐं' मन्त्र से एक फूल लेकर 'ॐ' मन्त्र से उस फूल को दोनों हाथों से पीसिए फिर उस फूल को ईशान दिशा में 'ह्रौं सौ' मन्त्र से प्रक्षेप कीजिए।

पुष्प शुद्धि—

पुष्प के पात्र में हाथ डालकर कहिए—ॐ पुष्पे पुष्पे महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पसम्भवे। पुष्पचयावकीर्णे च हुँ फट् स्वाहा।

भूतापसारण और दिग्बन्धन

हाथ में श्वेत सरसों या आतप चावल लेकर कहिए :

ॐ अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः। ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया।। कहकर श्वेत सरसों या चावल चारों दिशाओं में फेंकिए।

अर्थ—जो भूतगण पृथ्वी में हैं वे दूर हो जायें। जो भतगण पूजा में विघ्न डालने वाले हैं वे सब शिवजी की आज्ञा से नष्ट हो जावें। 'फट्' मन्त्र से मस्तक के ऊपर तीन बार ताली बजाकर दसों ओर चिटकीं बजाइये। बाद में बाँये पैर की एड़ी से मिट्टी में मारिए। याद रखना है ऐसा करना काशी में निषिद्ध है क्योंकि काशी में सब जगह शिवजी हैं।

भूतशुद्धि :—कूर्ममुद्रा से पुष्प लेकर हृदय के पास रखकर

ध्यान—धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभनम् ।
ऐश्वर्याष्टदलोपेतं परवैराग्यकर्णिकम् ।।
स्वीयहृत्कमलं ध्यायेत् प्रणवेन प्रकाशितम् ।
कृत्वा तत्कर्णिकासंस्थं प्रदीपकलिकानिभम् ।।
जीवात्मानं हृदि ध्यात्वा मूले संचिन्त्य कुण्डलीम् ।
सुषुम्नावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत् ।।

अर्थ—स्वीय हृत्कमल का इस प्रकार चिन्तन आवश्यक है—धर्म उसका मूल है, ज्ञान नाल है, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य उसके पत्र हैं, वैराग्य कर्णिका है और प्रणव से वह प्रकाशित है। उसकी कर्णिका पर दीप शिखा के आकार की जीवात्मा और सर्पाकृति कुल कुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन करते हुए सुषुम्ना नाड़ी के मध्य से जीवात्मा को मस्तकस्थित अधोमुख सहस्रदल कमल में स्थित परमात्मा के साथ मिलाइये ।

ॐ भूतशृङ्गाटकाच्छिरःसुषुम्नापथेन जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा ।

ॐ यं लिंगशरीरं शोषय स्वाहा ।

ॐ रं संकोचशरीरं दह दह स्वाहा ।

ॐ परमशिव सुषुम्नापथेन मूलशृङ्गाटकम् उल्लसोल्लस ज्वल ज्वल प्रज्वल सोऽहं हंसः स्वाहा ।

प्राणायाम—'ह्रौं' बीज से तीन बार प्राणायाम कीजिए । पूरक ४, कुम्भक १६, रेचक ८ ।

ऋष्यादिन्यास—मस्तक में ॐ वामदेवऋषये नमः, मुख में ॐ पंक्तिच्छन्दसे नमः, हृदय में ॐ ईशानदेवतायै नमः । मम श्रीशिवप्रीत्यर्थे श्रीशिवपूजने विनियोगः ।

करन्यास—ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः । ह्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा । ह्रूं मध्यमांभ्यां वषट् । ह्रैं अनामिकाभ्यां हुं । ह्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट् । ह्रः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट् ।

अंगन्यास—ह्रां हृदयाय नमः । ह्रीं शिरसे स्वाहा । ह्रूं शिखायै वषट् । ह्रैं कवचाय हुं । ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट् । ह्रः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट् ।

व्यापकन्यास—बीजमंत्र 'ह्रौं' कार का उच्चारण करते हुए दोनों हाथों की हथेलियाँ फैलाते हुए उनसे अपने मस्तक से पैर तक, पैर से मस्तक तक, फिर मस्तक से पैर तक छूना है । इस प्रकार ३ बार करने से व्यापक न्यास होते हैं । इस नियम से ५ बार, ७ बार अथवा ९ बार व्यापक न्यास करने की विधि है । पूजन में तल्लीन होने के लिये देवता के बीजमंत्र या मूल मंत्र से न्यास करना पड़ता है।

करन्यास

गरणेश पूजन :

गां अंगुष्ठाभ्यां नमः। गीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। गूं मध्यमाभ्यां वषट्। गैं अनामिकाभ्यां हुं। गौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। गः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्।

अंगन्यास

गां हृदयाय नमः। गीं शिरसे स्वाहा। गूं शिखायै वषट्। गैं कवचाय हुं। गौं नेत्रत्रयाय वौषट्। गः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्।

गरणेश जी का ध्यान :

ॐ खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरम्
प्रस्पन्दन्मदगन्ध - लुब्धमधुप - व्यालोलगण्डस्थलम्।
दन्ताघात - विदारितारि-रुधिरैः सिन्दूर-शोभाकरम्
वन्दे शैलसुता-सुतं गरणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम्॥

अर्थ :

जो खर्वाकार और स्थूल शरीर हैं, गजराज का मुख ही जिनका मुख है। जो लम्बोदर और सुन्दर हैं, क्षरित मद के सुगन्ध से लुब्ध होकर भौंरे बैठने जाकर जिनके गण्ड देश को व्याकुल कर रहे हैं। जिन्होंने दाँतों के आघात से शत्रुओं को विदारित कर उनके रक्त से सिन्दूर की शोभा धारण की है, उन पार्वती पुत्र सिद्धिदाता अभीष्ट देनेवाले गरणपति को प्रणाम करता हूँ।

एष गन्धः ॐ गं गणेशाय नमः।
एतत् सगन्ध-पुष्पं ॐ गं गणेशाय नमः।
एष धूपः ॐ गं गणेशाय नमः।
एष दीपः ॐ गं गणेशाय नमः।
एतन्नैवेद्यं ॐ गं गणेशाय नमः।

गरणेशजी का प्रणाम :

ॐ देवेन्द्र-मौलि-मन्दार-मकरन्द-करणारुणाः।
विघ्नं हरन्तु हेरम्ब-चरणाम्बुजरेणवः॥
एकदन्तं महाकायं लम्बोदरं गजाननम्।
विघ्ननाशकरं देवं हेरम्बं प्रणमाम्यहम्॥

अर्थ : देवराज इन्द्र के मुकुट में स्थित मन्दार पुष्पों के मधुकणों से जो रक्तवर्ण हो गये हैं वे गणेशजी के पादकमलों के रेणु समूह हम लोगों के विघ्न दूर कर दें। जिनका एक

दाँत है। जो महाकाय हैं, लम्बोदर, गजमुख, जो विघ्न दूर करते हैं वैसे देव हेरम्ब को मैं प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकार यहाँ सूर्य, विष्णु, शिव तथा दुर्गा को पंचोपचार से पूजन किया जा सकता है।

सूर्य का ध्यान :—

रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं भानुं समस्तजगतामधिपं भजामि।
पद्मद्वयाभयवरान् दधतं कराब्जैर्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम्॥

अर्थ : रक्तकमल जिनका आसन है, जो सब प्रकार के गुणों का आश्रय सागर हैं, जो सब जगत् के अधिपति हैं, जिनके कमल के सदृश चार भुजाओं के दो में कमल और दो में अभय और वर मुद्रा धृत हैं, जिनके मुकुट में पद्मरागमणि स्थित है। जिनका शरीर रक्तवर्ण है और जिनके तीन नेत्र हैं उन सूर्यदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

प्रणाम मंत्र :

जवाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।
ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥

अर्थ : जपा फूल के समान वर्णवाले, काश्यपनन्दन, अत्यन्त दीप्ति विशिष्ट, अन्धकार दूर करनेवाले, सब पाप हरण करनेवाले सूर्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

विष्णु का ध्यान :

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती, नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी, हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

अर्थ—नारायण को सर्वदा इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—वे हृदयस्थित सूर्यमण्डल में (ज्योतिरूप में) स्थित हैं, उनके बाहुओं में केयूर, कानों में सोने के कुण्डल हैं, मस्तक में मुकुट और वक्षःस्थल में हार है। वे सुवर्ण के समान उज्ज्वल देहधारी और शंख चक्र धारी हैं।

प्रणाम मंत्र :

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

जो वेदप्रतिपाद्य देवस्वरूप हैं, जो गो तथा ब्राह्मणों के विशेषरूप से हितकारी हैं, वैसे गोविन्द श्रीकृष्ण को बार-बार प्रणाम करता हूँ।

शिवजी का ध्यान :

ॐ ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारु चन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशु-मृग-वराभीति-हस्तं प्रसन्नम्।

पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

(अर्थ शिवपूजाविधि में देखिए ।)

प्रणाम मंत्र :

ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर ॥

(अर्थ शिवपूजाविधि में देखिए ।)

जयदुर्गा का ध्यान :

कालाभ्राभां कटाक्षैररिकुलभयदां मौलिबद्धेन्दुरेखां
शङ्खं चक्रं कृपाणं त्रिशिखमपि करैरुद्वहन्तीं त्रिनेत्राम् ।
सिंहस्कन्धाधिरूढां त्रिभुवनमखिलं तेजसा पूरयन्तीम्
ध्यायेद् दुर्गां जयाख्यां त्रिदशपरिवृतां सेवितां सिद्धिकामैः ॥

अर्थ :—जयदुर्गाका ध्यान इस प्रकार करना चाहिए। कालमेघ के समान उनका वर्ण है। वे अपने कटाक्षों के द्वारा शत्रुओं में भय उत्पन्न करती हैं, उनके मुकुट में चन्द्र की कला निबद्ध हैं, उन्होंने चारों हाथों में शंख, चक्र, खड्ग और त्रिशूल धारण कर रखा है, उनकी तीन आँखें हैं, सिंह के स्कन्ध पर वे बैठी हैं, अपने तेज से वे समग्र त्रिभुवन को पूर्ण कर रही हैं, देवताओं से वे घिरी हुई हैं और सिद्धि की इच्छा रखनेवालों से वे सेवित हैं।

प्रणाम मंत्र :

सर्वमंगलमंगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

अर्थ :—हे सब मंगलजनक वस्तुओं की मंगलकारिणि, हे मंगलमयि, हे सब कार्यों की फल देनेवाली, शरणागत वत्सल, हे गौरवर्णे, हे विष्णुशक्ति स्वरूपे, तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

कूर्ममुद्रा—बाँयी हथेली ऊपर की ओर रखकर उसके अंगुष्ठ तथा तर्जनी के मध्य भाग में अधोमुख दायें हाथ की मध्यमा तथा अनामिका के अग्रभाग रखिये। वैसा रखकर बाँयें अंगूठे के अगले भाग में दाहिनी तर्जनी के अगले भाग और बाँयीं तर्जनी के अगले भाग में दाहिनी कनिष्ठा के अगले भाग को युक्त रखिए, और बाँयें हाथ की मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा के अगले भागों को दाहिनी हथेली में लगाकर रखिये, और दाहिना अंगूठा उठाकर रखिये। भगवान् कूर्म रूप में पृथ्वी को पीठ में धारण कर जैसे अचल स्थित हैं, ध्येय देवता भी उसी प्रकार हृत् कमल में अचल रहेंगे इस अभिप्राय से ध्यान के समय कूर्ममुद्रा का विधान है।

अथवा निम्नरीति से संक्षेप से भी पूजन किया जा सकता है।

एते गन्धपुष्पे ॐ शिवादिपंचदेवतागणेभ्यो नमः ।
,, ,, ॐ आदित्यादिनवग्रहेभ्यो नमः ।
,, ,, ॐ इन्द्रादिदशदिक्पालेभ्यो नमः ।
,, ,, ॐ मत्स्यादिदशावतारेभ्यो नमः ।
,, ,, ॐ काशीक्षेत्रस्वामिने विश्वेश्वराय शिवाय नमः ।
,, ,, ॐ ह्रीं अन्नपूर्णायै नमः ।
,, ,, ॐ गां गंगायै नमः ।
,, ,, ॐ सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ।
,, ,, ॐ सर्वाभ्यो देवीभ्यो नमः ।

पूजन के प्रारम्भ में सम्मुख स्थित रजत पात्रों पर, उसके अभाव से काँसा के या पीतल के पात्र पर विल्वपत्र उलट कर रखें अर्थात् पत्ती का साफ भाग ऊपर की ओर हो और बीच की पत्ती उत्तर दिशा में रहे। उसके ऊपर नर्मदेश्वर या वाणलिंग शिवजी को इस प्रकार बैंठाइये ताकि गौरीपट्ट उत्तर दिशा में रहे। पार्थिव शिव या मिट्टी से शिव बनाना हो तो और उनका पूजन हो तो 'ॐ हराय नमः' कहकर एक या दो तोले मिट्टी के साथ कुछ घी मिलाकर 'ॐ महेश्वराय नमः' कहकर अंगूठे के समान शिवलिंग बनाकर उसके मस्तक थोड़ा दबा देना चाहिये और उसके ऊपर वज्र अर्थात् छोटी मिट्टी की गोली रखिये। पार्थिव शिव पूजन में प्रतिष्ठा आवाहन और विसर्जन हैं, लेकिन अन्य शिवपूजन में वे नहीं हैं।

प्रथम प्रहर में पहले दुग्ध से स्नान, बाद में जल से :

इदं स्नानीयं दुग्धं ॐ हौं ईशानाय नमः कहकर स्नान कराइये।
इदं स्नानीयं जलं ॐ हौं पशुपतये नमः कहकर स्नान कराइये।

द्वितीय प्रहर में पहले दधि से स्नान, बाद में जल से :

इदं स्नानीयं दधि ॐ हौं अघोराय नमः से स्नान कराइये।
इदं स्नानीयं जलं ॐ हौं पशुपतये नमः कहकर स्नान कराइये।

तृतीय प्रहर में घृत से स्नान, बाद में जल से :

इदं स्नानीयं घृतं ॐ हौं वामदेवाय नमः कहकर स्नान कराइये।
इदं स्नानीयं जलं ॐ हौं पशुपतये नमः कहकर स्नान कराइये।

चतुर्थ प्रहर में मधु से स्नान, बाद में जल से :

इदं स्नानीयं मधु ॐ हौं सद्योजाताय नमः कहकर स्नान कराइये।
इदं स्नानीयं जलं ॐ हौं पशुपतये नमः कहकर स्नान कराइये।

अंगन्यास : हां हृदयाय नमः। ह्रीं शिरसे स्वाहा। हूं शिखायै वषट्। हैं कवचाय हुं। ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। हः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्।

करन्यास—हां अंगुष्ठाभ्यां नमः। ह्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। हूं मध्यमाभ्यां वषट्। हैं अनामिकाभ्यां हुं। ह्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। हः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्।

ध्यान—वाँये हाथ की हथेली पर त्रिकोण मंडल बनाकर कूर्ममुद्रा से पुष्प और विल्वपत्र उस पर रखकर हृदय के समीप लेकर ध्यानमंत्र पढ़िये।

ॐ ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

ध्यान के बाद उस पुष्प और विल्वपत्र को अपने मस्तक पर रखकर, हृदय के समीप ऊर्ध्वमुख वाम करतल पर ऊर्ध्वमुख दक्षिण करतल रखकर आँखें बन्द करते हुए मानस पूजा करनी चाहिए अर्थात् पूज्य देवको अपने हृदय कमल में बैठाकर उनके चरणों में देह, मन, प्राण, इन्द्रियों को भावना से अर्पित करना चाहिए। सनत्कुमार तंत्र में उल्लिखित है—अकृत्वा मानसं यागं न कुर्याद्‌वहिरर्चनम्।

विधिपूर्वक मानस पूजन निम्न प्रकार है—हृदय कमल आसन है। मस्तकस्थित अधोमुख सहस्रदल कमल से विगलित अमृत धारा है पाद्य। मन अर्घ्य है। पूर्वोक्त अमृत आचमनीय है। वही अमृत स्नानजल है। देहस्थित आकाशतत्त्व वस्त्र है। पृथ्वीतत्त्व गन्ध है। चित्त या बुद्धि है पुष्प। प्राणवायु धूप है, तेजस्तत्त्व दीप है। हृदय में कल्पित सुधासमुद्र नैवेद्य है। अनाहत ध्वनि वाद्य है। वायु तत्त्व चामर है। शिरःस्थित सहस्रदल कमल छत्र है। शब्दतत्त्व गीत है। इन्द्रियों के कर्म नृत्य हैं। इस प्रकार आँखें बन्द करते हुए चिन्तन करने से मानसपूजन होता है।

ध्यान का अर्थ—महादेव को इस प्रकार ध्यान करना चाहिए कि वे रजत पर्वत के समान आभा विशिष्ट हैं। सुन्दर अर्धचन्द्र उनका शिरोभूषण है, रत्नमय वेशभूषाओं से उनका शरीर उज्ज्वल है, उनके चारों हाथों में परशु, मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा विराजमान हैं। वे प्रसन्नमूर्ति हैं, वे कमल पर आसीन हैं और चारों ओर देवगण उन्हें स्तुति कर रहे हैं। वे व्याघ्र चर्म पहने हुए हैं। वे जगत् के आदि, जगत् कारण हैं, वे सब भय दूर करते हैं। उनके पाँच मुख हैं और प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र हैं।

विशेषार्घ्य की स्थापना—अपने बाँये जल से त्रिकोण मंडल बनाकर उसके बाहर गोल मंडल और फिर उसके बाहर चार कोण का मंडल बनाइये। त्रिकोण मंडल पर निम्नलिखित मन्त्रों से पूजन कीजिए :

एते गन्धपुष्पे ॐ आधारशक्तये नमः ।
" " ॐ प्रकृत्यै नमः ।
" " ॐ कूर्माय नमः ।
" " ॐ अनन्ताय नमः ।
" " ॐ पृथिव्यै नमः ।

'फट्' मंत्र से ताँबे या चाँदी के अर्घ्यपात्र को प्रक्षालित कीजिए और उसे तिपाई पर रखिए । याद रखना है शिवपूजन में शंख के अर्घ्यपात्र का व्यवहार निषिद्ध है । विलोम मातृका का उच्चारण करते हुए उस अर्घ्यपात्र को जल से भरिए। विलोम मातृका :—क्षं लं हं सं षं शं वं लं रं यं मं भं बं फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं ठं टं ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं अः अं औं ओं ऐं एं ॡं ऌं ॠं ऋं ऊं उं ईं इं आं अं । हौं हौं हौं तीन बार कहकर थोड़े-थोड़े जल तीन बार दीजिए । 'नमः' कहकर अर्घ्यपात्र के अग्र में विल्वपत्र, दूर्वा, फूल, चावल और चन्दन से अर्घ्य सजाइये ।

तिपाई के ऊपर—एते गन्धपुष्पे ॐ मं वह्निमंडलाय दशकलाव्याप्तात्मने
देवार्घ्यपात्रासनाय नमः ।

अर्घ्यपात्र पर—एते गन्धपुष्पे ॐ अं अर्कमण्डलाय द्वादशकलाव्याप्तात्मने
देवार्घ्यपात्राय नमः ।

अर्घ्य पर—एते गन्धपुष्पे ॐ उं सोममंडलाय षोड़शकलाव्याप्तात्मने
देवार्घ्यपात्रामृताय नमः ।

कुश के त्रिपत्र से अर्घ्यपात्र के जल स्पर्श कर ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति । नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।। जल को देवता समझकर मत्स्यमुद्रा से उसे ढककर 'हौं' मन्त्र ८ वार जपिये, फिर धेनुमुद्रा दिखाइये । बाद में अर्घ्यपात्र से थोड़ा जल अर्घा पर लेकर उस जल से अपने मस्तक पर और पूजन के सामग्रियों में छिड़काइये ।

अंगन्यास—हां हृदयाय नमः । हीं शिरसे स्वाहा । हूं शिखायै वषट् । हैं कवचाय हुं । हौं नेत्रत्रयाय वौषट् । हः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट् ।

करन्यास—हां अंगुष्ठाभ्यां नमः । हीं तर्जनीभ्यां स्वाहा । हूं मध्यमाभ्यां वषट् । हैं अनामिकाभ्यां हुं । हौं कनिष्ठाभ्यां वौषट् । हः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट् ।

ध्यान—फिर वाम हथेली पर त्रिकोण मंडल बनाकर कूर्ममुद्रा से विल्वपत्र तथा फूल उस पर लेकर हाथ हृदय के समीप रखकर ध्यानमन्त्र पढ़िये :—

ॐ ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।

पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्
विश्वाद्यं विश्ववीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

हाथ में रखे फूल और विल्वपत्र अपने नाक के पास लाकर, हृदयस्थित देवता महेश्वर ने निश्वास से वाहर आकर उस फूल और विल्वपत्र में आसन लिया, ऐसा चिन्तन करते हुए पुष्प और विल्वपत्र को शिवलिंग पर देकर पूजन कीजिए। एतत् पाद्यं ॐ शिवाय नमः।

प्रथम प्रहर का अर्घ्य मंत्र :

ॐ शिवरात्रिव्रतं देव पूजाजपपरायणः।
करोमि विधिवत् दत्तं गृहाणार्घ्यं महेश्वर॥

'इदमर्घ्यं' या 'एषोऽर्घ्यः' ॐ शिवाय नमः। सामवेदी इदमर्घ्यं अन्यवेदी एषोऽर्घ्यः कहेंगे।

अर्थ—हे देव, मैं पूजा और जप में तत्पर होकर यथाविधि शिवरात्रिव्रत कर रहा हूँ। हे महेश्वर, मेरे दिये हुए अर्घ्य ग्रहण कीजिए।

द्वितीय प्रहर का अर्घ्य मंत्र :

ॐ नमः शिवाय शान्ताय सर्वपापहराय च।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यं प्रसीद उमया सह॥

'इदमर्घ्यं' या 'एषोऽर्घ्यः' ॐ शिवाय नमः।

अर्थ—तुम मंगलरूप हो, तुम शान्तमूर्ति और सब पाप हरण करनेवाले हो, तुमको प्रणाम करता हूँ। तुम प्रसन्न हो जाओ। शिवरात्रि में यह अर्घ्य प्रदान कर रहा हूँ, उमा के साथ तुम प्रसन्न हो।

तृतीय प्रहर का अर्घ्य मंत्र :

ॐ दुःख-दारिद्र्यशोकेन दग्धोऽहं पार्वतीश्वर।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे॥

'इदमर्घ्यं' या 'एषोऽर्घ्यः' ॐ शिवाय नमः।

अर्थ—हे पार्वतीपते, मैं दुःख दरिद्रता और शोक से तप्त होकर शिवरात्रि व्रत में अर्घ्य प्रदान कर रहा हूँ, हे उमाकान्त; तुम मेरा अर्घ्य ग्रहण करो।

चतुर्थ प्रहर का अर्घ्य मंत्र :

ॐ मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शंकर।
शिवरात्रौ ददाम्र्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे॥

'इदमर्घ्यं' या 'एषोऽर्घ्यः' ॐ शिवाय नमः।

अर्थ—हे शंकर, मैंने अनेक पाप किये; तुम उन पापों को हरो। मैं शिवरात्रिव्रत में अर्घ्य प्रदान कर रहा हूँ। हे उमाकान्त, तुम मेरा अर्घ्य ग्रहण करो।

इदमाचमनीयं (जल) ॐ शिवाय नमः ।

एषो मधुपर्कः (काँसे के कटोरे में दही, घी, मधु, शर्करा और जल) ॐ शिवाय नमः ।

इदमाचमनीयं (जल) ॐ शिवाय नमः । एषो गन्धः ॐ शिवाय नमः ।

एतत् सगन्धपुष्पं ॐ शिवाय नमः । धतूरा के फूल और अन्य श्वेतपुष्प शिव पूजन में प्रशस्त है ।

एतत् सचन्दनं विल्वपत्रं ॐ शिवाय नमः । विल्वपत्र को अंगूठे और तर्जनी से पकड़ कर अधोमुख छोड़ना चाहिये ऊर्ध्वमुख नहीं (चिकना भाग नीचे की ओर रखकर)

विल्वपत्र निवेदन का विशेष मंत्र—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् स्वाहा । यह मन्त्र जिनके ॐकार में अधिकार है ऐसे द्विजातियों के लिये है ।

अर्थ—जो पुण्यवान और उपासकों के जो शारीरिक स्वस्थता बढ़ानेवाले हैं उन महादेव को पूजन करता हूँ । ककड़ी का फल जैसे स्वयं ही वृक्ष से अलग हो जाता है, वैसे हम लोग भी उनकी प्रसन्नता से संसार से छुटकारा प्राप्त कर सकें, लेकिन मुक्ति के मार्ग से च्युत न हो जावें ।

सब उपासकों के लिये एकादश विल्वपत्र देने के मन्त्र ।

द्रष्टा, दर्शन, दृश्य— द्रष्टा च दर्शनं दृश्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे प्रथमा विल्वपत्रिका ॥१॥

कर्ता, कार्य, करण— कर्ता कार्यं च करणमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे द्वितीया विल्वपत्रिका ॥२॥

भोक्ता, भोज्य, भोजन— भोक्ता च भोजनं भोज्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे तृतीया विल्वपत्रिका ॥३॥

भूः, भुवः, स्वः— भूर्भुवश्च तथा स्वर्ग इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे चतुर्थी विल्वपत्रिका ॥४॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— जाग्रत् स्वप्नस्तथा सुप्तिरिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे पंचमी विल्वपत्रिका ॥५॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण— स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे षष्ठिका विल्वपत्रिका ॥६॥

अविद्या = प्रकृति, संसृति = संसार, जीव = विपरीत ज्ञान—
अविद्या संसृतिर्जीव इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे सप्तमी विल्वपत्रिका ॥७॥

उत्पत्ति, स्थिति, नाश— उत्पत्तिश्च स्थितिर्नाश इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे ह्यष्टमी विल्वपत्रिका ॥८॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र— ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्र इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे नवमी विल्वपत्रिका ॥९॥

तमः = आवरण, रजः = चंचलता, सत्त्व = प्रकाश—
तमो रजस्तथा सत्त्वमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे दशमी विल्वपत्रिका ॥१०॥

त्वन्ता = तुम, अहन्ता = मैं, इदन्ता = यह—
त्वन्ताऽहन्ता तथेदन्ता इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे रुद्राख्या विल्वपत्रिका ॥११॥

ये एकादश त्रिपुटी है इनके नाश होने से सद्योमुक्ति होती है ।

एकादशैताः कथिताः शाम्भवा विल्वपत्रिका ।
एताभिरर्चितः शम्भुः सद्यो मुक्ति प्रयच्छति ॥

एतत् सगन्ध पुष्पमाल्यं ॐ शिवाय नमः ।

शिवजी का प्रिय फल वेल; धतूरा, आमलकी, केला इस समय निवेदन करना चाहिए ।

एष धूपः ॐ शिवाय नमः

एष दीपः ॐ शिवाय नमः

एतन्नैवेद्यं या एतत् सोपकरण नैवेद्यं ॐ शिवाय नमः ।

इदमाचमनीयं (जलं) ॐ शिवाय नमः ।

इदं पानीयजलं ॐ शिवाय नमः ।

इदं ताम्बूलं ॐ शिवाय नमः ।

इदं पुनराचमनीयं (जल) ॐ शिवाय नमः ।

नैवेद्य के ऊपर १० बार जप ॐ शिवाय नमः ।

प्रणाम— ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर ॥

गौरीपूजा—गौरी पीठ पर— एते गन्धपुष्पे ॐ गौर्यै नमः ।

अष्टमूर्ति की पूजा—गौरी पीठ पर पूर्वादिक्रम से वामावर्त से गन्धपुष्प से पूजन कीजिए ।

एते गन्धपुष्पे ॐ भवाय जलमूर्तये नमः । ईशान कोण पर ।
" " " ॐ रुद्राय अग्निमूर्तये नमः । उत्तर दिशा में ।
" " " ॐ उग्राय वायुमूर्तये नमः । वायुकोण में ।

" " " ॐ भीमाय आकाशमूर्तये नमः। पश्चिम दिशा में।

" " " ॐ पशुपतये यजमानमूर्तये नमः। नैऋत कोण में।

" " " ॐ महादेवाय सोममूर्तये नमः। दक्षिण दिशा में।

" " " ॐ ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः। अग्निकोण में।

पुष्पांजलि—एष सचन्दनविल्वपत्राञ्जलिः ॐ शिवाय नमः। तीन बार दीजिए।

जप—'ॐ नमः शिवाय' अथवा 'हौं' बीज अथवा दोनों ही १०८ बार जप करने के बाद थोड़ा जल लेकर निम्न प्रकार मन्त्र जप अर्पित कीजिए।

जप अर्पण—ॐ गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव, त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥

शिवजी के निम्न के दक्षिण हस्त के उद्देश्य से भूमि पर जल छोड़िये।

अ–उ–म=ओम्। उ–अ–म=वम्। अतः ॐ और वम् इन दोनों के एक ही अर्थ हैं। इसके बाद धूप, पंचप्रदीप, कर्पूर, जलपूर्ण विशेषार्घ्य के ताम्रपात्र या शंख इसके अभाव से आचमनी, धौत वस्त्र और विल्वपत्र से आरती कीजिए। सम्भव हो तो चामर से भी व्यजन किया जा सकता है। शिवजी को अर्ध प्रदक्षिण करना चाहिए, गौरीपीठ का लंघन न करना चाहिए।

इसके अनन्तर इच्छा हो तो महिम्नः स्तोत्रम्, शिवपंचाक्षरस्तोत्रम्, शिवापराधक्षमापनस्तोत्रम्, शिवाष्टक, वेदसार शिवस्तोत्र, विश्वनाथाष्टक स्तोत्र आदि के पाठ के बाद प्रणाम करना चाहिए।

प्रणाम मन्त्र—ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर ॥

वाणेश्वराय नरकार्णव-तारणाय, ज्ञानप्रदाय करुणामृत-सागराय।
कर्पूर-कुन्द-धवलेन्दु-जटाधराय, दारिद्र्य-दुःखदहनाय नमः शिवाय ॥

अर्थ—जो शिव हैं, जो शान्तमूर्ति हैं, जो सत्त्वरजःतमः इन तीन जगत् कारणों के कारण हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। हे परमेश्वर, तुम्हें मैं आत्मसमर्पण कर रहा हूँ, तुम ही मेरी गति अर्थात् आश्रय हो।

जो नरक रूपी समुद्र से उद्धार करते हैं, जो ज्ञान देनेवाले हैं, जो दयारूपी अमृत के सागर हैं, जो कर्पूर व कुन्द फूल के समान श्वेतवर्ण हैं, जो चन्द्रकला और जटाओं से भूषित हैं उन दरिद्रता रूपी दुःख नाश करनेवाले वाणेश्वर शिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

बाद में संहार मुद्रा से (बाँयी हथेली निम्नमुख रखकर दाहिनी हथेली उसके ऊपर ऊर्ध्वमुख रखें। इसके बाद बाँये हाथ की अंगुलियों के बीच दाहिने हाथ की अंगुलियों को

प्रवेश कराकर दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर पकड़कर, हाथ घुमाकर सीने के पास लाना और दोनों हाथों की तर्जनियों को निकाल कर एक के अग्र दूसरे के अग्र से मिलाइये, एक फूल शिवजी के पास से लाकर उसके घ्राण लेते हुए; तेजोमय देवता श्वास से हृदय में प्रवेश कर रहे हैं, चिन्तन करते हुए उस फूल को फेंकना चाहिए। हाथ धोकर ईशान कोण में जल से एक त्रिकोण वनाकर, कुछ निर्माल्य पुष्प लेकर उन्हीं से 'ॐ चण्डेश्वराय नमः' कहकर उस निर्माल्य को वनाये त्रिकोण मंडल पर रखिए। चण्डेश्वर महादेवजी के निर्माल्य वाहक हैं।

पूजन के उपरान्त प्रभात समय कथा सुनकर कृतांजलि होकर पढ़िये :—

ॐ अविघ्नेन व्रतं देव त्वत्प्रसादात् सर्मपितम्।
क्षमस्व जगतां नाथ त्रैलोक्याधिपते हर॥
यन्मयाद्य कृतं पुण्यं तद्रुद्रस्य सर्मपितम्।
त्वत्प्रसादान्मया देव व्रतमद्य समापितम्॥
प्रसन्नो भव मे श्रीमन् मद्भूतिः प्रतिपद्यताम्।
त्वदालोकनमात्रेण पवित्रोऽस्मि न संशयः॥

अर्थ : हे देव, तुम्हारी प्रसन्नता से निर्विघ्नता से मैंने तुम्हें व्रत अर्पण किया। हे जगत् के स्वामी, हे त्रैलोक्य के पति हर, मुझे क्षमा करो।

मैंने आज जो कुछ पुण्य कर्म किया मैंने उन्हें रुद्र को सर्मपित किया। हे देव, तुम्हारी प्रसन्नता से आज मैंने व्रत समापन किया।

हे श्रीमन्, मुझपर प्रसन्न हो। मेरी पूजा की सिद्धि हो। तुम्हारे दर्शन मात्र से मैं अवश्य ही पवित्र हो गया हूँ।

दक्षिणा—शिवरात्रि व्रत कथा सुनकर ब्राह्मण को दक्षिणा देनी चाहिए। 'ॐ एतस्मै कांचनमूल्याय नमः' कहकर दक्षिणा द्रव्य पर जल का प्रक्षेप दीजिए। 'एते गन्ध-पुष्पे ॐ एतस्मै कांचनमूल्याय नमः' कहकर गन्धपुष्प देकर बाँये हाथ (अधोमुख) से छूकर, दाहिने हाथ अर्घा में रखे कुश के त्रिपत्र सहित जल में रखकर संकल्पवाक्य पढ़िये। विष्णुरों तत् सत् (श्री विष्णुर्नमः) अद्य फाल्गुने मासि कृष्णे पक्षे चतुर्दश्यां वा अमावस्यायां तिथौ अमुकगोत्रः श्री अमुकदेवशर्मा (''''''''''''गोत्रा देवी, दासी, दासः) श्रीशिवप्रीतिकामनया कृतैतत्शिवरात्रिव्रतकर्मणः सांगतार्थं दक्षिणामेतत् कांचनमूल्यं श्रीविष्णुदैवतमहं श्री शिवाय तुभ्यं सम्प्रददे ' यह कहकर कुश के त्रिपत्र से दक्षिणा के ऊपर जल का प्रक्षेप कीजिए। बाद में वह दक्षिणा शिवजी को दीजिए। बाद में हाथ में जल लेकर कहिए—'ॐ कृतैतत्शिवरात्रि-व्रतं कर्माच्छिद्रमस्तु'। समीपस्थ ब्राह्मण कहें—'अस्तु'।

वैगुण्य समाधान या त्रुटि मार्जना

बाँये हाथ से छुये दाहिना हाथ अर्घा में, जिसमें त्रिपत्र, हरीतकी और जल है, डाल कर—'विष्णुरों तत्सत् (श्रीविष्णुर्नमः) अद्य फाल्गुने मासि कृष्णे पक्षे चतुर्दश्यां या अमावस्यायां तिथौ अमुक गोत्रः श्री अमुकदेवशर्मा (······गोत्रा देवी, दासः, दासी) कृतेऽस्मिन् श्रीशिवपूजाकर्मणि यद्वैगुण्यं जातं तद्दोषप्रशमनाय विष्णुस्मरणमहं करिष्ये'। १० बार ॐ विष्णुः या नमो विष्णुः जप करने के पश्चात् पढ़िये—

ॐ अज्ञानाद्यदि वा मोहात् प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः॥
ॐ यदसांगं कृतं कर्म जानता वाप्यजानता।
सांगं भवतु तत् सर्वं हरेर्नामानुकीर्तनात्॥

श्री हरिः श्री हरिः श्री हरिः हाथ में जल लेकर कहिए—

ॐ प्रीयतां पुण्डरीकाक्षः सर्वयज्ञेश्वरो हरिः।
तस्मिंस्तुष्टे जगत् तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत्॥ यह कहकर वह जल विष्णु के उद्देश्य में भूमि पर छोड़िये।

अर्थ—अज्ञानवश या मोहवश यज्ञ में (पूजन कार्य में, जो कुछ त्रुटियाँ होती हैं वे विष्णु के स्मरण से पूर्ण हो जाती हैं—श्रुति भी ऐसा ही कहती है।

मैंने जानकर या न जानकर जो कार्य असम्पूर्ण रख दिया हरि के नाम के उच्चारण से वे सब सम्पूर्ण हो जायें।

सब यज्ञों के ईश्वर कमल लोचन हरि प्रसन्न होय। वे जगन्मय हैं इस कारण उनकी तुष्टि से जगत् तुष्ट होता है। उनको प्रीति करने से जगत् की प्रीति होती है।

यह कर्म श्रीकृष्णजी को अर्पित कर रहा हूँ।

Pictorial view of the Vrindaban Ashram

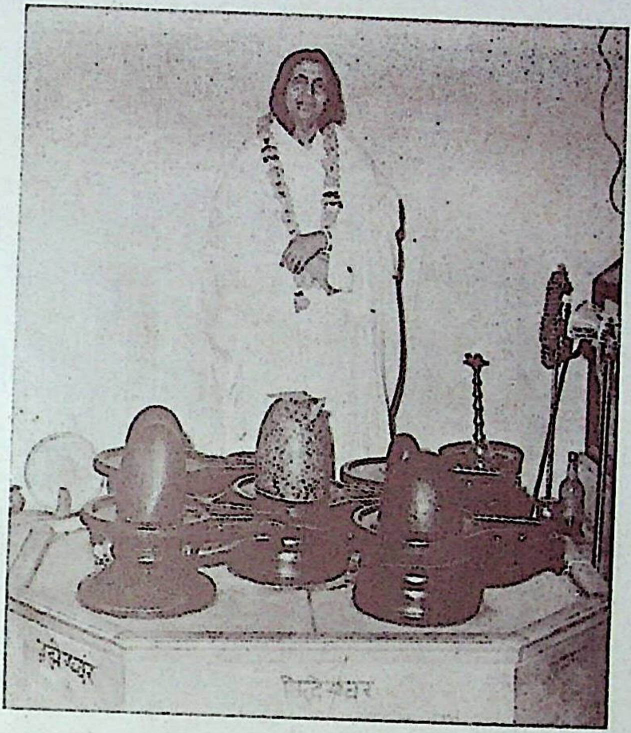

Inside the Shiva Temple

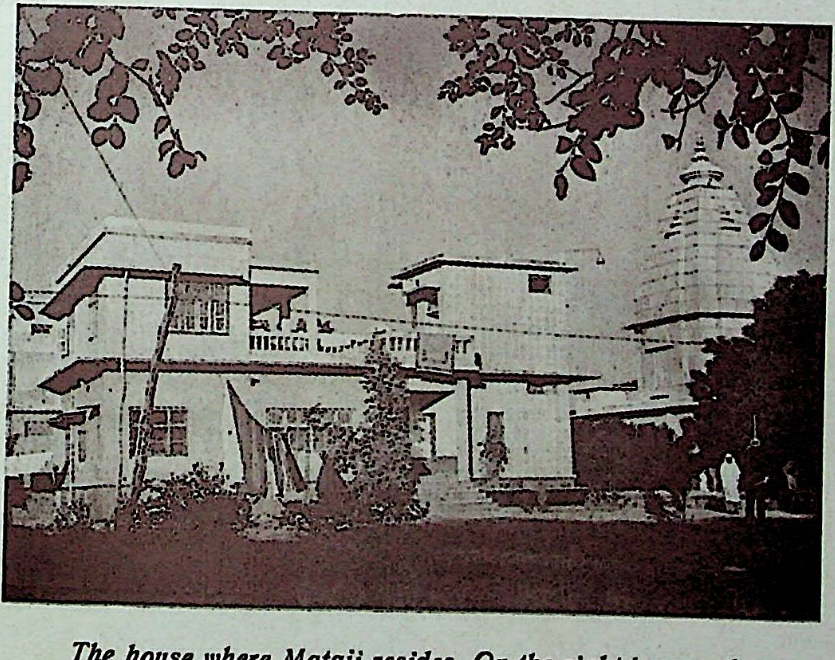

The house where Mataji resides. On the right is seen the main Chheliya Temple.

Pictorial view of the Vrindaban Ashram

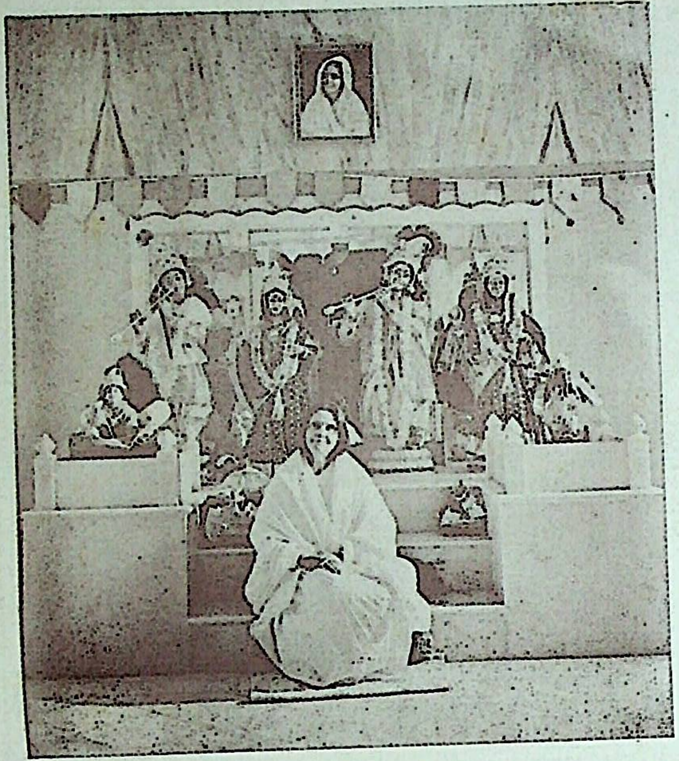

Inside theRadhakrishna Temple

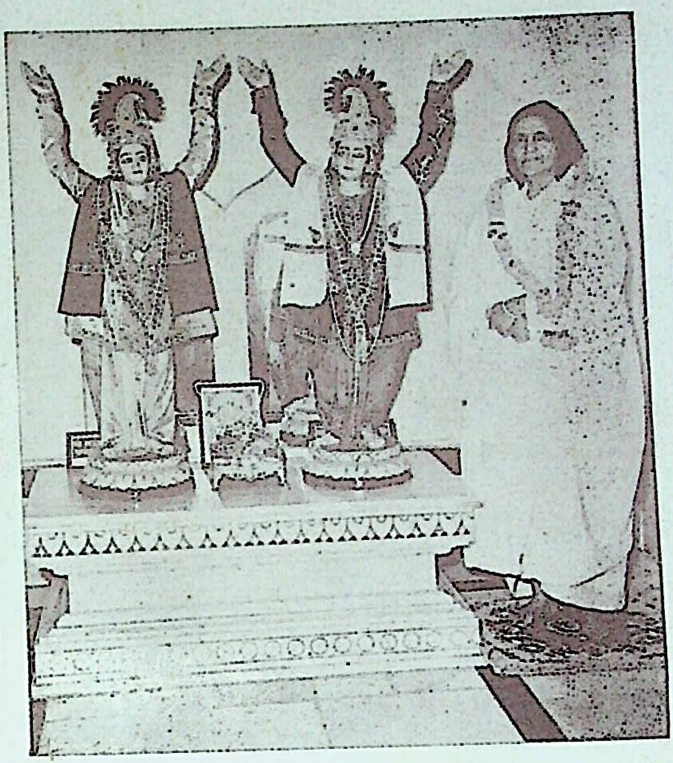

Mataji in the Mahaprabhu Temple

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

Mātri Vāni

Earthly love causes intense suffering and does not last. Whereas the love of God gives extremely great happiness.

* * * *

It lies in God's very nature to keep the door to Himself ever open. If the amount of energy and time spent in worldly pursuits is given to the search after God, the path to Self-knowledge will of a certainty open out of itself.

* * * *

God is the breath of life, the Heart of hearts, the Self. To find Him means to find oneself. What is called the world, is dragging man towards foolishness and misery—away from God. Therefore, the only excellent path is the one that leads to Self-knowledge, Self-realization.

* * * *

Always remain calm and remember that whatever God does at any time is beneficient. When circumstances change in the course of events, what is there to worry about? Everything that happens at any moment happens by His Will.

* * * *

Why allow yourself to become agitated and excited? This is not the attitude fitting for a pilgrim on the spiritual path. On the contrary, by spending one's life in the awareness of God, seeking the company of sages, saints and seekers after Truth, one's hopes and aspirations will be fulfilled.

* * * *

If service is your ideal, be constantly engaged in the service of God. Attachment will keep you in the realm of the transitory. His Law is truly wonderful.

* * * *

Contemplation of the *Atmā* takes one to one's ultimate Goal; while worldly action creates nothing but ugliness.

* * * *

So far as this body is concerned, nothing happens unknowingly or by mistake : be it right here or far in the distance. Whether it is perceived outwardly or not, whatever is destined to occur, does come about.

Sri Sri Mataji's Amara Vāni

(REPORTED BY BRAHMACHARI VIRAJANANDA)

(*Translated from Bengali*)

Question : Where in the body is the heart ?

Mataji : Where is the heart not ? Take for instance a tree : from the roots to the leaves it has sprung from one seed. Of course, no simile is applicable in all respects. In what branch of a tree are there no seeds ? The seed that is in the earth, where in the tree is it not ?

Question : There are various centres in different parts of the body—the centres of hearing, seeing and so forth. Similarly there are also spiritual centres from where God may be revealed.

Mataji : Just as in a tree various developments and static states can be perceived, so also are there centres all over the body.

Question : Is not a centre of necessity in the middle ?

Mataji : Of course, the centre is in the middle. Wherever God becomes revealed, there is the heart. There is only one heart, yet again there are hearts without number. Every man speaks of his own heart, but actually the heart in one.

Question : Where is the heart according to the *Śāstras* ?

Mataji : Baba, this body has not studied the *Śāstras*. The place of the heart is one. Where is the middle and where is it not ? If you say : "The centre lies here !" this body will say : "It is so". From the ordinary point of view the heart is situated in the middle of the chest; that is to say, everyone will speak from the state he has reached. This body also maintains : "Yes, everyone experiences from his own stage of achievement.' Where is God not? Therefore, the heart also is one and yet of infinite number—whichever way you wish to put it.

Question : When the heart fails, the end has come.

Mataji : The heart that fails and the real heart (*hridaya*) are not identical. As regards the body, seen from this angle, whatever seed you sow, will come back to you in progressive development. Again, where in the whole tree is there no seed? From this point of view, where is the heart not? In the one are contained the many and the many in the one : wherever anyone experiences his heart, there it is.

Question : How did the seed come into being?

Mataji : He Himself manifests as the seed. Can there be a seed apart from Him?

Question : What is the secret of the *līlā* in the *Bhāgavata** ?

Mataji : In all action the question "why" is present. What has to be done to find the solution? One has to pass I. A., B. A. and M. A. And here to pass means to unveil. When the veil is rent, the 'why' disappears. For this reason you are asked to read the Bhāgavata. He who does not study anything has no questions to ask and neither has he who has passed all exams. What is the Bhāgavata? The Bhāgavata and God are one. God's entire play—as far as He manifests with form and with attributes is contained in the Bhāgavata.

Question : Why did God play the *Rāma Līlā*? Was it not below His dignity?

Mataji : This body does not say anything personal. God acts His play with Himself alone. Some say He creates with the help of His *māyā*, others say it is His pleasure. With whom can He sport? With Himself, with His *māyā*,

---

* *Śrimad Bhāgavata*—One of the main 18 *Purāṇas*, dealing with the *Avatāras* of *Viṣṇu*, especially and in great detail with the life of *Sri Krishna*.

His power to appear as many separate beings. Another point : You say the Rishis requested the Lord to show His special *Līlā* as Vāmana Avatāra. But Ramachandra replied : "Not as Vāmana, the play will be enacted by Krishna Avatāra." Everything verily belongs to God, thus He Himself stages the play with His own Self alone. Another point : You say a man who has supernormal powers can do anything at all. This is not so on all levels. Śiva alone is able to digest poison.

Question : In the Bhagavad Gita, we are asked in one place to engage in action and in another again to renounce everything. How is this to be reconciled ?

Mataji : Look, there are different chapters—at one stage action is advocated and at another total surrender. Is it possible to surrender merely by saying so ? There is a stage of surrender and another of renunciation.

The Bhagavad Gita should be read every day. Reading it over and over again—what will be the result ? Just as a divine being appears and gives you a message, so the Gita will have mercy upou you as the word. You may say : "How can words show mercy ?" Well, this is why one speaks of sacred scriptures. By constantly doing God's work, a certain stage is reached. Generally speaking, there is no greater work than that.

Read the *Gitā* and engage regularly every day in some spiritual practice and the answer to your questions will come to you. When a sincere question arises, it is bound to find its solution. Without one-pointedness nothing can be achieved. One has to aim at one goal, but the mind aims at many things. Only when single-minded, one is on the way to enlightenment. Therefore, so long as you have not realized deep within you the significance of the *Gitā,* do not stop reading it.

Question : Immersed as we are in *māyā,* how can we be saved from its grip ?

Mataji : By cutting down the jungle one has to create a clearing: one has to go right into the jungle in order to cut it down. Whose *māyā* is it ? God's *māyā* is without beginning. Even so there is a path out of it. By entering the jungle and cutting it down a clearing is produced; just as vessels show their true quality only when scrubbed clean—so when the veil is removed, THAT which IS shines forth. What then is the means of removing the screen of māyā, of delusion ? *Satsang*, to act according to the instructions of one's *Guru*.

And so long as no *Guru* has been found : all names are His Name, all forms His Form, all qualities are God's. And constantly to meditate on the question : How can I become free from delusion ? What is the path, what the expedient ? Somehow or other He must be kept in mind. Of God alone must be all thought and word, the rest is but futility and pain.

"Whereever God may place you at any time and under whatever circumstances, recollect that it is all for the best. Endeavour to go through life leaving your burdens in His hands. He is the Preserver, He is the Guide, He is the All in All."

—Mata Anandamayi

MĀTRI SATSANG

SWAMI BHAGAVADANANDA GIRI

(Translated from Hindi)

December 4th, 1947.

Question : Are all our activities due to destiny ?

Mataji : In the world of destiny everything is due to destiny. As things are fated to happen so they come about. From one point of view one will have to say; everything is as it should be. What exists in Reality manifests in the material world.

Question : Is spiritual progress also fated ?

Mataji : Spiritual progress is also fated. This can be clearly seen by astrology. If the exact time of birth is known, astrology is able to foretell a man's future. Some have seen by direct perception that this is so. If a Yogi foretells something by his yogic vision, it is a different matter. Suppose someone walks in the street and has an accident. It was fated to happen, this is why it occurred. This much can be known by the astrologer. However, beyond this it may be that by the power of the Guru all that was destined to happen has been changed. There is also a level which is unaffected by fate. But there is a place where destiny exists, from which an adverse planetary constellation can be neutralized. By such neutralization something that was destined to happen can be averted and by the power of the deity invoked in the process, one may be saved. The fire of knowledge by which everything can be consumed is self-revealed. There, everything is possible—there, the impossible becomes possible. God is indeed Self-luminous. Always and everywhere is He.

Question : How can the restlessness of the mind be overcome ?

Mataji : By increasing restlessness it is overcome. The restlessness of the world only enhances duality.

So long as your mind is busy with the things of this world, your desires for worldly things will never be satisfied. When the mind is given its real nourishment, then only will it be at peace. When attaining to the supreme wealth of God-realization, the mind will be perfectly still. There is only God everywhere. HE alone IS ! HE alone and none else ! Man's duty is to provide the mind with pure food. Do not put your mind into dirt. When defiled it becomes agitated with yearning. Where Rama is, there is rest and peace, where Rama is not, there is unrest and and disease.

Question : Has one to reap the fruit of all one's good and bad actions ? How did action begin ?

Mataji : (laughing) From where it began ? God is without beginning and without end.

Question : How did action (*karma*) originate ?

Mataji : The world (*jagat*) is verily the Lord's. By His will, His imagination He has created it. God Himself is sporting with His own Self. He Himself loses Himself and then again searches for Himself. Creation has neither beginning nor end. One cannot say : When did it start ? All this is nothing but God's play. God is here, right in front of me, but I am not aware of it. He cannot remain without losing Himself—losing and again finding Himself. Finding gives bliss and losing misery. When a small child grows into an adolescent, the child disappears in the young man. To change thus is called to die. Births without end and deaths without end. How many times will you change your clothes ! In the *Ātmā* no change occurs. The *Ātmā* is beyond form. Who is it that dies ? And who that weeps ?

Question : Who prompts the intelligence ?

Mataji : God does; He is the actor. Again, one can also say, He is not the actor, He is only the witness of action. In the ever moving world God is staging His play. HE pulls the strings and we are the puppets. As He directs so we have to move.

Question : Does God induce my mind to engage in bad deeds ?

Mataji : What fruit you reap depends on what kind of tree you have planted. Perform pure action and you will get pure results. Wrong action will have bad consequences. If you become attached to money, property and so forth your true nature will be covered by want. By doing actions pertaining to man's true nature, he becomes established in his Self. Later the actions born of want are not attractive any longer. When you make efforts to realize your *Atmā*, you are desiring to find your true nature by its own momentum. But in actual fact you are trying to find your true nature while being attached to the realm of want. How wonderful ! You are craving for the power of Knowledge, but are actually attracting the power of ignorance. You are out for complete and perfect Knowledge, but as a matter of fact are acquiring fragmentary knowledge. The path of want is full of sorrow and the path of your true nature gives happiness—God-realization. All power is God's. It is He who gives you the power to reason, the power to act. Just as you provide food and other necessities by your own exertion, so you must use your capacity and your talents to find God. He who does not advance towards God, is on the road to death. The path of God-realization is full of ambrosia, it is the path of Immortality. This body says, if your mind feels drawn to God, use all your strength and energy in the duty of finding Him. The Supreme Mother, Supreme Father, Supreme Friend—one must endeavour to approach Him. Where is your home ? Your true home is in God. Who is your own ? Only God and none else. In whichever form your desire God—be it as the Lord whom you serve, be it as your own Self—on realizing Him, everything will become as it should be.

The body has to experience pleasure and pain. You have to bear want and emptiness. God-realization is supreme enjoyment. One who has renounced God (laughing ironically) he indeed is the greatest renunciate. The man who renounces the spiritual path is the most rigorous renunciate. If you move along the current of want, you will remain wanting. Endeavour to find the Supreme and you will attain to supreme bliss. Supreme bliss is immortal. But death is lurking in worldly enjoyment. When you were a child you were playing and romping about, now your childhood has passed away. In this manner there is death all along.

Question : Since God is doing everything, why does He not endow us with right intelligence ?

Mataji : The world is round and in continual flux. In God's play there are a great variety of shapes and modes. There are darkness and light and many different paths. There, everything finds its consummation in infinite movement, infinite manifestation and an infinite variety of states of being. Action aiming at God-realization is alone truly propitious. Become engrossed in such beneficient action and you will surely find God. Why is God not found ? Ask yourself this question ! Cultivate the attitude of mind that whatever happens, happens by God's Will. Decide definitely to perform actions directed towards God from now on. Something has to be explained here : From the point of view of Reality there is no such thing as good or bad. So long as your are identified with the body, you must not do anything bad. God never causes anyone to commit any wrong. This is only due to misunderstanding. The result of wickedness is misery. One has to purify one's vision. If you grasp the fact that all this is God's play, nothing will seem bad.

Question : How can one alter one's outlook ?

Mataji : By the contemplation of God.

A Pandit : The realm of want and one's true nature (*abhāva* and *svabhāva*) are talked about in the Isha Upanishad "*Vidyām cha avidyām cha* !"

Mataji : Pitaji, what you say about the Upanishad I hear from you. This body does not know about it.

Pandit : Mataji ! I am only learned One learns like a parrot. Of Reality I know nothing at all.

Mataji : While fixed at the standpoint of inequality, how can one come to know of the state of equality ?

Question : Has one to change one's clothes in order to attain to equality ?

Mataji : No, not one's clothes, only one's spectacles : in other words, one's vision has to be corrected.

Question : When some great evil is committed by someone and God induces another person to start a fast in order to reform the evildoer, why does not God cause the sinner himself to mend his ways ? Why should an "agency" have to intervene ?

Mataji : Pitaji, if someone receives an inspiration of this kind, what is there to ask ? A sick man takes the help of a doctor and a nurse to get well. The physician and the nurse try to restore the patient's health. According to your question, what need is there of a doctor or a nurse ? God Himself will cure the disease. Therefore it is said that God's play is of infinite variety.

Question : The evil-doer can also say : God has prompted me to do the wicked deed.

Mataji : No, he cannot. Why does one get ill ? In sickness there is no well-being. Where Rama is there is rest and ease and where Rama is not there is great uneasiness. But where is Rama not ? God's play has infinite variations. Good and bad, saint and sinner—through all of them God acts His play. To find fault is bad. Revise your outlook ! Why ! The wicked person is also one of God's manifestations. In the eyes of a saint nothing is bad. Look at all manifestations as God's. Where the pairs of opposites are, there evil is seen: remove this attitude! To see evil brings sorrow.

Question: Suppose I want to kill someone, is it a wicked attitude of mind? What can I do about it?

Mataji: You say to see evil is itself an evil. Do you see murder? This is a harmful outlook—it is not the vision that sees God everywhere. Where God is perceived in everything, there cannot be even the slightest trace of anything evil. I see wickedness because my vision is blurred. There are countless aspects to every single matter. According to a man's outlook things come into being. The one who perceives virtue will perform virtuous deeds and he who sees vice will do base actions. Suppose some *mahātmā* is absorbed in *samādhi*. The one who criticises everything will say: "Nonsense! This is no *samādhi*, the *mahātmā* is sleeping." But he who sees goodness everywhere will understand that it is *samādhi*. Seeing evil is itself a sin. One has to correct one's vision.

Question: If someone's desire for a man or a woman remains unfulfilled when he or she dies, will such an one have to be reborn as a ghost?

Mataji: One has to be reborn to fulfil one's desires. What the *Śāstras* say about this is for you to tell. If you behave like one belonging to the world of ghosts, you will be born in that world. Birth occurs according to one's tendencies and inclinations.

Question: I have heard it say that if a person is greedy for wealth, he will be reborn as a snake. How can the desire for riches be fulfilled in the body of a snake?

Mataji: Due to one's desire for it in countless former births, one is blessed with a human body. In the human body lies the power to realize God. Your behaviour will determine your next birth. By behaving like a snake one obtains the body of a snake. In God's creation everyone is born in perfect justice in keeping with all his actions. If depends on your state of mind at the moment of death what kind of body you will receive. One may also be reborn through the wish of doing a particular work. The fire of the Guru's power can consume the tendencies accumulated through many former lives. So long as all desires are not burnt up by the fire of knowledge or melted by *bhakti*, the inclination to perform action will certainly persist. If God is remembered at the time of death, this will bring about God-realization. What happens to the soul after leaving the body is determined by a person's state of mind at the last moment. If one has been a transgressor all one's life, how will virtuous desires occur at the end ?

Once upon a time there was a queen who was deeply religious. Much of her leisure was spent in worship and devotion and she was full of generosity and compassion for all. Her one great grief was that her husband, the King, was an atheist. He never pronounced the name of God. People therefore were under the impression that he was a disbeliever, while actually he was profoundly spiritual. Secretly he spent his life in constant communion with the Divine. Only he would never exihibit his true attitude of mind and thus appeared to be an agnostic. Once it so happened that he pronounced the word 'Rama' in his sleep. The queen who was by his side, heard it and was stunned with surprise. Overwhelmed with extreme joy, she, the next day, started big celebrations and distributed gifts all round. When the king asked her what what was the occasion for so much festivity, the Queen related to him what had happened in the night. The King said : "Oh, has the word 'Rama' escaped through my lips ? This was my well-guarded and most secret treasure—it is gone !" With these words he left his body.

Occasionally it may also happen that someone spends his whole life in misbehaviour, but due to hidden good tendencies accumulated in former lives, a complete change comes over him at the moment of death.

Question : What is the difference between *Ātmā* and *Paramātmā* ?

Mataji : That which is *Ātmā* is indeed *Paramātmā*. *Ātmā* actually means *Paramātmā*.

Question : Are then *Ātmā* and *Paramātmā* one and the same thing ?

Mataji : There is a famous saying : "Wherever there is an individual (*jiva*) there is Siva and in every woman there is Gouri." This is perfectly correct. The *Ātmā* is indeed the *Paramātmā*. Just as there is pure water and polluted water. The water is the same in both of them. The essential quality of water is equal in both. To drink pure water gives comfort and promotes health. When contaminated water is filtered, boiled and strained, it will be transformed into pure water. Stagnating water breeds germs. One *jīva* generates other *jīvas*. The *jīvātmā* may be compared to impure water. By the contemplation of God he is purified and finally revealed as the *Paramātmā* Himself. This is why God is in fact the Supreme *Ātmā*. The individual is that which is bound and where bondage is, there is misery. With the help of the *Ātmā*, having purified the *jīva* by the vision of the *Paramātmā*, transform it into the *Paramātmā*. That is to say, the water has to be filtered.

Question : How is the filtering achieved ?

Mataji : In order to filter, you must go to the Guru.

Question : How to search for the Guru ?

Mataji : The longing to seek God does not awaken in everyone. The yearning to find God must be roused within oneself. By the grace of Rama everything is possible.

Question : Why is God gracious to some and not to others ?

Mataji : What are you saying ! For God the distinction between one and another does not exist at all.

Question : How can one obtain the grace of Rāma ?

Mataji : God's grace is showered on all. God knows no partiality. Just as a mother gives to her children whatever they need. To the small infant she will give milk only and to the big boy solid food. She feeds her children what they can digest and assimilate. Likewise does God grant His grace to His devotee according to his condition and state. Everything is indeed God's. Your whole family is His and His alone. Work with your hands and at the same time repeat God's name. You have chosen Rama as your refuge, therefore constantly repeat His name. Rāma is making you work. In order to exhaust your *karma*, march forward, seeking the shelter of God's name.

——

"God alone is Truth, Happiness, Bliss. Do not set your hopes on anything except Supreme Beatitude, the Bliss of the Self. Naught else exists. What seems to exist outside of it is merely illusion. Try to find your Self!"

—Mata Anandamayi

Desirelessness*

Discrimination (*viveka*) makes it plain to a thinking man that he is not the body, and starts him on his voyage of self-discovery. The seeker henceforth knows no rest till he realizes the truth of his being, and in that process of discovery consists the whole gamut of his psychic evolution. The awakening of *viveka* marks the spiritual unfolding of man.

A fundamental test—a veritable touchstone—of one's progress on the path is the measure of his desirelessness; for when *viveka* illumines the mind, all dark corners of desire vanish.

Desire is born of *aviveka*, by man identifying himself with the body. There is no desire which has not its root in man's body-consciousness. Indeed, desire is the direct product of one's identifying oneself with, or attaching oneself to an individual, an object or an environment. This is the symptom of *aviveka*. Man has truly and firmly set his foot on the spiritual path only when, through *viveka* he has awakened to his not being the body. Therefore, desirelessness is the first and foremost fruit of *viveka*. It is the base on which alone the temple of spirituality can be raised. Desire throws us outwards; love of the Divine takes us inwards. To love the Divine, one must be free from the desires of the senses. "One cannot eat the cake and have it."

Desire cuts both ways. If indiscriminately fulfilled, it produces attachment, which causes it to rise again and again. If suppressed, it produces anger and resentment, which cloud and confuse the mind. Thus, either way it produces disharmony.

---

* Reprinted from : "A Saint's Call to Mankind", published by the Manav Seva Sangh, Vrindaban.

Even as the outgoing waters of the river flow into the sea, then evaporate in the form of clouds, rain down and rejoin the rivers and again flow back into the sea; similarly the man of desires continues to be drawn into the sea of *māyā*, revolving in the vicious circle of so-called life and death. In a life of indulgence in desires there is strain, not rest; motion, not equanimity; *bhoga*, not *yoga*; excitement, not peace. In the life of Self-realization, on the other hand, there is *yoga*, peace, joy and immortality.

When one truly despairs of the world giving one's lasting happiness, one's desires die and one practically gets a foretaste of death. A desireless soul is not afraid of death, but awaits death as a prospective passenger awaits the train when the signal is down. That, in reality, is *vairāgya* (desirelessness). *Vairāgya* is like a fire that burns the wood of *rāga* (attachment). As the fire subsides after burning the wood, so does *vairāgya* also subside after consuming attachment—when only *jñāna* (Knowledge) shines self-luminous.

There is no *viveka*, no *tyāga* (renunciation) no *tapas* (austerity) higher than true *vairāgya*. True *vairāgya* raises one above one's physical, subtle and causal bodies and ushers one into Life Eternal. Further, as a by-product, it beautifies and illumines the fleeting life while it lasts. That is to say, all the virtues associated with divinity spontaneously flower in the aspirant. *Vairāgya* does not mean hatred or contempt for the body or the world but only equanimity by giving them their right places. Like sewage, it irrigates the world and leaves it more prosperous.

True *vairāgya* means the raising of the value of the enjoyer above the transitory objects of enjoyment.

Many persons pose *vairāgya*, detachment from the world, because they have had disappointments, frustrations and bereavements. They, however, retain their attachment to their bodies. This is false *vairāgya*, and only produces *dwesha* (animosity) towards others, which is another name for *rāga* (attachment). For *rāga* and *dwesha* are two sides

Desirelessness*

Discrimination (*viveka*) makes it plain to a thinking man that he is not the body, and starts him on his voyage of self-discovery. The seeker henceforth knows no rest till he realizes the truth of his being, and in that process of discovery consists the whole gamut of his psychic evolution. The awakening of *viveka* marks the spiritual unfolding of man.

A fundamental test—a veritable touchstone—of one's progress on the path is the measure of his desirelessness; for when *viveka* illumines the mind, all dark corners of desire vanish.

Desire is born of *aviveka*, by man identifying himself with the body. There is no desire which has not its root in man's body-consciousness. Indeed, desire is the direct product of one's identifying oneself with, or attaching oneself to an individual, an object or an environment. This is the symptom of *aviveka*. Man has truly and firmly set his foot on the spiritual path only when, through *viveka* he has awakened to his not being the body. Therefore, desirelessness is the first and foremost fruit of *viveka*. It is the base on which alone the temple of spirituality can be raised. Desire throws us outwards; love of the Divine takes us inwards. To love the Divine, one must be free from the desires of the senses. "One cannot eat the cake and have it."

Desire cuts both ways. If indiscriminately fulfilled, it produces attachment, which causes it to rise again and again. If suppressed, it produces anger and resentment, which cloud and confuse the mind. Thus, either way it produces disharmony.

---

* Reprinted from : "A Saint's Call to Mankind", published by the Manav Seva Sangh, Vrindaban.

Even as the outgoing waters of the river flow into the sea, then evaporate in the form of clouds, rain down and rejoin the rivers and again flow back into the sea; similarly the man of desires continues to be drawn into the sea of *māyā*, revolving in the vicious circle of so-called life and death. In a life of indulgence in desires there is strain, not rest; motion, not equanimity; *bhoga*, not *yoga*; excitement, not peace. In the life of Self-realization, on the other hand, there is *yoga*, peace, joy and immortality.

When one truly despairs of the world giving one's lasting happiness, one's desires die and one practically gets a foretaste of death. A desireless soul is not afraid of death, but awaits death as a prospective passenger awaits the train when the signal is down. That, in reality, is *vairāgya* (desirelessness). *Vairāgya* is like a fire that burns the wood of *rāga* (attachment). As the fire subsides after burning the wood, so does *vairāgya* also subside after consuming attachment—when only *jñāna* (Knowledge) shines self-luminous.

There is no *viveka*, no *tyāga* (renunciation) no *tapas* (austerity) higher than true *vairāgya*. True *vairāgya* raises one above one's physical, subtle and causal bodies and ushers one into Life Eternal. Further, as a by-product, it beautifies and illumines the fleeting life while it lasts. That is to say, all the virtues associated with divinity spontaneously flower in the aspirant. *Vairāgya* does not mean hatred or contempt for the body or the world but only equanimity by giving them their right places. Like sewage, it irrigates the world and leaves it more prosperous.

True *vairāgya* means the raising of the value of the enjoyer above the transitory objects of enjoyment.

Many persons pose *vairāgya*, detachment from the world, because they have had disappointments, frustrations and bereavements. They, however, retain their attachment to their bodies. This is false *vairāgya*, and only produces *dwesha* (animosity) towards others, which is another name for *rāga* (attachment). For *rāga* and *dwesha* are two sides of the same coin. The body is the world in miniature and is made of the same stuff; and indeed, for the individual consciousness the world is a projection of one's body-consciousness. True *vairāgya* springs from one's realizing the phantasmagoria of the body. Then only one is truly detached from the world and is dissociated from it completely. It is impossible to be detached from the world while one is attached to one's body. As long as one is identified with one's body, one is bound to be attached to the world and the pose of *vairāgya* is a passing reaction, a remedy worse than the disease.

What distinguishes desire from the true want of the soul is this. Desire is a pursuit which allures, but from whose course the soul achieves nothing : a mirage. The true want of man restores one to the Beloved, through single-minded and one-pointed aspiration. Indeed, what distinguishes a *sādhaka* from the ordinary man of the world is that whereas the latter runs after manifold objects of desire, the desires of the former have fused into one central desire : intense aspiration to realize God or Truth.

The man of many desires casts long shadows over his fellow-beings. Only a desireless soul can be a true servant of mankind. Creative energy flows out of the desireless soul, not from the mud of desire. Desire is a dissipation of energy.

Desire is the food, the source of sustenance, of the ego. The cessation of desire makes for the disappearance of the ego. With the disappearance of the ego opens the flood-gate of Live Divine.

The natural want of man is covered over by the unnatural phantom of desire. When the natural want of man consumes the artificial desire, he becomes desireless; and Life Eternal follows desirelessness even as day follows night.

The *sādhaka* should ponder over what makes any object or body in the world of appearances glow with beauty or lovableness. The truth of the matter is that whatever the object to which the Self lends itself, that object glows with the light of the Self. The wise one does not run after the shadow. The *sādhaka* who is still distracted by the objects of the senses has not yet realised that just as the sweetness in all sweetmeats is of the sugar, so whatever taste or attraction appears anywhere in anything is His.

The world seems to be indispensable to man only as long as he is bound to it by attachments. When attachments are dissolved, the *sadhaka* realises his freedom. Desirelessness is the key to fearlessness.

The world does not love one who constantly begs from the world. A moment lived in desirelessness is more significant than a hundred years lived in desire.

The pleasures of the senses—to which desires cater-are an animal or sub-human target, not human. As a gardener removes the weeds from the grass, even so the *sādhaka* removes desires from his mind.

Desire can only die a natural death when we are not in a state of want. The state of want is caused by our identifying ourselves with individuals, objects and environment. Detachment from these releases our true nature that is the Self and which is free from any want. For a *sādhaka*, however, whose *viveka* is not enough of a flame to burn out all desire, a few useful ideas are suggested.

The first step towards freeing one's self from desire is to introspect one's desires; to fulfil only such desires as relate to the present; which it is in our power to fulfil and the fulfilment of which does not involve harm to another. At the same time, in the fulfilment of such desires too one should refrain from indulging in the sense of excitement thereof, for that would bind us and cause such desires to recur again and again and form a vicious circle. The rest of the desires must be surrendered by deep thought. Restricting ourselves to the fulfilment of inescapable desires only gives the strength to renounce superfluous desires, and releases *viveka*. The only place that a limited fulfilment of desires has in the life of an aspirant is to allow the same, within limits as laid down by *dharma*, with the purpose of outgrowing them through experience. Otherwise, the fleeting sensation of pleasure in the fulfilment of desires would cause a chain of ever-fresh rounds of desire and produce a vicious whirlpool.

The fulfilment of such desires should not, however, leave any trail of *samskāras* on one's mind for being reaped in the future. There must be no contemplation of the objects of desire with reference to the past or future. Contemplation of desired objects is worse than the fulfilment of desires.

Secondly, the sādhaka should engage himself solely in discharging the obligations to others which he has incurred as a result of his former identifications. This means that he must fulfil the rights of others by the performance of his duties to them; and that whatever rights he has imagined to be his as a result of *aviveka* must be renounced by him. The sense of one's rights in a *sādhaka* only betrays his own sense of poverty. The man who claims rights from another has in fact subordinated himself to another, for he has made his satisfaction and happiness dependent on another's mercy. The *sādhana* of man consists in his yearning to meet his Beloved or to realize Truth. When the sādhaka is freed from desire, he is freed from all bondage and attains life in Truth and Freedom.

The fulfilment of others' rights by our service, and the renunciation of one's own so-called rights, is thus the first step towards desirelessness. This implies selfless service to others. The *sādhaka* should not indulge in any undertaking that is not service to another.

Paradoxical as it may seem, complete discharge of one's duty to another frees one from attachment to the other.

Atonement and prayer, control of the senses, contemplation of God, quest after Truth are some of the other useful aids to the *sādhaka* seeking to rid himself of desires.

True renunciation is of the whole, not of a part. As long as a single desire remains to pollute the mind, it is a potential nucleus of disease. The ending of desire does not come from any change in one's environment but by the right use of one's existing environment. Right use of one's environment is the surest means of release from the environment as well as from desire and outgoing activity.

The desireless man hears for the pleasure of the speaker; speaks for the pleasure of the listener; eats for the pleasure of the feeder; meets for the pleasure of the other; indeed, he lives only for the service of others or for the pleasure of his Lord.

"All is His, all is He ; to leave everything to Him must be your sole endeavour. Invoke His name, meditate on Him ; ever abide in the remembrance of Him. Not praying for anything that is of this world, strive to abandon yourself without reserve to Him. In Him no want of any kind exists, no pain, no agony—in Him is all attainment, the summit of fulfilment, rest, repose , tranquility."

—Mata Anandamayi

In Remembrance

A JEWISH DEVOTEE FROM GERMANY

(1)

Clothed in the glories of the Universe
around your head a crown of stars,
remote
and yet so near.
Bathing me in the still waves of peace and bliss.
With the essence
of all the beauties of the universe
soothing the sores of homesickness for Thy abode eternal
and feeding silently my heart.
Oh Ma !

In remembrance Solan 1946.

(2)

Ma !
Don't leave me in the turmoils
of this foolish world,
make me remember Thee, my real Self.
Then, in a twinkling of an eye
the clouding structures fall to pieces,
hiding no longer Thy shining Face.

Europe 1967.

(3)

No words can have this power of entrancing Beauty
Thy darshan
revealed.
Oh Queen of May.

In remembrance Raipur 1968.

(4)

You gladdened my heart
with the smile of Your welcome,
You played the game of hide and seek.
Where are You, Ma,
Where can I find You ?
Within that body,
inside those walls ?
Hilariously
birds and trees
chuckled with laughter
accompanied by Krishnaji's flute :
Found You in Vrindavan.

In remembrance Vrindavan 1968.

(5)

To feel the silence of the mighty river Ganga
cleansing hidden corners of the mind
instilling ecstasy divine within the heart

The mighty river Ganga

I can follow with my eyes
her majestic flowing up to the horizon

The mighty river Ganga

I can know her with my heart
when turning towards the mother of Bliss

Ma Anandamayi Ma.

In remembrance Varanasi 1968.

——

> *"Bear in mind that God's Name is He Himself in one form; let it be your inseparable companion. Try your utmost never to remain without Him. The more intense and continuous your efforts to dwell in His Presence, the greater the likelihood of your growing joyful and serene. When your mind becomes vacant, at least try to fill it with the awareness of God and His contemplation."*
>
> *—Mata Anandamayi*

Bhakti Yoga

PROF. SHANTI PRAKASH ATREYA, M. A., PH.D.

Bhakti Yoga begins with *Upāsana* or worship. The word *Upāsana* means sitting near (i.e. drawing or coming near towards) God or any of his forms believed by the devotee to be God. In the Brihadaranyaka-Upanishad, it is said : "The Self (*Ātmā*) is to be worshipped, is to be pleased. Having known its nature, one goes beyond the pale of death. There is no other way for well-being". (Brihad, Up. 1. 4. 7). God should be worshipped as often as possible, but according to the Rig-veda (8.27.21.) thrice, according to the Athar-Veda (11.2.16.) four times daily. These four times are Sunrise, Noon, Evening and Night. One should worship God in a secluded and holy place, with a calm mind. God should be approached for His grace and His benign qualities praised. The essence of worship lies in faith in God and an unselfish life for Him. What was named *Upāsana* in the Vedic Literature came to be known as *Bhakti* in the *Purāṇas* and later in religious literature. In course of time it acquired an equal status with *Yoga* and *Jñana* as a method of attaining Liberation. The Bhagavad Gita not only places *bhakti* on the same status as dhyana, jnaña, and selfless performance of duty but in places, *bhakti* (devotion or love) for God higher than any other method, and towards the end of the sermon on the battle field, which the Bhagavad Gita is, Sri Krishna advises Arjuna to become a whole-hearted exclusive *bhakta* of God. Here we shall speak of the *bhakti-yoga* as a technical process of realization of Union (as variously conceived by *bhaktas*) of the individual soul with the Divine Being.

Narada in his Bhakti-Sütras has defined bhakti as the utmost love (*Parama Prema*) of God. Shandilya in his Bhakti-Sutras says, "*Bhakti* is the utmost attachment or love for God, and it is said that one who has that, becomes immortal." In Devi Bhagavata it is said that *bhakti* is *anurāga* (attachment) to God. According to Narada (Bhakti Sūtras-B, 19), it should be so deep that everything belonging to the *bhakta* is offered to God and on being separated from Him, he feels unbearably uneasy and unhappy.

Bhakti is of three kinds: *Vaidhi*, *Rāgātmikā* and *Parā*.

Vaidhī Bhakti. (Devotion with certain forms and rules of the forms) is the first stage in the entire process of the *yoga* of *bhakti*. It consists of the following nine activities in relation to an image (*Pratimā*) of God, who at the first stage of divine love is conceived as personal. (1) *Shrāvana*, hearing about God and his qualities and acts of grace mentioned in religious books. (2) *Kīrtana*, talking about and singing the praises of God or His incarnations (avatāras), (3) *Smarana*, remembering God constantly, (4) P*adseva*, touching and massaging the feet of the Lord, (5) *Archana*, worshipping the image of God with incense and lights etc. (6) Bowing down to Him or His image, (7) *Dāsyam*, serving Him in all possible manners as a selfless and faithful servant (8) *Sakhyam*, loving Him and behaving with Him as one would to a friend, with a friendly affection. (9) *Ātmānivedanam*, Self-surrender to Him. It is offering himself and all one calls one's own to God without any reservation, to be used by Him in any way. As already said, *Vaidhī* devotion is practised in relation to a personal God or His incarnation or image. It is difficult for an ordinary man to conceive of an impersonal and formless God and to worship or love Him. Hence Sri Krishna tells Arjuna in the Bhagavad Gita, "Greater is the difficulty of those whose minds are set on the unmanifested, for the unmanifested, which is the final goal, is very difficult for the embodied man to reach." But it has to be kept in mind that the worship of images and forms is not to be continued always. It has to be given up and transcended. Vasistha tells Ramchandra in Yogavasistha, "The formal and artificial worship of God is meant only for those whose minds are not yet developed and who cannot control them from childlike fickleness. (6a.30,5). The devotion to Vishnu (personal God) is prescribed for those fools who run away from *Śāstras*, effort, and thinking, so that they may be engaged in good activities." (5.43.20.). In the Tantras, a gradation of attitudes towards God or Self is maintained in which the experience of feeling identical with the Supreme Brahman is at the top, and formal and external worship of a personal God or His image occupies the lowest place. The grades commencing from the lowest and rising up and up are: (1) External worship, (2) Prayer and *japa* (repetition) of the name of God or of any mantra (3) *Dhyāna* or contemplation of God and (4) the highest experience of one's identity with the Absolute Brahman. The external worship *Pratīka Upāsanā*, however, has its utility in making the mind attentive and should be continued until the mind is able to contemplate God without form. Any form of a personal God and any image of God is equally efficacious. (5) *Rāgātmika bhakti*—(Devotion in the form of deep love and attachment to God). It is the attitude of love for God in which one feels deeply attracted towards Him and experiences peace and joy in thinking of Him. In the "Bhakti Sutra", Narada says that at this stage of love for God one becomes *siddha*, perfect, *amrita*, immortal, *tripta*, completely satisfied, when God's love is attained. One thinks of nothing else but God. One is so much absorbed in God's love that he does not think of anything else. All his relationship is then with God alone. This relationship is of as many types as a man has in his society with other fellow-men. Such as that of a servant to his master, of a friend to his friend, of a lover to his beloved, of a parent to his or her child, of a wife to her husband. The lover offers everything to God, becomes completely absorbed in the thought of Him, and sometimes weeps bitterly in separation from Him. The devotee becomes entirely His, worrying not even about his own existence or being. Thus he becomes prepared for the next and last stage of devotion, *Parā Bhakti.*

Parā Bhakti (Highest Devotion). At the highest stage of love, the lover and the object of love become completely identified ; just as after the *Rāsa Līlā* every Gopi felt that she was Krishna. At this stage the individual soul takes the form of the Divine Being and begins to feel as such. Not only that the devotee sees God in every object. The world appears to be a Divine *Līlā* in which every player is also a divine manifestation. Such a *bhakta* is always in *Bhāva-Samādhi* in which nothing but Love, joy and the utmost satisfaction, complete union, and complete negation of oneself is experienced. Such a *bhakta* behaves in the world as described in the 12th chapter of the Bhagavad Gītā: "He hates no creature, he is friendly and compassionate to all, he is free from attachment and egoism, balanced in pleasure and pain and forgiving, ever content, steady in mediation, self-controlled and possessed of firm conviction, with mind and intellect dedicated to Me. Such a devotee is dear to Me." (12.13.14.) It is certainly a great thing to love God, but it is much greater to be loved by God. And it is only through *Bhakti Yoga* that this greatest of all things is attained.

Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak

A DEVOTEE

PARMANDAL

उमां हैमवतीं शुभ्रां कोमलांगीं शिवप्रियाम् ।
नमामि शुभ्रवस्त्रां त्वां देहि विद्यां शिवप्रिये ॥*

(I bow in reverence to Uma, the daughter of the snow-clad Himalayas. Her body in comely and of white complexion. She is lovely and beneficent to all and robed in white garments. O, beloved of Siva, grant me knowledge.)

Parmandal is a place of pilgrimage situated in the Sivalik mountains at a distance of about thirty-five kilometers east-south-east of Jammu.

There is a stream sacred to the goddess Uma flowing over the sands in Parmandal.

The pilgrims take bath in its holy waters and worship on its banks.

On a mount at this place there is a temple of Siva called Umapati Mahadeva. It is said that in very ancient times the great sage Kashyapa worshipped Shankara at this spot. Besides the main temple of Umapati there are many smaller shrines of Siva. The place was forgotten by the people but long after it was discovered by a King named Beni Datta.

It is said that Maharaja Mansing of Jaipur visited Parmandal after defeating the Afghans in Kabul when he acted as a general of the Moghul emperor Akbar. At that time he made big donations for the renovation and upkeep of the shrines. At a later date Maharaja Ranjit Singh of Punjab visited this sacred place in April 1838 and bathed in the sacred waters on the full moon of Chaitra. He made substantial gifts in cash and kind for the reconstruction and maintenance of the temples.

---

* **Shri Aryashtakam, verse-4.**

वन्दे शम्भुमुमापतिं सुरगुरूं वन्दे जगत्कारणं ।
वन्दे पन्नगभूषणं मृगधरं वन्दे पशुनां पतिम् ॥
वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं वन्दे मकुन्दप्रियं ।
वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शङ्करम् ॥

[Reverence to Shambhu, the Lord of Uma and preceptor of the gods. Reverence to Him, who is the cause of the universe. Reverence to Him, whose ornament is the serpent and who is clad in a deer-skin. Reverence to Him, who is the Lord of all beings. Reverence to Him, whose eyes are the sun, the moon and the fire. Reverence to Him, who is loved by Mukunda (Krishna). Reverence to Him who gives boons and in whom the devotees take refuge. Reverence to Siva Shankara].

PARASPUR

Paraspur is at a distance of about twenty-two kilometers west-north-west of Srinagar. It is about four kilometers south-west of Shadipur, which is about nineteen kilometers north-west of Srinagar.

The ancient city of Parihasapura, of which Paraspur is a corruption, constructed by the great King Lalitaditya (714-750 A.D.); was located at this place. The sacred confluence of the Vitasta (Jhelum) and the Sindhu was near Paraspur in the hoary past. In those days the ancient city was adorned with many fine temples containing images of gold and silver. It was destroyed by Shikandar–But-Shikan. The ruins of a Buddhist monastery ('Vihara'), a mound ('stupa') and a prayer hall ('chaitya') can still be seen at Paraspur.

According to Kalhana's Rajatarangini, Lalitaditya constructed four big temples in Parihasapura. They were

---

† The successor of Shikandar-But Shikan however respected Hindu and Muslim shrines equally.

dedicated to Mukta-Keshava, Parihasa Keshava, Maha Varaha and Govardhanadhari. The image of Mukta-Keshava was of gold and those of Parihasa Keshava and Govardhanadhari of silver. The image of Vishnu in the Maha Varaha temple was clad in golden armour.

The following verses from the Rajatarangini tell about the images of gods in those temples.

विरजे राजतो देवः श्रीपरिहासकेशवः ।
लिप्तो रत्नाकरस्वापे मुक्ताज्योतिर्भरैरिव ॥
नाभिनलिनकिञ्जल्कपुञ्जेनवारञ्जितः ।
अचकात्काञ्चनमयः श्रीमुक्ताकेशवो हरिः ॥
महावराहः शुशुभे काञ्चनकवचं दधत ।
पाताले तिमिरं हन्तुं वह्नीन्निभ रविप्रभाः ॥
गोवर्धनधरी देवो रजतस्ते कारितः ।
यो गोकुलपथः पुरैरिव पाण्डुरतां दधे ॥*

(The glowing silver image of Vishnu called Parihasa-keshava shone like the god Vishnu while resting on the bed of the ocean flooded with the radiant light of pearls.

The famous image of Mukta-Keshava made of gold shone as if it had taken its lustre from the many stems of the lotus rising from Vishnu's navel.

The image of Mahavaraha, clad in golden armour shone forth like the sun shedding its radiant light to overcome the darkness in the world below.

The image of Govardhanadhara was made of silver. It was white as the streams of milk flowing from herds of cows.)

In ancient times the confluence of the sacred Vitasta and Sindhu was at Trigam, which is situated about two kilometers north-east of the ruins of the Parihasapura temples. The Bonarsar lake at Trigam is regarded as very holy. It is fed by the waters of the Vitasta. Long ago there was a temple of Vishnu called Vainyaswami at Trigam. King

---

* The Rajatarangini, Fourth Taranga, Slokas 195-198.

Jayasimha (1128-1149 A.D.) constructed a temple with towers at Trigam. This is mentioned in the following verse of the Rajatarangini.

भूतेश्वरं मठ कृत्वा त्रिग्राम्यामथपातयत ।
तोयं कनकवाहिन्या वितस्तयाश्च यः पिद्रन् ॥*

[He built a Matha (temple with a tower) at Bhuteshwara and one at Trigrami and offered to fore-fathers the waters of the river Kanakavahini at the one and the water of the Vitasta at the other].

The Bonasar lake is now visited by the pilgrims in connection with the pilgrimage to Kapalamochana Tirtha in the neighbouring village of Digam (ancient Dvigram) situated about two kilometers west of Shupiyan. It is on the left bank of the river Rimbyar. Kapalamochana Tirtha is a sacred spring. By bathing in it Siva absolved himself of the sin of cutting off one of the heads of Brahma. It is said that as soon as Siva cut off the head of Brahma, the skull of the forehead stuck to his hand and could not be separated due to the great sin he had committed by such killing. When Siva bathed in this holy spring at Digam he was freed from the sin and the skull fell away from his hand.

The pilgrims visit this sacred place in the month of Shrāvan (July August).

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं
रोहिद्भुतां रिमियिणुमृषस्य वपूषा ।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं ते दयापि त्यजति न मृगव्याधरमसः ॥*

[When the Lord of Creatures, overcome by a sudden desire
For His own daughter
So urgently desired to possess her

---

* The Rajatarangini, eighth Taranga, verse-3356.

* Shivamahimnastotram, verse 22. Translation by Arthur and Avalon.

That He changed into a stag ;
As she fled from Him in the form of a hind,
Thou did'st (in anger) bend Thy bow against Him
As He sped in fear to the heavenly spaces ;
And, Oh Lord ! the force of Thy hunter's hand
Has even now not released Him.]

SHADIPUR

वसन्तं कैलासे सुरमुनिसभायां हि नितरां
ब्रुवाणं सद्धर्मं निखिलमनुजानन्दजनकम् ।
महेशानी सान्तत्सनकमुनिदेवर्षिसहिता
महादेवं वन्दे प्रणतजनतापोपशनम् ॥*

[Veneration to Mahadeva (the great God), who dwells in Kailasa with the great Goddess (Parvati). He is a saint like Sanaka and the great sages, and always speaks about the true religion in the assembly of gods and sages, he gives joy to all men, and relieves from pain those who worship him].

Shadipur is situated on the left bank of the Jhelum (ancient Vitasta) river at a distance of about nineteen kilometers north-west of Srinagar in Kashmir. It is opposite to the confluence of the Sind and the Jhelum which is regarded as very sacred. There is an ancient temple of Mahadeva at Shadipur.

About this sacred confluence and how it was shifted to its present position, Kalhana tells in a number of verses, two of which are given below :

वामेन सिन्धुस्त्रिभ्या वितस्ता दक्षिणेन तु ।
यान्त्त्रौ यें समगंसातां प्रा ंन्यस्वामिनोन्तिके ॥
वर्त्तंते महानद्योः कल्पापायेऽप्यनत्ययः ।
संगमौ नगरोपान्ते स सुययोपक्तमस्तयोः ॥*

(The two great rivers, Sindhu and Vitasta, formerly meeting near the temple of Vainyaswamin (Vishnu) and flowing to the left and right respectively of Trigram, have to this day in the vicinity of the city (Srinagar) their confluence which Suyya[†]planned, and which will last to the end of the world].

---

* The Rajatarangini, fifth Taranga, verse--97-98.

The pilgrims perform their ablutions and worship in the angle of the two rivers on the right bank of the Vitasta opposite to Shadipur. This sacred confluence is known by the name of Prayaga in Kashmir. There are references about it in the Nilamata as well as in the Rajatarangini and the Mahabharata, Vana Purva.

गङ्गासिन्धुस्तु विज्ञेया वितस्ता यमुना तथा ।
स प्रयागसमो देशस्तयोर्यत्र तु सङ्गमः ॥[*]

[The Sindhu is to be regarded as the Ganga and the Vitasta as the Yamuna. The place where they have united is as sacred as Prayaga (Allahabad)].

Just as the people desirous of moksha (salvation) used to cast themselves down into the waters at the confluence of the Ganga and the Jamuna at Allahabad and give up there bodies, so also the people in Kashmir used to leave their lives in the waters of the confluence of the Vitasta and the Sindhu at this place. The following verse from the Rajatarangini tells about such an incident.

तथा याते प्रभोः पुत्रे मित्रशर्मा शुचान्वितः ।
वितस्तासिन्धुसंभेदे सभार्यां जिवितं जहौ ॥[**]

[When his King's son (Kaivalyapida) had thus departed, Mitrasharma was overtaken by grief and he and his wife gave up their lives at the confluence of the Vitasta and the Sindhu.]

[†] In order to honour Suyya for his great achievement a town was called Suyyapur. The present name of this place is Sopur which is a corruption of Suyyapur.

[*] The Nilamata, verse-297.

[**] The Rajatarangini, Fourth Taranga, Verse-391.

At a little distance above the confluence of the Vitasta and the Sindhu lies the sacred spot called 'Gaya Tirtha' where the pilgrims perform 'Shrādh' and 'tarpan' (propitiating the departed souls by offering water).

SENIBATTI

Senibatti village is situated in a gorge in the mountains in Peristan on the northern side of the valley just east of the village of Halan. It is at a distance of about fifteen kilometers north-east of Ramban which is about thirty-seven kilometers south of Banihal in Kashmir.

There is a sacred shrine in the village.

SHARDI

नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि ।
त्वामहं प्रार्थये नित्यं विवादानं च देहि मे ।।*

[O Goddess Sharada, abiding in the land of Kashmir ! Obeisance to Thee. Ever do I beseech Thee, Grant unto me the gift of learning].

Shardi village is on the right bank of the river Kishanganga near Sangam, the junction of the sacred Madhumati and Kishanganga rivers. It is about one hundred and forty-two kilometers north-north-west of Sringar by road and tracks. The path passes through Sopur, Kupwara, Raghunathpur, Jumagarh and Dudhnihal. From Dudhnihal to Shardi is only sixteen kilometers. (Srinagar to Sopur is forty-eight kilometers. Sopur to Kupwara is about forty-three kilometers. Kupwara to Raghunathpur is about ten kilometers. Raghunathpur to Jumagarh is fifteen kilometers and Jumagarh to Dudhnihal ten kilometers).

This sacred spot is under the possession of Pakistan since 1947.

---

* Saraswaṭirahasyopanishad.

Shardi is famous for its ancient shrine of the goddess Sharada. It is also called Sharada Pith, Sharadashrama and Sarvajnapith. The holy spot is situated on a small hill on the bank of the Kishanganga river. At present perhaps there are no temples there except the ruins. It is said that when the temple was there, there was no image of the goddess in the temple but a slab of stone covered with vermillion which was worshipped as the emblem of the goddess Sharada. According to Alberuni, however, there was a wooden image of the goddess at Shardi in those days.

According to Sharadamahatmya (the book describing the glory of Shāradāpith) the sage Shāndilya, son of Matanga, worshipped the goddess Saraswati at this spot in her triple form of Shāradā, Saraswati and Vāgdevi. The goddess was pleased with his devotion and revealed her divine nature to the sage. The sage, besides worshipping the goddess, performed 'Srādh' (Obeisance to departed fore-fathers and 'tarpan' (offering of water to the departed souls) with the water of Mahasindhu (Kishanganga river), half of which was turned into honey and formed the stream Madhumati. Since that time bathing and performing 'tarpan' and 'srādh' at the confluence (Sangam) of the Kishanganga and the Madhumati are regarded as very auspicious. The pilgrimage to the sacred spot takes place in the bright half of the month of Bhadra (August-September). Before Pakistan occupied this holy spot, fairs were held at Shardi every year during Navaratri.

Kalhana tells about this sacred spot in the following verse of the Rajatarangini.

आलोक्य शारदां देवीं यत्र संप्राप्यते क्षणात् ।
तरङ्गिणी मधुमती वाणी च कविसेविता ॥*

---

* The Rājataranginī.

[After visiting the shrine of the goddess Sharada, one reaches at once the river Madhumati and the river Vani (Saraswati**) worshipped by the poets.]

According to Bilhana, a Kashmiri poet of the eleventh century, the goddess Sharada is said to resemble a swan, carrying as her diadem the glittering gold washed from the sands of the Madhumati, which is bent on rivalling the Ganga. The goddess, spreading lustre by her fame, brilliant like crystal, makes even the Mount Himalaya, the father of Gauri, raise his head higher as a sign of pride for having her residence in the Himalayas.

The great Shankaracharya visited Shardapith in the eighth century A.D. He defeated the great scholars of this place in learned discussions. He was then allowed entrance into the shrine of Sharada and given the title of *'Sarvajña'* (one who knows everything). The Sanskrit book named 'Shrimachchhankaradigvijayah' written by Shri Vidyāranya tells about the great philosopher's stay at Sharadapith. Two verses from the above mentioned text are quoted below.

जम्बुद्वीपं शस्यते स्यां पृथिव्यां
तत्राप्येतन्मण्डलं भारताख्यम् ।
काश्मीराख्यं मण्डलं तत्र शस्तं
यत्राऽऽस्तेऽसौ शारदा वागाधीश ॥
द्वारैर्युक्तं माण्डपैस्तच्चतुर्भिर्वेव्या
गेहं यत्र सर्वज्ञपीठम् ।
यात्राऽऽरोहे सर्वेवित्सज्जनानां
नान्ये सर्वे यत्प्रविष्टुं क्षमन्ते ॥*

(There is a land called Bharata in the island of Jambudwipa on this earth. In it there is a famous country named

---

**There is a large stream called Kankatori almost opposite to Shardi, which, flowing from the snowy range of hills, meets the Kishanganga from the north, Its ancient name in Saraswati.

*Shrimachchhankaradigvijayah, Chapter 16, verses 55-56.

Kashmir. In Kashmir there is the goddess of speech called Shāradā. Her abods called Sarvajnapitha has got four oors on the four verandas on four sides. Only a *Sarvajña* damong the good who has got knowledge of everything, can secure entrance to that shrine ; none else.)

Shri Ramanuja also visited this sacred place at a later date and defeated the great scholars in learned discussions. The goddess was very pleased with him and as a token of her grace he received from the 'pandits' (scholars) of this place, the rare sacred text called Bodhayana Vritti and a golden image of the god Hayagriva. The latter is still worshipped in a temple in South India.

Since Shardi is at a great distance from Srinagar and difficult to reach, many Kashmiris instead of taking the trouble of going there, visit a sacred spring called Sharadakunda which is near the village Tsatsa situated about six kilometers north of the Dal lake.

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगदव्यापिनीं
वीणापुस्तकधरिणीमभयप्रदां जाड्यान्धकोरापहाम् ।
हस्ते स्फटिकमालिकां च दधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥*

[I bow in reverence to Shārada, who is the greatest and foremost of all the goddesess, who possesses all the highest qualities, who gives knowledge, who is white, who is the essence of the learned discourses about Brahman (the Supreme Allpervading cause of all that exists), who is holding the veena and book in her hands, who assures protection from fear, who dispels the darkness of ignorance, who holds a garland of white crystals in her hand and who is seated on a lotus].

---

* A rare sacred text.

**Hayagriva is an incarnation of Vishnu with a head like that of a horse. By taking this form, Vishnu recovered the Vedas from the demons.

Mātri Lilā

(15th *September* 1969—15th *January* 1970)

On September 10th night, Mataji reached Varanasi from Delhi. From September 12th to 25th two *Bhāgavata Saptahas* were held, one after another. The first one was performed for the late Raja Saheb of Achrol by his widow and brother. The Raja Saheb had been a staunch devotee of Mataji. Sri Srinath Shastri had been specially called from Vrindaban. In the mornings he recited the Sanskrit version in the decorated Chandi Mandap, in the afternoons he would explain in his lucid, lively and entertaining Hindi. This was the first *Bhāgavat Saptaha* held in the Anand Jyoti Mandir in front of Sri Gopalji's image in Mataji's presence. On the day Sri Krishna's birth was described, there was special *bhoga* in the festively decorated *mandir* and Mataji herself distributed *prasāda* in the evening. The second reading of the *Srimad Bhāgavata*, also by Sri Srinath Shastri, was the *Bhāgavata Jayanti*, which is a yearly function of the Varanasi Ashram, observed in remembrance of the original *Bhāgavata* that was related in ancient times by Sri Sukhdeva to King Parikshit at Sukhtal. After many years Mataji once again blessed this celebration by her holy presence.

At the same time several other functions went on in different parts of the Ashram. One day there was *abhisheka* of the *Nārāyana Silās* with fifty seers of milk and another day, one thousand and eight *tulsi* leaves were offered to *Nārāyana* by Sri Narayana Swami, which took about eight hours. Both rites were performed in Mataji's presence and dedicated to Sri Haribabaji's recovery. There was also *Rudrābhisheka* going on simultaneously.

On September 22nd, Mataji went to see Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj who was lying ill at the

B.H.U. Hospital. She asked him to convalesce in our Ashram after leaving the hospital. He accepted Mataji's invitation a few days later and we are happy to say that his health had improved. Ashramites and visitors were permitted to go and ask him questions at fixed hours and the great scholar used to give enlightening replies.

On September 28th, a much loved and revered devotee and ashramite of many years' standing left her ailing body at a ripe old age in Ma's presence. She was known under the name of "Mouni Ma", which had stuck to her since she, long ago, had kept *mouna* for seven whole years. As is fitting for a *sannyāsini*, her body was taken in sitting posture on a boat and immersed in the midstream of the Ganga with a stone slab.

On October 3rd, Mataji went to Naimisharanya with only two companions for three days' rest. Swami Paramananda was there to supervise some building work and a few of the Ashram girls had gone there earlier for solitary *sādhanā*. There was no programme, no crowd, and Mataji could relax. On the 7th afternoon she was back at Varanasi. Reports of Sri Haribabaji's condition used to arrive daily by phone or wire. On receiving the news that Sri Haribabaji was leaving Hoshiarpur for Bundh and passing through Delhi on October 14th, Mataji started for Delhi on the 13th, only to find that Haribabaji had been unable to come owing to a sudden set back in his health. Mataji returned to Varanasi on the 15th.

Mataji had agreed to be present in Varanasi for Durga Puja at the newly built house of a devotee, Sri Harish Chandra Banerji. The house opening ceremony was performed in Ma's presence. Durga Puja started on October 16th. It was celebrated in great style before a beautiful image of Durga, Lakshmi, Saraswati, etc. as tradition demands. Sri Banerji himself officiated, prompted and assisted by Brahmachari Nirvanananda. A pandal had been erected for the daily satsang in the evening. Dr. Gourinath Sastri, Vice-Chancellor of the Sanskrit University, delivered lectures and Dr. Govinda Gopal Mukherjee, son of the late Sri Prangopal Mukherji, Postmaster General of Dacca,* talked and sang beautiful *bhajans*. A large number of devotees had gathered from Calcutta and other places. They put up at the Ashram, but spent most of the time at Sri Banerji's house. On *Ashtami* day, Puja was done to forty Kumaris. On *Vijaya Daśami*, October 20th, Mataji, in a special mood, sang very beautifully for quite a long while.

In our Ashram there was no *pratima* ‡; however, regular *pūjā* was performed for the whole of *Navaratri*. Mataji would visit the Ashram daily, giving a round at all those ceremonies and also seeing Dr. G. Kaviraj who was improving steadily. On *Mahāshtami* day, *Pūjā* was performed of 108 Kumaris at Ananda Jyoti Mandir and a feast given to them. A devotee dressed up and decorated Mataji along with the Kumaris and Mataji moved about among them playfully with a childlike smile and also ate with them.

On coming to stay in the Ashram after the immersion of the deity, Mataji occupied her old tiny room in the 2nd floor of the Kanyapith and kept silence without signs or gestures for three days. During *darśana* time, twice daily, Mataji would stroll up and down the roof and visitors would stand downstairs in the courtyard gazing up to Mataji. Lakshmi Puja was celebrated before a beautiful image of the goddess in the Chandi Mandap on full moon night, October 24th.

On October 25th, Mataji declared that she was leaving for Delhi again. Haribabaji had in the meanwhile arrived there and was very anxious to see Mataji, but unable to move. Mataji remained in Delhi for three days, proceeding to Kanpur on October 29th. For one day and one night, she stayed in a new cottage which Sri Sitaram Jaipuria had built for Mataji's use. From there she was taken by Sir Padampat Singhania and his wife to the Ashram they had recently built for Mataji. Lady Singhania who is greatly devoted to Ma, had wanted to invite her for the last few years, but not without building a place worthy to be offered to Mataji. Now at last she had, near the famous Radhakrishna Temple, erected a building consisting of a very spacious hall for *satsang* and five large rooms with accessories, kitchen and dining-room for the use of Mataji and her party. The house is far from the hub of the city, in the midst of a beautiful garden with flowers, tulsi shrubs and a fountain, and the roof of the hall commands a full view of the Radhakrishna temple. The new structure was opened with great solemnity and Mataji welcomed by an elaborate *Pūjā*. Huge quantities of flowers, fruits and sweets were offered which Ma freely distributed all round. Jokingly, yet very seriously, Mataji called the building *"Vanaprastha Ashram"* and enjoined on her hosts to spend in that Ashram all the time they could spare from their worldly duties. *Vanaprasthis* live a frugal life dedicated to God, practising *sādhanā*, reading sacred scriptures, listening to sacred music and religious discourses. The large congregation seemed deeply impressed by Mataji's words. The Singhanias expressed the hope to be able to follow Mataji's instructions by her blessing.

---

* Sri Prangopal Mukherji was one of the first to "discover" Mataji.

‡ Image of the deities.

† The nine days from New moon to Dusserah.

Satsang was held daily and the large audience would listen spell-bound to the inspired *bhajans* and *stotras* sung by Chhabi Banerji and Kumari Pushpa, which transported them into a world of joy and peace. In the evening Mataji would sometimes sing herself. Then Sir Padampatji and others used to ask many intelligent questions to which Mataji responded by beautiful, straightforward replies as they occurred to her spontaneously, interspersed with stories and parables. At night Mataji was taken to witness the grand *ārati* in the Radhakrishna temple. This temple was built as the fulfilment of a long cherished desire of Srimati Rampyari Devi, the deceased mother of Sir Padampatji.

On November 5th, Mataji again returned to Varanasi. During Divali night, on November 9th, Kali Puja was celebrated with great splendour and there was brilliant illumination all over the Ashram.

On the 10th there was Annakut at the Annapurna Mandir. At this festival of Annapurna, the goddess of plenty, 108 preparations have to be offered to the deity. Hundreds of people partook of the *prasad* and there was poor feeding on a large scale. The following day, Didi performed the ceremony of giving "*Brahma bindu*" (a mark of sandal paste on the forehead) to all present, putting a flower on each one's head and a sweet into their hands.

On the 11th November Mataji departed for Vrindaban, alighting there on the 12th morning. That very afternoon, 65 American disciples of the Himalayan Academy at Nevada,U.S.A., arrived for Mataji's darsana with their Guru, Master Subramuniya. Mataji replied to their questions and then distributed fruits and sweets to them all. They were on a pilgrimage through India and Ceylon. On the 14th, a group of thirty students of Hathayoga from Finland turned up with their Indian Guru. They also were visiting holy places and ashrams and had come specially from Delhi for Mataji's *darśana*. Their Guru translated Mataji's replies from Hindi into Finnish.

* * *

Ever growing numbers of westerners are being attracted to Mataji. During her sojourn at Varanasi, there was a regular stream of foreign visitors to the Ashram. So also in Delhi and Vrindaban. Recently an Ashram in Ma's name has been opened in the U.S.A. Last year four young Americans took part in our Samyam Vrata at Dehradun. One of them had come to Mataji for the first time six years earlier at several places. During that visit to India, he had taken *Sannyāsa* from a Swami in Bengal and been given the name Nirmalananda Giri. The others were his disciples.

When after seven and a half months in India they had to return to their country, they decided to start an Ashram at Oklahoma city since they were eager to devote their lives to *sādhanā*. "As we all look upon Mataji as our guiding light", they sought and obtained permission to call it "Sri Sri Ma Anandamayi Ashram." "We do not pretend that we are Indians or Americans. We hope to be only children of Ma." They claim to feel Ma's presence tangibly during their spiritual practices and on occasions even to have seen her form in the room.

Letters arrive from people in foreign countries who have vivid and elating dreams of Mataji, or visions of her while meditating, some also claim to receive instructions. Not only persons who have been to India met Mataji, but also some who have only read or heard about her. Although Mataji has never been out of India physically, her *Līlā* is obviously not confined to this sacred land. When people from abroad ask her to visit their country, Mataji often replies : "I am always there." For those who are open to her influence, this is no doubt a fact.

* * *

From November 17th to 23rd our *Samyam Mahavrata* was observed at Vrindaban. Being twentieth, it was not surprising that everything proceeded smoothly, harmoniously and without a hitch. Most of the *Mahātmās* who very graciously enlighten the *vratis* every year by their fine, thought provoking talks, were present, with the exception of Sri Haribabiji, Sri Chetan Giriji and Swami Chidanandaji. Mataji sat in the hall for many hours daily and yet found time to attend to visitors, "privates" and any number of things. During "Matri Satsang", she gave some wonderful replies to questions, which we hope to reproduce in Anand Varta. One evening she gave her time to Dr. Gourinath Sastri of Varanasi and once to Pt. Kapindraji, who had come from Delhi. Mataji sang several times during that week.

On the fourth day there was a message from Delhi to say that Sri Haribabaji's condition was far from satisfactory and that he was eager to see Mataji. As soon as the meditation was over, at 4 p.m., Mataji therefore motored to Delhi, returning at 10.30 p.m. with good news that Haribabaji's health was not so bad after all. Never before had Mataji gone out of station during a *Saṁyam Saptaha.*

On November 24th *havan* under the neem trees marked the successful completion of the Vrata. That day our Delhi Kirtan party performed *Nāma yajña*, moving round the Nitai-Gouranga Mandir. The Kirtan had already started the previous evening and was kept up all night, also almost inaudibly, during the midnight meditation that proceeded solemnly by candle light. The *Nāma yajña* ended on the 24th after sunset with the usual procession of the singers round the compound. When they returned to the hall, Mataji sang "*Dharo lao*" as she often does on similar occasions.

While the number of men and women taking part in the *Samyam Vrata* is always more or less equal, we are glad to state that the week is observed with great zest and enthusiasm in several of Mataji's ashrams and also by some families in their homes. There is, for example, a Girls' school run in Mataji's name in the Savitri Devi Ashram at Jullundur where for several years now, the full programme with lectures etc. has been followed. This year some devotees of Dehradun, unable to go to Vrindaban, arranged for *satsang* from 8-11 a. m. and 3-7 p. m. daily in our Kishenpur Ashram, which proved a full success. Even devotees in foreign countries try to observe the *Vrata* and the programme as far as possible.

Mataji was to leave for Varanasi on the 27th, but again a trunk call gave the news that Sri Haribabaji, who was strictly confined to bed, wanted to go and see Mataji against the doctor's orders. Mataji thus motored to Delhi on the 26th afternoon, catching the train to Varanasi from there the next morning. Mataji remained at Varanasi for a week leaving for Delhi on December 5th to be with the ailing saint, Sri Haibabaji for one night again. On the 7th night Mataji entrained for Lucknow, from where she drove by car to Naimisharanya on the 8th morning. On the 10th morning, an upstairs room in Mataji's cottage and two guest rooms were ceremonially opened. The *Bhāgavata Saptaha* also began the same day. Swami Vishnu Ashramji of Sukhtal expounded in Hindi twice daily in the newly completed hall adjoining the *Purān Mandir*, while Pd. Agnihotri Sastri (Batuda) chanted the Sanskrit version in Mataji's room every morning. It was a beautiful, intimate gathering without the usual crowd. Mataji attended throughout. The *Saptaha* was followed by a grand *Vishnu yajña* for six days. During that week, Dr. Gouri Nath Shastri read the whole of the Bhāgavata in Sanskrit in his inimitable way and in the evenings gave an hour's talk in Hindi in the hall. One day *Gītā Jayanti* was celebrated in the Puran Mandir with *Pujā* and recitation of the whole of the Bhagavad Gita in chorus by all present. On the 24th morning Mataji proceeded to Varanasi, reaching the same evening. On the 26th she went to Delhi once more, returning with Sri Haribabaji and his party on January 1st, 1970.

Shri Ḥari Babaji Maharaj, who had been ailing for some time past, was in Delhi for more than two months. He was being treated for his heart trouble by the renowned heart specialist Dr. R. K. Caroli and his able assistant, Dr. D. Sen Gupta. During the course of Shri Hari Babaji's long treatment, both the doctors showed exemplary spirit of service and did their best to give the ailing *mahatma* at least some relief. But, in spite of their best efforts, the condition of the 84-year old *mahatma* did not improve and he developed a strong inner urge to be near Mataji. Only to fulfill his wishes, Mataji, in spite of her indifferent health, paid flying visits to Delhi about 7/8 times during the last four months.

It was, as a matter of fact, not possible for Mataji to remain in Delhi for an indefinite period, as Pt. Gopinath

Kaviraj was convalescing in our Varanasi Ashram since October 8, after he had been discharged from the Banaras Hindu University Hospital. Therefore, after considering all the factors, it was deemed convenient for all concerned to shift Shri Hari Babaji to Varanasi, so that he could stay with her at least for some length of time. Necessary arrangements were immediately made and Shri Hari Babaji was allowed by his attending physicians to undertake the long journey to Varanasi. We are all the more indebted to Dr. Sen Gupta for taking immense trouble in personally escorting the ailing *mahatma* to Varanasi. He left the next day after explaining the full course of treatment to a team of very competent doctors of Mata Anandamayee Hospital, consisting of Dr. B. R. Thukral, one of the foremost Cardiologists of the city, Dr. U. N. Mathur and Dr. S. N. Mathur.

But it is a matter of deep regret that since his arrival in Varanasi, Shri Hari Babaji's condition grew from bad to worse and, in spite of the best efforts of the doctors to save the precious soul, the 84-year old *mahatma* left his mortal coil just sixty hours after he got down from the train at Varanasi. Thus ended the noble and illustrious life of a *sadhu*, who had been looked upon as the 'Living God' by thousands of simple and unsophisticated villagers of the District of Badaun, for whose service and well-being he had dedicated his entire life. It can be said without the least chance of exaggeration that the last days of the *mahatma*, who was indeed a model of excellence and an invaluable jewel among the *sadhus*, manifested rather extraordinarily the inner craving of a child to be with his own mother for ever. The passing away of the saint exhibited at the same time the unique and boundless love and affectionate care of the mother for the child, who had all along been so near and dear to her.

At the earnest desire of many of his devotees, the mortal body of Shri Hari Babaji Maharaj was taken by road to Bundh in the District of Badaun for its funeral on the bank of the Ganges. That tiny and insignificant village had already become hallowed by the presence of the great saint, for the upliftment of which he had laboured and toiled as a part of his *sadhana* during the better part of his life. A week long programme, consisting of various religious ceremonies has been arranged to be held at Bundh from January 12 to 18. At the pressing request of Shri Hari Babaji's devotees, Mataji left for Bundh on the 15th afternoon to attend the celebration.

Mataji is expected to leave Bundh on the 19th immediately after the ceremonies are over and reach Varanasi the next day, as Pt. Gopinath Kaviraj, who had been convalescing in our Ashram at Varanasi for the last three months, suddenly developed acute urinary trouble since the first week of January. The latent infection in the bladder also flared up suddenly and the 82-year old great savant was almost in agony. Under medical advice he has been again shifted to the Banaras Hindu University Hospital and is at present under the treatment of Dr. K. N. Udupa, the renowned Surgeon, who happens to be the Superintendent of the Hospital, as well as Principal of the College of Medical Sciences. We are glad to say that since his admission in the hospital, his condition has somewhat improved and the doctors have been trying their level best to alleviate his suffering.

Mataji is likely to pay a short visit to Allahabad in the second week of February, where the Saraswati Puja is proposed to be held on February 10, the Vasant Panchami Day, at the residence of Shri G. S. Pathak, the Vice-President of India. From February 21 to March 7 a fortnight long *Bhagawat Parayan* is to take place in Varanasi Ashram in Mataji's presence with Shri 1008 Swami Akhandanandaji of Vrindaban expounding the original text in Hindi both in the morning and evening. Mataji is therefore expected to be in Varanasi during the *Shivaratri* which falls on March 6.

——

BRANCH-CENTRES
OF
SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

1. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhadaini, Varanasi, U. P. (Phone 62791)
2. Shree Shree Ma Anandamayee Kanyapeeth,
Bhadaini, Varanasi, U. P.
3. Mata Anandamayee Hospital,
Shivala, Varanasi, U. P. (Phone 65871)
4. Anandamayee Karuna, Bhadaini, Varanasi, U. P.
5. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Vrindaban, U. P. (Phone 94)
6. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ashtabhuja Hill, Vindhyachal, U. P.
7. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram.
Kishenpur, P.O. Rajpur, Dehradun, U. P.
(Phone : Rajpur 71)
8. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalyanvan, 176, Rajpur Road. Dehradun, U.P.
9. Shree Shree Ma Anandamayee Sadhan Ashram,
47/A Jakhan, Dehradun, U. P. (Phone 4038)
10. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P.O. Rajpur Ordnance Factory, Dehradun, U.P.
11. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Kankhal, Saharanpur, U. P.
12. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kali Mandir, P. O. Uttar Kashi, U. P.
13. Shree Shree Ma Anandamayee Vidyapeeth,
Patal Devi, Almora, U. P.

The names of about half a dozen other institutions named after Mataji are not included in this list as they are not managed and controlled by this organisation.

14. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Puran Mandir, P. O. Naimisharanya,
Distt. Sitapur, U. P.

15. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Kalkaji, New Delhi—19 (Phone 72478)

16. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Kamarhati, Culcutta—58 (Phone 611328)

17. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Chandipur Tarapith, Dt. Birbhum,
West Bengal

18. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Rajgir, Patna, Behar

19. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Main Road, Ranchi, Behar

20. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Swargadwar, Puri, Orissa

21. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Bhimpura, P. O. Chandod, Baroda, Gujrat

22. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Ganesh Khind Road, Poona-7

East Pakistan :

1. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
P. O. Ramna, Dacca, East Pakistan

2. Shree Shree Ma Anandamayee Ashram,
Siddheshwari, P. O. Ramna, Dacca,
East Pakistan

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2.50
Sad Vāni ,,	1.00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to XV	40.50
Ma Anandamayee—Dr Pannalal	3.00
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Sankirtan, Stav, Aratī	0.50
Amar Vani	6.00

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1.50
Mātri Vāni	0.75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XIII	33.50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1.50
Akhanda Mahāyajña ,, ,,	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1.25
Mātri Lila Sankirtan	0.30
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali ,,	0.50
Amar Vani	10.00

Gujrati

Matri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Sri Ma Anandamayi—Na—Sannnidhyama Vol. I—Containing Bhaiji's "Sat-Vani" and "Sri Ma Anandamayi Lila Katha" by Swami Bhagavatananda Giri	In Press
Sri Ma Anandamayi-Na-Sannidhyama—Vol. II—by Swami Bhagavatananda Giri	2.00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2.00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"		4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1.50, Special edition	2.50
Words of Sri Anandamayee Ma	3·00, ,, ,,	5.00
Mother as seen by Her Devotees	5·50, ,, ,,	6.50

Photos etc.

Photos—various sizes	0.50 to 15.00
Lockets	1.50
Album	2.50

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

Library

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XVII April, 1970 No. 2

Statement about ownership and other particulars about newspaper ANANDA VARTA

FORM IV

(See Rule 8)

1. Place of publication.	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi-1
2. Periodicity of its publication	Quarterly
3. Printer's Name	K. Bose
(whether citizen of India).	Yes
(If foreigner, state the country of origin)	×
Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi-1
4. Publisher's Name	K. Bose
(whether citizen of India)	Yes
(If foreigner, state the country of origin)	×
Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi-1
5. Editor's Name	K. Bose
(whether citizen of India)	Yes
(If foreigner, state the country of origin)	×
6. Address	Mata Anandamayee Ashram Bhadaini, Varanasi-1
Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital.	Shree Shree Anandamayee Sangha (Regtd) Bhadaini, Varanasi-1

I, K. Bose, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

(Sd) K. Bose
Signature of Publisher

Dated—1.4.70

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

❋

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan

Brahmachari Nirmalananda, M.A., Shastri.

Kumari Lalita Pathak, M. A.

Brahmacharini Atmananda.

Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

❋

ANNUAL SUBSCRIPTION

India—(Postage free) Rs 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 10/50 or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 25/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" – Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English. The magazine is published four times a year, in the months of January, April, July & October. The year begins from January.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha,
Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

4. All correspondence regarding 'Ananda Varta' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ananda Varta", Shree Shree Ma
Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi, (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent *within the month of publication*.

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us *beforehand* if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by Shri K. Bose for
Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi.
Printed at the Indian Press (Pte.) Ltd., Varanasi-Branch VARANASI.

CONTENTS

Hindi Section

1—मातृ-वाणी 63

2—श्री श्री माँ की अमरवाणी—ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त 65

3—श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग—श्री अमूल्यकुमार दत्त गुप्त, एम० ए०; बी० एल० 72

4—श्रीमाता का मन्दिर—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज 77

5—शाहबाग-लीला—'प्रत्यक्षदर्शी' 82

6—मातृ सत्संग—श्री स्वामी भागवतानन्द गिरि 87

7—श्री वृन्दावन धाम में संयम महाव्रत एवं मातृ-दर्शन—डा० सरोज पालीवाल 94

8—श्री हरिबाबा जी महाराज—पू० पा० स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज 100

9—हिमाचल के अंचल में—कुमारी गीता बनर्जी 105

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 49
2. Some aspect of the life and teaching of the East Bengal Saint Sri Sri Anandamayi Ma—Dr. Alexander Lipski ... 51
3. The Jewish Chasidim – Chains Goldstein ... 69
4. Sri Sri Muktananda Giri Maharaj—Swami Bhagavatanand Giri 75
5. The Upanishads and the Life Divine —'Divya Darshi' ... 85
6. Matri Lila 91

—*Dehradun, 1969*

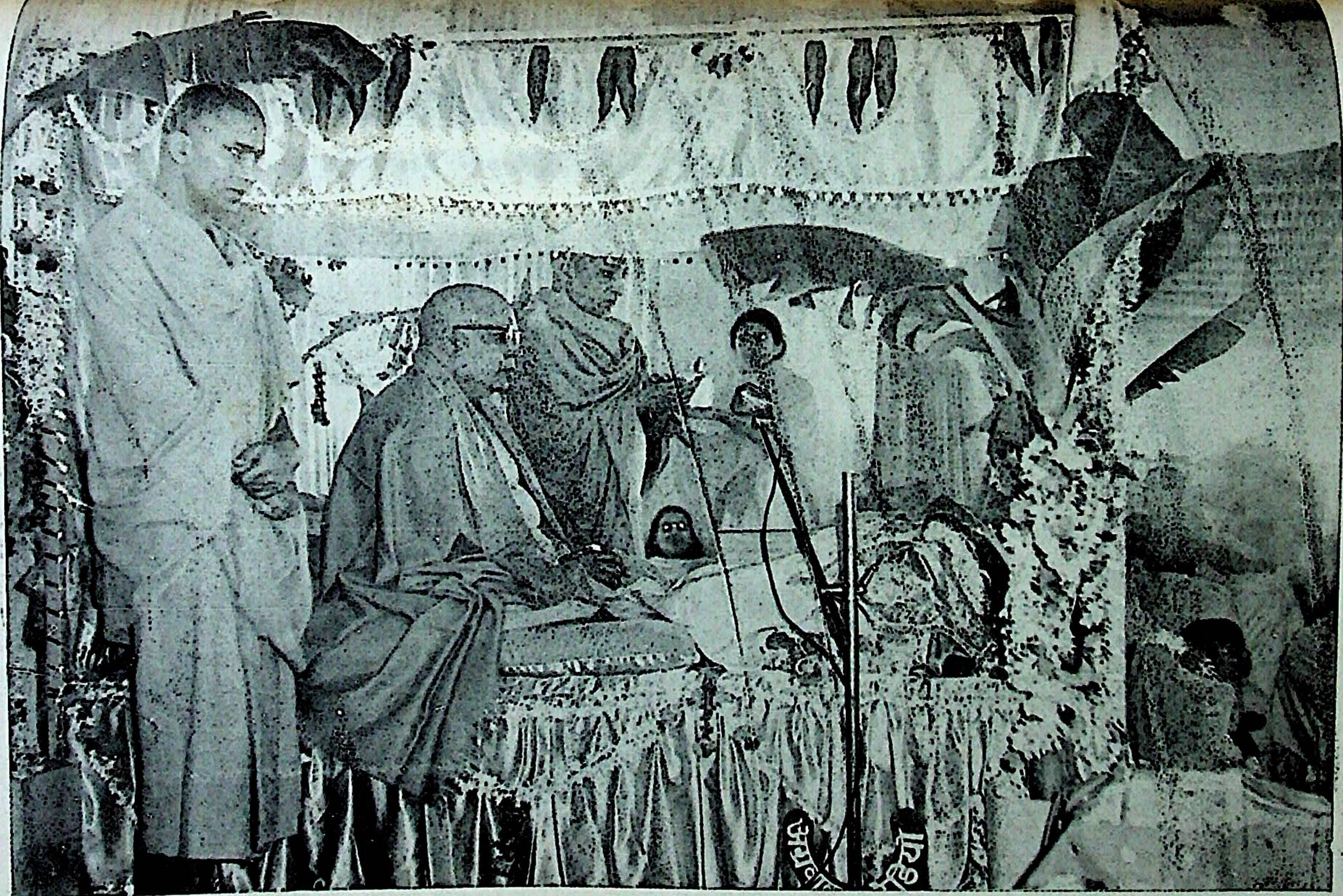

A scene from the Bhāgawat Pārāyana

Varanasi, 21st February, 1970

श्री श्री माँ आनन्दमयी जयन्ती महोत्सव

परम हर्ष की बात है कि श्री श्री माँ का ७५वाँ शुभ आविर्भाव-महोत्सव आगामी १८ मई से २४ मई १९७० तक पुनावासी भक्त-वृन्द के आग्रह से श्री श्री माता आनन्दमयी आश्रम, गणेशखिन्द रोड, पूना में मनाया जायगा। उस समय श्री श्री माँ पूना में विराजमान रहेंगी ऐसी आशा की जाती है।

भवदीय

एम्. के. पालिया
सभापति,
श्री श्रो आनन्दमयी संघ, पूना-शाखा

दुर्गा सिंह
सभापति,
श्री श्री आनन्दमयी संघ

तिथि पूजा—२४ मई रात्रि ३ बजे (अंग्रेजी मत से २५ मई)

❁

जो सज्जन १८ मई से २४ मई के बीच में बाहर से आकर उत्सव में योगदान करना चाहते हैं वे कम से कम दश दिन पूर्व ही निम्नलिखित पते पर सूचना देने की कृपा करें। तदनुसार आहार और वासस्थान सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए प्रयत्न किया जायेगा।

स्वामी परमानन्दजी
श्री श्री माता आनन्दमयी आश्रम
गणेशखिन्द रोड,
पूना–७ (महाराष्ट्र)

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XVII] APRIL, 1970 [NO. 2

—मातृवाणी—

दिवा रात्रि भगवत् स्मरण होना मनुष्य के भूल संशोधन के निमित्त है।

× × × ×

प्रश्नों के समाधान के लिये ही भगवत् क्रिया में अपने को लगा देना मानवों का कर्तव्य है।

× × × ×

मनुष्यों को हृद्-गुहावासी होना अन्तर्यामी भगवान के प्रकाश लिये है।

× × × ×

मनुष्य के मनुष्यत्व का परिचय अपने चरित्र के सुसंगठन में प्रकाशित है। मनुष्य ही अतिमानव के प्रकाश के यात्री हैं। उसी ओर ध्यान रखकर चलना है। अनुकूल वातावरण और सत्सङ्ग में इसके अनुकूल आशा है।

× × × ×

जहाँ गृहस्थ आश्रम के आश्रय है, सद् गृहस्थ के धर्म का संसार होना अपने को जानने की चेष्टा में है।

× × × ×

परमार्थ की ओर जीवन की यात्रा में नित्य नवीन परिवर्तनों में स्वरूप में स्थित रहने की चेष्टा होना है।

× × × ×

जहाँ से सृष्टि स्थिति आदि होती हैं उन्हीं के पास सब का आना-जाना है। उन्हीं के विधान से उन्हीं के पास। इसलिये उनके स्मरण से उनकी प्राप्ति होने पर—परम शान्ति परमानन्द हैं।

× × × ×

परमार्थ पथ के यात्री के लिये भगवान् ही एकमात्र मित्र हैं। जहाँ उसके अनुकूल क्रिया है वहाँ वही सर्वस्व है ऐसा विचार मान लेने की दिशा आती है। एक लक्ष्य न होने पर पग पग में बाधाएँ हैं।

× × × ×

महात्माओं का संग करना या महापुरुषों के साथ रहने का अर्थ यह है कि उनसे जो कुछ सुना गया उनका यथार्थतः पालन करना।

× × × ×

फूलों के भीतर जैसे बीज हैं खोलने से ही दिखाई पड़ते हैं। फिर बीजों के भीतर वृक्ष हैं, वैसे तुम्हारे भीतर भी वे हैं। साधना के द्वारा खोल सकने पर—अर्थात् आवरण का नाश कर सकने पर जो स्वयं प्रकाश हैं उन्हें मिलते हैं। बीज के भीतर जैसे पूरे वृक्ष है वैसे तुम्हारे भीतर वे पूर्णरूप से विराजित हैं।

——

श्री श्री माँ की अमरवाणी

(ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज कृत व्याख्या सहित

प्रश्न—माँ के वधूजीवन की बातें सुनने की इच्छा होती है, माँ कुछ बोलिए।

माँ—एक एक दिशा की एक एक बात है। वाजितपुर में पोखरे के घाट के एक घिरी जगह स्नान चलता था। मैं वधू थी, माथे पर घूँघट था। अष्टग्राम की तरह नाम चलता रहा। इस समय यह भाव भी स्पष्ट ख्याल में था। क्या हुआ जानते हो?—जैसे कहते हो न—चलो अब थोड़ा दौड़ लें—ख्याल ऐसा ही आया। जो होनेवाला है उसी का ही प्रकाश होता है। कैसा?—जैसे दीदी आ रही हैं—रह जाना, अब उसी का ही प्रकाश है।

भगवान् की कल्पना से जगत् की सृष्टि होती है—ऐसा कहते हो। सत्य के सम्बन्ध में सत्य कहना है। सत्यवाक्—जो भी कहोगे सफल होगा। वाक्सिद्धि—जो बोलोगे सफल होगा।

यदि केवल वाक्सिद्धि ही है—तो सत्य की स्थिति में तत्त्व प्रकाश की बात कहाँ? ऐसा भी स्थान है। बात क्यों सफल होती है वह नहीं समझता है। किसी स्थिति में भोग भी होता है। फिर भोग का भी कोई प्रश्न नहीं, ऐसी स्थिति है। जब तक उस स्थिति का प्रकाश नहीं होता तब तक भोग की बात है।

व्यवहार में अव्यवहार, अव्यवहार में व्यवहार भी तो है। फिर सर्वसिद्धि कहने से भी सब कहा नहीं गया। व्यवहार के लिये जो व्यवहार—यह समझ में आया कि नहीं? लेकिन जहाँ सिद्धि असिद्धि का प्रश्न उठता ही नहीं था, यह ठीक होना कहाँ?

प्रश्न—माँ वधू रूप में—उस समय वह जो ख्याल—यह तो साधक की स्थिति नहीं—संकल्पसिद्धि, वाक्सिद्धि, भविष्यदर्शन, अदर्शन आदि की बातें भी नहीं आतीं। लेकिन वह जो ख्याल हुआ—उसी रूप में ही जो ग्रहण हो रहा है—इसे कैसे समझूं?

माँ—तुम लोगों की इस ख्याली लड़की के जब जैसे ख्याल हैं।

प्रश्न—अद्वैत भूमि से उतर कर बात करती हैं, क्या? आप जब पूछती हैं, बाबा, कहाँ से आये, कैसे हो आदि, क्या तब अद्वैत स्थिति से उतरना पड़ता है?

माँ—तीन के अतीत होना ही त्रिगुणातीत है। जहाँ एक ब्रह्म द्वितीय नास्ति, वहाँ पृथक् कुछ है ही नहीं। इसलिए ऊँचा और नीचा आदि कोई शब्द नहीं है। फिर ऊँचे और नीचे के भी स्थान हैं। जहाँ मनाह या निषेध है वहाँ मन है—ये दो रह गये और रह गया

अहंकार। अहंकार या किसका ? कोई तो रह गया। जो है उसी का विग्रह है। उसी का जब विग्रह है तो बात करेगा कौन ?

प्रश्न—ज्ञानी पुरुष कैसे उपदेश देते हैं ?

माँ—जिसकी भेद दृष्टि है। ज्ञानी पुरुष जो बात बोलते हैं, उसमें अभेद क्यों—अर्थात् अभेद हो जाता है। क्योंकि अभिन्नता है ही, इसलिए अभिन्न हो जाता है। यह जो देखते हो वे किसी से बात कर रहे हैं, जहाँ तुम देखते हो ज्ञानी किसी से बात कर रहे हैं, वहाँ क्या होता है ?—विवाद जो कुछ है उसमें से वाद को पृथक् कर देते हैं। विवाद क्या है ?— दो हैं। उसे हटा देते हैं।

प्रश्न—ज्ञानी पुरुष भेद-अभेद की बातें करते हैं, यह होता है कहाँ से ?

माँ—एक तो सभी भगवान् के विग्रह हैं— कौन किससे कहता है। जब पूछता है— तुम्हारा लड़का कैसे है—तुम्हारा लड़का है कौन ?—वही हैं। यह जो पूछ रहे हो— इसमें वाद, छूट जाता है—भगवान् को छोड़कर जितने वादावाद हैं उन्हें शोधन करना है। सभी जब भगवत् विग्रह हैं—तो कहाँ, कैसा, कौन आदि प्रश्न हैं ही नहीं।

प्रश्न—क्या अद्वैत दृष्टि में ?

माँ—अद्वैत नाम की कोई दृष्टि नहीं हैं। अगर दृष्टि है तो अद्वैत हो ही नहीं सकता। तुम्हारा प्रश्न है, मन है, निषेध है—इसलिये प्रश्न भी है। इसके पीछे क्या है ?— बोलो, वह मन का अगम्य है। जिसके समझने से बोझ उतर जाते हैं उसे धारण करना है। जिसके समझने से समग्र भार उतर जाता है—तब समझना न समझने का प्रश्न नहीं उठता है, जिससे मन, अमन हो जायगा—उस धारा को पकड़ना है। दूसरा कोई है ही नहीं तब कैसे दूसरे के साथ बात होगी।

फिर किसी एक प्रश्न में माँ कहती हैं—संस्कृत एक अलग भाषा है, तुम लोगों में से कोई इस सम्बन्ध में कह सकता है—संस्कार किया गया है। जैसे मन्दिर का संस्कार होता है वैसे शब्द का भी संस्कार होता है। लेकिन देखते हो बाँस की बाँसुरी, एक प्रकार होने पर भी प्रत्येक की आवाज अलग अलग है—लेकिन शब्द है यह भी ठीक है। शब्द का अर्थ है ध्यान और शब्द अक्षरों के संयोग से भाषा बनता है। अक्षरों के भिन्न-भिन्न संयोग बना कर एक जगह रख दिया गया। भाषाओं में फिर देहाती बोली, शहर की बोली—कितने प्रकार हैं, लेकिन भाषा एक है। शब्द रूप भाप्रा का भी संस्कार होता है—वह भाषा संस्कृत भाषा है—वह शुद्ध है। जहाँ से फिर नाना भाषाओं की उत्पत्ति होती है। अगर कहते हो वहाँ जो प्रचलित भाषा है—वही है फिर अप्रचलित भाषाएँ भी हैं।

अक्षरों के संयोग से जो भाषा बनती है तुम लोग कहते हो कि उससे संस्कृत भी बनी अन्य भाषाएँ भी बनीं। अक्षर तो हैं सभी में। आवाज या शब्द की दृष्टि से अक्षर होंगे ही। उसी प्रकार बाँसुरी की ध्वनि तो है ही, लेकिन प्रत्येक बाँसुरी में वह अलग अलग है। यह जो शब्द आया उसका प्रचार नहीं, मान लिया नहीं है। अव्यक्त से व्यक्त रूप में जो प्रकाशित हुआ उसका अर्थ तो समझ में नहीं आयेगा।

जैसे बीज के अन्दर अंकुर है, वह जब आदि भाषा से बाहर प्रकाशित हुआ, जब अंकुर से पत्तियाँ निकल आयीं उस समय जानने में आया उसका प्रकाश किस प्रकार है। अंकुर—कुछ है अस्तित्व में। बीज के भीतर जो अंकुर उत्पन्न होने जा रहा है—उस अंकुर का विकास अब नहीं हो सकता। जब पत्तियों के रूप में प्रकाश में आया, जैसे पहले डंठल, द्विपत्र निकले, तब बाद में धीरे धीरे शाखाएँ निकलीं- भीतर जो स्व-स्वरूप है कारण रूप में, उसी की शाखाएँ हैं। उसमें पत्तियाँ आयीं। भिन्न-भिन्न वृक्षों में विभिन्न प्रकार की पत्तियाँ। फिर फल आये—उस वृक्ष का स्वरूप क्या है? क्या फल है? जिससे उत्पन्न हुआ वही बीज स्वरूप है।

फिर पत्ती पत्ती में वृक्ष उत्पन्न होते हैं, किसी किसी पत्ती को बो देने से भी वृक्ष होते हैं, पेड़ के गाँठ से भी वृक्ष होते हैं। इसलिये संस्कृत जो शब्द है—उसके उच्चारण से—उसका एक चमत्कार है। संस्कृत शब्द में बीज धर्म है—ॐकार सब में है। उसमें अक्षर न रहने पर भी ॐकार में जो ध्वनि है—उसके बिना कोई भी शब्द या अक्षर प्रकाशित नहीं हो सकता। प्रत्येक अक्षर में ॐकार रह ही जायगा। इसलिये ॐकार है, आदिशब्द।

इससे क्या होता है—उसका संयोग सब शब्दों से है। ओ से अनुस्वार के संयोग से क्या होता है? तुम्हारे भीतर झंकार उठती है। उस झंकार में स्पन्दन उत्पन्न होता है। स्पन्दन से क्या होता है?– ग्रन्थि खोलने की ओर जाता है। यदि केवल राम, कृष्ण ये हैं—तो राम शब्द के भीतर जो अर्थ रहता है—राम की मूर्ति और उनकी क्रिया जो वे करते हैं। इसलिये राम नाम में भी अर्थ है, झंकार है। राम का अर्थ है आनन्द, कृष्ण का अर्थ कर्षण है।

यह जो अक्षर की बातें हुई दुनिया की दृष्टि से जहाँ वृक्ष लता आदि का प्रकाश नहीं है, वहाँ आर्यभाषा से कही हुई बातें किसी की समझ में नहीं आयेंगी जब तक फल फूल पत्तियाँ न निकल आवें। इसीलिये फल की आकाङ्क्षा है। ये जो फल फूल, पत्ती विभिन्न शाखायें—ये ही फलाकांक्षा हैं। यह क्या करता है?—फल उत्पन्न करता है। प्रत्येक मनुष्य में मन के व्यवहार में भी कम नहीं करता? वही स्व ही उसका अज्ञान रूप है।

स्वरूप से क्या रहता है—आनन्द। इसलिये दुनिया के सभी आनन्द चाहते हैं।

वृक्ष की पत्तियों में शाखाओं में क्या रहता है—गति रहती है, फल चाहता है। वृक्ष के फल जब बीज बन जाते हैं तब क्या होता है—वृक्ष की पूर्णता आ जाती है। वृक्ष, फल आदि मनुष्य क्यों चाहता है ?—आनन्द के लिये। राम को चाहता है क्यों कि वे सबके भीतर रमण कर रहे हैं। कृष्ण आकर्षण कर रहे हैं—आकर्षण से प्राप्ति होती है। मुक्ति का क्या अर्थ है ?—बन्धन हट जाता है। कैसा बन्धन ?—जीवरूप बन्धन। इसलिये वह भाषा प्रकाशित नहीं हो सकता। कब होता है ?—जब फल आवेगा।

जब बीज पाते हो तो बीज से क्या पाओगे ?—अंकुर। अंकुर से अनासूत्र विछा हुआ है। यहाँ दो रहने पर भी एक ही है। इसलिये वह जो आदि भाव या भाषा, उससे शब्द में निहित सूत्र अप्रकट है। संस्कृत शब्द जब स्पष्ट आने लगेगा और ॐकार ध्वनि आयेगी तब ग्रन्थि खुलने की दिशा आ जायगी।

इसीलिये कहा जाता है—फल—परमानन्दरूप फल, आनन्द निरानन्द के अतीत, फल अफल के अतीत—जब वह प्रकाश में आयेगा तब—जो है, वही है। जिस धारा से चलते हो उसी का प्रकाश है। जगत् की दृष्टि से, गति की दृष्टि से यह समझना कठिन है। इसलिये प्रश्न करते हो—कैसे

व्याख्या

१. कल्पना मात्र से जगत् की सृष्टि

भगवान् की कल्पना से जगत् की सृष्टि हुई, माँ ने ऐसा कहा। इस सम्बन्ध में वेद का वाक्य याद करना चाहिए—'धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।' यह वाक्य संध्या के मन्त्र में है, ब्राह्मण लोग सभी यह बात जानते हैं। भगवान् सत्य स्वरूप है इसलिए उनकी कल्पना भी सत्य रूप में परिणत हो जाती है। मनुष्य भी जब योग के एकाग्रभूमि में स्थित रहता है उस समय उसमें सत्यसंकल्प रहने के कारण उसके संकल्प के साथ साथ वह कार्य रूप में परिणत होता है। इस प्रसंग में एक बात याद रखना आवश्यक है। समग्र विश्व में आत्मा की स्थिति के अनुसार उसकी चार प्रकार स्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। यह मन के ऊपर निर्भरशील है। एक स्थिति में जड़ता मुख्य है—वहाँ संकल्प या विकल्प नहीं है—यह अचित् दशा है। द्वितीय प्रकार दशा है जीव स्थिति में—यहाँ संकल्प है और विरुद्ध संकल्प रूप विकल्प भी है। इस अवस्था में संकल्प कार्यरूप में परिणत साधना के प्रभाव नहीं होता है जब शुद्ध संकल्प का उदय होता है तब उस अवस्था में उसे शुद्ध संकल्प कहते हैं। उस अवस्था में संकल्प कार्यरूप में परिणत होता है। यह ईश्वर या योगी की स्थिति है। इस प्रकार संकल्प को इच्छाशक्ति कहा जाता है। इसके

भी ऊर्ध्व स्थिति में विकल्प या संकल्प कुछ भी नहीं रहता। यह स्थिति संकल्प विकल्प उभय के अतीत अवस्था है। माँ ने सत्य संकल्प की बातें कहीं। यह ऐश्वरिक अवस्था है। इस अवस्था में संकल्प अवश्यम्भावी कार्य रूप में परिणत होता है, क्योंकि उस समय विरुद्ध संकल्प या विकल्प कोई कार्य नहीं करता। एक योगी के सत्य संकल्प को अन्य योगी के सत्य-संकल्प से बाधित किया जा सकता है या नहीं यह प्रश्न विचारणीय है। जो पूर्ण सत्य संकल्प है, वह ऐश्वरिक संकल्प है। उससे बढ़कर अधिक बलवान् अन्य किसी संकल्प में नहीं रह सकता। इसलिए जिस जीव के संकल्प ईश्वर संकल्प के साथ अभिन्न है वैसा संकल्प कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। प्रलय के बाद विधाता का संकल्प इस प्रकार है।

माँ ने जिसे ख्याल कहा वह स्वातन्त्र्य शक्ति का खेल है। साधारण मनुष्यों में पूर्ण सत्य में प्रतिष्ठा नहीं है इसलिए उनके ख्याल मन की चंचलता के रूप में प्रकाशित रहते हैं। लेकिन जिनके पूर्ण सत्य में प्रतिष्ठा रहती है उनके ख्याल ख्याल जैसे प्रतीत होने पर भी वे अमोघ हैं। ये ख्याल कब उठते हैं, कब नहीं उठते हैं बाहर से उनके सम्बन्ध में कुछ बताया नहीं जा सकता। इनकी उत्पत्ति के कारण रह सकते लेकिन वास्तविक कारण कुछ भी नहीं है अथवा रहने पर भी वह सीमाबद्ध मानव बोध के अगम्य है।

२. अद्वैत अवस्था में आरोहण अवरोहण है क्या ?

माँ अद्वैत भूमि में स्थित हैं ऐसा समझकर किसी किसी के मन में प्रश्न उठता है कि उस भूमि से लौकिक भूमि के उपयोगी बातचीत कैसे होती है। इसके उत्तर में मैंने जो कुछ कहा उसका तात्पर्य यह है कि माँ जिस भूमि में स्थित रहकर बातें करती हैं वह न तो द्वैत भूमि है न तो उसे अद्वैत भूमि ही कहा जा सकता है। द्वैत की दृष्टि से उसे देखने पर वह द्वैत ही है अथवा अद्वैत दृष्टि से देखा जाय तो वह अद्वैत ही है। वह उभय को संपुट में रखकर उभय के अतीत है। अणु रूप में भी वही है, महान् रूप में भी वही है—यह एक ही बात है। वास्तविक बात यह है कि इस स्थिति को अद्वैत रूप में ग्रहण करना उचित नहीं। वह द्वैत के अतीत, अद्वैत के भी अतीत है—अथच द्वैत भी है, अद्वैत भी है। वही वास्तविक निर्विकल्प दशा है। द्वैत को त्याग कर जैसे अद्वैत में प्रवेश करना पड़ता है, वैसे अद्वैत में प्रवेश कर उसे भी विसर्जित करना पड़ता है। उसमें सब कुछ हैं अथच कुछ है भी नहीं, फिर कुछ न रह कर भी सब हैं। अतः उस अवस्था में उतरने-उठने का कोई भी प्रश्न नहीं हैं, क्योंकि उतरना या उठना भी एक प्रकार विकल्प है। जगत् की दृष्टि के अनुसार ऊपर जाना या उतरना है, लेकिन उतरना और ऊपर जाना भी उसी एक के भीतर ही हैं, अतः उन एक के लिये उतरना ही कहाँ। ऊपर जाना ही कहाँ है ?

३. ॐकार ही सब शब्दों का मूल है

ॐकार के सम्बन्ध में माँ ने जो कहा वह शास्त्रों का ही बचन है और सम्पूर्ण सत्य भी है। शास्त्रों में कहा गया कि 'ॐ'कार और 'अथ' ये दोनों सृष्टि के आदि शब्द हैं। ॐकार शब्दब्रह्म स्वरूप है और परब्रह्म का ही बहिःप्रकाश ही शब्दब्रह्म है। वे ही पराशक्ति स्वरूप हैं, इसलिए उपनिषदों में ॐकार को पराशक्ति या उमा शब्द से निर्देशित किया गया। सृष्टि के मूल में यही शब्द वर्तमान है। यही व्याहृति रूप में भूः आदि रूप आकार धारण करते हुए विश्व की रचना करता है। शब्द-शास्त्र के अनुसार पर तथा अपर रूप में दो प्रकार के हैं। पर शब्द ही आदि शब्द या आदि स्पन्दन है। जहाँ से विश्व के पदार्थनिचय और भावसमूह वाहर प्रकाशित हुए हैं—ऐसा जो शब्द है वह पर तथा अपर भेद से दो प्रकार हैं—इसकी चर्चा पहले ही हो चुकी है। अपर शब्द के तीन भेद हैं। एक दशा में शब्द तथा अर्थ अभिन्न रूप से नित्य प्रकाशमान हैं। दूसरी दशा में वही शब्द शुद्ध विकल्प रूप में चित्तरूपी आकाश में स्फुरित हो रहा है। उसके वाद वह शुद्ध विकल्प वहिर्मुख होकर वाहरी वायु के आघात प्राप्त होता है। जब तक शुद्ध संकल्प का राज्य था तब तक बाह्य वायु का स्पर्श उसमें था नहीं। उस समय दिव्य ज्योति और नाद दिव्य सम्पत्ति के रूप में निरन्तर चिदाकाश की ओर उच्छ्वसित होकर धावित होता था। वाह्य वायु के स्पर्श से शब्द घनीभूत होता है, प्राणों से योग आ जाता है। और श्वास प्रश्वास का उदय होता है और क्षेत्र से ग्रहण होने योग्य स्थूल वर्णों के रूप में प्रकाशित होते हैं। ऐसे शब्दों को वैखरी वाक् कहते हैं। यह जीव की बद्ध अवस्था है। यह विशाल वाह्य प्रपंच इसी के अन्तर्गत है। लोक लोकान्तर भी बाह्य वायु के ही अन्तर्गत है। विश्व के इस स्तर में देहाभिमान स्पष्ट ही अनुभव होता है। शब्दों के साथ उनसे प्रकाशित अर्थों का कृत्रिम सम्बन्ध स्थापित हो ज़ाता है। शुद्ध विकल्प के स्थान पर अशुद्ध विकल्प का उदय होता है। श्वास प्रश्वास की गति इड़ा और पिंगला के मध्य से प्रवाहित होने लगती है सुषुम्ना प्रायः वन्द ही रहती है। यह जो वैखरी शब्द हैं लौकिक जगत् में वह भाषा रूप में परिच्चित है। यह शुद्ध शब्द नहीं है। शुद्ध शब्द को वैखरी तो कहा जाता ही नहीं, वह अन्तः वैखरी भी नहीं है। अन्तः वैखरी के अनन्तर शुद्ध विकल्प का आभास ज्योति के उदय के साथ साथ प्राप्त होता है। उस समय शब्द का चेतन दशा भी अनुभव में आती है। यन्त्र के चेतन होने पर उस अवस्था का अनुभव होने लगता है; यही जागरण का प्रारम्भ है। तब मध्यनाड़ी या सुषुम्ना खुल जाती है। वायु की वामावर्त तथा दक्षिणावर्त गति भी रुक जाती है। इसके बाद वही शब्द क्रमशः आदिवाक् या परावाक् तक पहुँचा देता है। वही वास्तविक शब्द

ब्रह्म जो परब्रह्म से अभिन्न है। तब पूर्ण अहं बोध का उदय होता है और सर्वत्र अहंबोध विराजमान रहता है।

योगी और ऋषिगण इसी परावाक् को ही ॐकार रूप से वर्णन करते हैं। ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, अतीत अनागत वर्तमान, स्थूल सूक्ष्म और कारण, उसी से उद्भूत हैं। जगत् सृष्टि शब्दमूलक है विश्व के सभी धर्मों में इसका कुछ न कुछ वर्णन मिलता है। ईसाइयों के New Testament में वर्णन है The Word was with God—The Word was God जितने प्रकार के वीज मन्त्र शास्त्रों में प्रचलित हैं और अन्य सभी मन्त्र पूर्ण अहं सत्ता से स्फुरित हुए उसकी प्राप्ति होने पर पूर्ण जागरण या चैतन्य प्राप्ति होती है।

पृथ्वी में जितनी भाषाएँ हैं उनके मूल में हैं वर्णमाला। वर्णमाला के क्रम किसी भी क्रम में रखें क्यों न गये हों, उनका मूल एक ही है। इन वर्णमालाओं से भाषा की रचना होती है। भावों के आदान प्रदान चलते हैं। लेकिन मूल में वर्णों के अतीत नाद वर्तमान है वह बोध के मूल हैं। वह प्रत्येक देश की वर्णमालाओं के पृष्ठ में वर्तमान है। उसके मूल में ज्योति है। यही ज्योति ॐकार के स्वरूप में पहुँचा देती है। अतः प्रत्यक्ष रूप में न भी हो, परोक्ष रूप में ॐकार ही सब भाषाओं के मूल हैं। जो जप के द्वारा मंत्र को चैतन्य युक्त करने में सफल हुए, वे इसके रहस्य को समझ पायेंगे।

यह जो कहा गया अशुद्ध शब्दों से शुद्ध शब्दों के द्वारा अन्तर्जगत् में प्रवेश—इसका तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। पहले ही कहा गया कि चित्त के ऊर्ध्वमुख मार्ग खुल जाने से नाद का प्रकाश अपने आप होता है। वैखरी वर्णों के साथ या शब्दों के साथ विन्दु के संयोग से निरन्तर जप के प्रभाव से बिन्दु नाद में परिणत होता है। नाद में परिणत होने पर स्थूल आवरण कट जाता है। तान्त्रिक प्रक्रिया विशेष में वर्ण या पद के बाद अनुस्वार लगाकर निरन्तर चिन्तन का यही रहस्य है। नाद में पहुँच जाने पर विश्वव्यापक धारा खुल जाती है। ग्रन्थियों के बन्धन टूट जाता है—भावग्रन्थि, द्रव्यग्रन्थि आदि नाना प्रकार ग्रन्थियाँ भावों के भीतर विद्यमान हैं। वे सब अहं या अहंकार है। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि आदि उन ग्रन्थियों के भिन्न भिन्न रूप हैं। केवल स्थूल ग्रन्थि ही नहीं, भाव ग्रन्थि भी कट जाना चाहिए। देहात्मबोध के मूल में जो अहंकार है उसे सभी जानते हैं—वही मूल ग्रन्थि है। सब प्रकार ग्रन्थियाँ जब कट जाती हैं तब जीव तत्तत् भिन्न भिन्न आकार में अपने को नहीं देखता। समग्र विश्व उस समय उसका अपना हो जाता है। ग्रन्थिहीन होने के कारण उन्हें मुक्तपुरुष कहा जा सकता है।

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

(पंचम खंड)

(श्री अमूल्यकुमार दत्तगुप्त एम० ए०, बी० एल०)

माघ १०, रविवार, १३५५ बंगाब्द (ई० २३।१।४९)। आज सुबह उठकर विन्ध्याचल आश्रम अच्छी तरह देखने का अवसर हुआ। मित्र मनमोहनजी इससे पहले भी यहां आये थे, उन्हीं के साथ घूम-घूमकर आश्रम देखने लगे। विन्ध्याचल में माँ का आश्रम अष्टभुजा पहाड़ के ऊपर है। पहाड़ के ऊपर का भाग समतल है और सम्भवतः त्रिकोणाकार है। इस त्रिकोण के एक कोण पर अष्टभुजा का मन्दिर, दूसरे कोण पर काली खोह का मन्दिर और तीसरे कोण पर श्री श्री माँ का आश्रम है। लोगों का अनुमान है कि जहाँ श्री श्री माँ का आश्रम बनाया गया है, उसी स्थान पर विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर किसी समय था। क्योंकि इस त्रिकोण क्षेत्र में ही विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर रहना सम्भव था। विशेष बात यह है कि एक मन्दिर का खंडहर माँ के आश्रम के समीप ही देखने को आता है। वर्तमान विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर विन्ध्याचल शहर में है। पहाड़ के ऊपर जिस स्थान पर विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर था ऐसा अनुमान किया जाता है वह एक समय श्री श्री माँ के आश्रम के भीतर ही था और माँ ने वहाँ पंचवटी निर्माण करने का आदेश दिया था। लेकिन भारत सरकार ने उस स्थान को प्राचीन कीर्ति के संरक्षण के हेतु अपनी देख-रेख में कर लिया है। वहाँ नारियल के खोपड़े की तरह एक ठुकड़ा पत्थर मिला था। विशेष जानकारों ने उसे देखकर बताया कि वह पत्थर का टुकड़ा नहीं, बल्कि मस्तक की हड्डी थी जो कालवश प्रस्तर के रूप में बदलता जा रहा है। बाद में वहाँ जब खोदा गया तब किसी महापुरुष के शरीर की भिन्न-भिन्न हड्डियाँ मिली थीं। वे सब देखने में पत्थर जैसी थीं। जिन महापुरुष की वह समाधि थी एक रात को उन महापुरुष को ज्योतिर्मय रूप परिग्रह करते हुए ऊर्ध्व से ऊर्ध्व लोक में जाते हुए माँ ने देखा।

माँ के आश्रम में प्रवेश के मार्ग में एक विशाल वृक्ष है, जिसका निचला भाग ईंटों से बँधाया गया है। इसे षष्ठीतला कहते हैं। सुनने में आया यहाँ अभय आदि भक्तगणों के साथ माँ गंभीर रात में आकर बैठती थीं। उस समय नाना प्रकार मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती थीं और उसी समय पहले बताये गये महापुरुष की ज्योतिर्मय मूर्ति भी दिखाई पड़ी थी।

आश्रम में प्रवेश करते ही एक मकान दिखाई पड़ता है वह माँ के रहने का स्थान है। यह तिमंजिला है और इसके चारों ओर एक घिरा हुआ बरामदा है। उस मकान के निचले

भाग में एक गुफा है। यज्ञमन्दिर और पितृमन्दिर नाम के और दो मकान हैं। आश्रम से थोड़ी दूर पर प्रसिद्ध महेश भट्टाचार्यजी का भजनालय है। आश्रम में ज्यादे मनुष्य समागम होने पर यहीं भजनालय में उन्हें रहने का प्रवन्ध कर दिया जाता है।

आश्रम का स्थान अति मनोरम है। यहाँ खड़े होकर पूर्व की ओर ताकने से एक रमणीय दृश्य नयन के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हरे रंग के शष्यों के खेत, बीच-बीच में घने पत्तियों से ढके वृक्ष, स्वच्छ सरोवर, मन्दिर गृह आदि सभी जैसे चित्र की तरह सुसज्जित हैं। दूर में गंगा एक चाँदी की माला के समान विसर्पिल गति से प्रवाहित हो रही हैं—यह दृश्य देखने से आँखें घुमा लेना असम्भव हो जाता है। पहाड़ के ऊपर समतल होने पर भी छोटे-बड़े पत्थरों से वह ढका है। निर्जन इस पर्वत शृङ्ग में एक शान्त स्तब्धता विराजमान है।

मनोमोहन और मैं प्रातःकाल इन सब दृश्यों के देखने के उपरान्त स्नान करने गंगाजी चले गये। स्नान के वाद जब लौट आये देखा कि भजनालय के बरामदे में श्री श्री माँ गोपीबावू आदि के साथ बैठी हैं। हमलोगों ने आकर माँ को प्रणाम किया।

क्या सब भोग ही कर्म फल के लिये है

इस समय डा० पन्नालाल जी ने माँ से पूछा—"माँ, सब प्रकार भोग हमारे कर्मफल से प्राप्त होते हैं—यह कैसे समझूं? यह सब हमारी कल्पना भी तो हो सकता है?"

माँ—इसे समझने के दो उपाय हैं—एक विश्वास और दूसरा प्रत्यक्ष। जबतक प्रत्यक्ष नहीं तबतक सन्देह रहता ही है।

डा० पन्नालाल—(गोपी वावू से) पंडितजी, शास्त्रों में क्या कहा है?

गोपी वावू—माँ ने जो कहा वही शास्त्रों की बात है। फिर और विस्तृत रूप से कहा जा सकता है। संस्कार के रूप में जीवों के चित्त में सब कुछ हैं। संस्कारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक कर्माशय है, और दूसरी वासना है। वासना स्मृति रूप में प्रकट होती है। जैसे किसी जगह जाने पर कभी-कभी उस स्थान के बारे में पूर्वस्मृति जग उठती है. यहाँ उस जगह के सम्वन्ध में जो पूर्व संस्कार थे उत्तेजक कारणों के सम्बन्ध से स्मृतिवश वे जागृत होते हैं। और कर्मांशय का प्रकाश होता है सुख और दुःख के रूप में। ऐसे अनेक कर्म हैं जो कभी फल देंगे या नहीं इसमें कोई निश्चयता नहीं है। ऐसे कर्म कटाये भी जा सकते हैं। फिर कुछ कर्म हैं जिनका फल भोगना ही पड़ता है।

श्री श्री माँ के शरीर में विचित्र आसन

पहले ही बताया गया है कि धर्मशाले के एक कमरे में मनोमोहन, सत्यबाबू, मि० पेतित और मैं थे। उसी कमरे में फ्रांस देश के एक महात्मा थे, वे आज सुबह हठयोग की

नाना प्रकार क्रियायें उसी कमरे में बैठे कर रहे थे। सत्य बाबू ने इन सब बातों को माँ से कहा। उन्होंने कहा—आज साहेब को सुबह नाना प्रकार आसन करते देखा। एक बार दो पैर को ऊपर रखकर मस्तक नीचे की ओर रखकर बहुत समय तक उसी प्रकार थे। फिर देखा अपने शरीर को बाँका करते हुए उसे धनुष की तरह बनाया। अगर हमलोग वैसा कुछ करने जायें तो हमारी हड्डियाँ टूट जायेंगी।

माँ—टूटने की क्या बात है—वैसे आसन तुम लोग कर ही नहीं सकोगे। एक समय इस शरीर में भी नाना प्रकार आसन होते थे। लेकिन इच्छा के अनुसार वैसा नहीं किया गया। देखती थी कि दोनों पैर लम्बे हो गये। बाद में एक पैर अपने आप दूसरे के ऊपर आकर पद्मासन बन गया। इसके करने में हाथों का कोई सहारा लिया नहीं गया। इसके बाद मस्तक पीछे की ओर मुड़कर यह शरीर गोल हो गया, जीभ ने दाहिने, बाँयें और मध्य स्थान को स्पर्श किया। दोनों हाथ युक्त होकर सीने के ऊपर रह गये और उसी अवस्था में उसी स्थान में पूजन होने लगा। ऐसा आसन अन्य किसी को मैंने करते नहीं देखा। इस शरीर का इस प्रकार एक आसन हुआ था आज पहले-पहल प्रकाशित कर रही हूँ। जब वास्तविक आसन ठीक-ठीक होता है तब शरीर में हड्डी आदि हैं ऐसा मालूम नहीं होता। हड्डी और मांस सब रबर जैसे बन गये मालूम होते हैं।

डा० पन्नालाल—ये सब आसन क्यों होते हैं?

माँ—संक्षेप से इतना ही कहा जा सकता है कि भावों के साथ उनका सम्बन्ध है। (गोपीबाबू से) ऐसा ही है न, बाबा?

गोपीबाबू—हाँ। आसन समूह भाव के बाहरी प्रकाश है।

माँ—आसन कहने से कतिपय निर्दिष्ट आसनों के बारे में कहा जाता है। जब इस शरीर में आसन होते थे तब मैंने देखा कि एक के बाद एक आसन होता रहा और नित्य ही नवीन। वास्तविक जिस स्थिति में रहा जा सकता है वही आसन है। आसन मुद्रायें ये सब भाव के स्वाभाविक बाह्य प्रकाश हैं। भाव के अधीन होकर जैसे आसन होते हैं, फिर भाव छोड़कर भी आसन हो सकता है। जब साधक बन गयी थी उस समय पहले-पहल भाव के अधीन होकर आसन होता था। अपने-आप शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों का स्पर्श होकर मन्त्रों का उच्चारण होता था। लोग जैसे अंग शुद्धि करते हैं उसी प्रकार हाथ, पैर, मलद्वार, नाभि आदि का स्पर्श होता था और मन्त्र का उच्चारण होता था। तब पूरे तौर पर साधु सज गयी थी, न। क्यों ऐसा होता है समझ में नहीं आता था, बाद में अवश्य ही इसका अर्थ समझ में आया था। सत्यबाबू सुनने में आया कि साधन के बल से शरीर लम्बा हो जाता है, जैसे महाप्रभु के सम्बन्ध में सुनने में आता है।

माँ—इस शरीर की पढ़ाई-लिखाई तो कुछ हुई नहीं और लोगों से भी कुछ इस विषय में सुनने में नहीं आया, लेकिन देखने में आया कि ये सब होते हैं। शाहबाग में देखा कि कभी-कभी पैर की सन्धियाँ खुल जाती थीं और पैर एक चमड़े की थैली में मानो लटक रहे हैं। भोलानाथ ने कभी ऐसे होते देखा नहीं या ऐसा हो सकता है किसी से सुना भी न था। इसलिये पैर की यह हालत देखकर घवड़ा जाता था। पैर की तरह हाथों की अनेक सन्धियाँ खुल जाती थीं, फिर जुड़ भी जाती थीं। एक वार नरुन्दी में दो गाड़ियों के टकराने से उनमें से एक लाइन के वाहर चली गयी थी। उस गाड़ी को उठाने के लिये ढाके से एक यन्त्र लाया गया। उस समय यह शरीर नरुन्दी में था और हमारे घर के सामने ही यह काण्ड हुआ था। यन्त्र के सहारे जव गाड़ी उठायी गयी तव देखी खट से थोड़ी आवाज होती है और गाड़ी भी जमीन से उठ जाती है। इस प्रकार खट-खट आवाज के साथ गाड़ी को जमीन से उठाकर लाइन पर बैठाया गया। विद्याकूट में देखा कि एक दिन सायंकाल में यह देह बैठा है, अचानक पद्मासन हो गया, उसके वाद मेरुदण्ड के भीतर खट्-खट् शब्द उठा और मेरुदण्ड भी सीधा होकर और आवाज करता हुआ विल्कुल सीधा हो गया। बाद में भी मेरुदण्ड सीधा होता था लेकिन उस समय शब्द नहीं होता था। फिर जव देह आसनबद्ध होकर बैठा तव मालूम हुआ कि इस शरीर को मानो किसी ने इस्क्रू से वाँध दिया। शरीर को इस प्रकार बद्ध देखकर मन में आया—"हाथ, पैर इस प्रकार फँस गया, इसे कैसे खोलूँ?" मन में इस प्रकार विचार उठने के साथ-साथ देखा कि भाव और श्वास की क्रिया बदल कर सब अपने आप खुल कर फिर पहली जैसी दशा को प्राप्त किया।

आज सायंकाल श्री श्री माँ ने गोपी वावू के पास अखंड महायोग के सम्बन्ध में आलोचना सुनने की इच्छा प्रकट की। मैंने गोपीबावू से उस विषय में कहा। उन्होंने कहा—अखंड महायोग में तत्त्व की बातें छोड़कर अनेक अनुभूति की बातें भी हैं जो सबके सम्मुख प्रकाश्य नहीं हैं। इसके अलावा प्रश्नोत्तर के रूप में आलोचना करने पर सुविधा है। मैंने इन बातों को माँ से कहा। माँ ने कहा, "मुझसे प्रश्न उठेगा कि नहीं बोल नहीं सकती। अगर आवे तव प्रश्न किया जा सकेगा। ऐसा निश्चय हुआ कि अखण्ड महायोग के तत्त्व अंश को साधारण लोगों के सामने प्रातःकाल बताया जायेगा और उसका जो अंश साधारण के निकट प्रकाश योग्य नहीं वह सन्ध्या के समय एकान्त में माँ को कहा जायेगा। उसके बाद सन्ध्या के समय हम लोग गोपी बाबू को लेकर माँ के कमरे में बैठे। डा० पन्नालाल के प्रश्न के उत्तर में गोपी बाबू अखण्ड महायोग की व्याख्या करने लगे। आलोचना प्रायः दो घंटे तक चली। वाद में सब लोग आहार करने के लिये नीचे उतर आये।

११ माघ, सोमवार (ई० २४-१-४९) आज सुवह उठकर मित्र मनोमोहन के साथ

गंगा स्नान में गये । आश्रम से गंगा कुछ दूर है । स्नान के अनन्तर महेश बाबू के भजनालय में आकर देखा वहाँ उत्तर बरामदे में श्री श्री माँ, गोपी बाबू आदि बैठे हैं । अखण्ड महायोग की व्याख्या चल रही है । दो घण्टों तक आलोचना चली, डा० पन्नालाल, कान्ति भाई, श्रीमान् भूपेन आदि गोपी बाबू के भाषण से नोट ले रहे थे ।

सन्ध्या समय मनोमोहन को लेकर कालीखोह दर्शन करने गये । भोजनालय में लौटकर सुना कि श्री श्री माँ भी घूमने निकली हैं । यह सुनकर, माँ की खोज में मैं भी निकल पड़ा । भोजनालय से थोड़े दूर माँ भक्तों के साथ बैठी थीं । डा० पन्नालाल, श्री विनय सेन, श्री अमल सेन आदि माँ को वेष्टित कर भिन्न भिन्न प्रकार खण्डों पर बैठे थे । मैं वहाँ जाकर बैठा । माँ कह रही थीं, एक बार सवाई मधुपुर (जयपुर) जंगल में एक विदेही योगी को शिष्य के साथ आकाश मार्ग से जाते देखी । जब वह योगी और उनके शिष्य के आकार का वर्णन मैंने किया तब वहाँ के रहनेवालों ने कहा कि ऐसे एक योगी और उनके शिष्य उस जंगल में थे ।'' सन्ध्या होते देखकर माँ उठ गईं साथ-साथ हम लोग भी उठे । आज सन्ध्या के बाद श्री श्री माँ ने गोपी बाबू को लेकर एकान्त में अखण्ड महायोग सुनने की इच्छा प्रकट की मौनी माँ और मैं भी उस समय उपस्थित रह सकेंगे ऐसा निश्चय हुआ । महेश बाबू के भोजनालय के जिस कमरे में गोपी बाबू रहते हैं उसी कमरे में आलोचना होगी ऐसा निश्चय हुआ । माँ ने मुझसे कहा समय होने पर मैं जाकर माँ को बुलाकर लाऊँ ।

——

श्री माता का मन्दिर

(महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज)

(२)

यह जो त्रिकोणात्मक वैन्दव चक्र है, तीन प्रकार का है। सृष्टि रूप में इसका स्वरूप शक्ति, किन्तु संहार रूप में इसका स्वरूप अग्नि है। यह चक्र ही क्रमशः नवयोनि चक्र रूप में परिणति प्राप्त करता है। नौ योनियों में चार आत्मस्वरूप (आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा) एक प्रमाता या जीव, एक प्रमेय या ग्राह्यवर्ग, एक ज्ञान, एवं बाकी दोनों धर्म और अधर्म रूप कर्म-संस्कार हैं। इसी मूल सत्ता का अवलम्बन करते हुए महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि की अवतारणा होती है। नवयोनिचक्र का यही स्वरूप है, यही चिदानन्द घन के नाम से सर्वशास्त्र में वर्णित है। इसमें एक ओर जहाँ चित् या चैतन्यकला है, दूसरी ओर उसी प्रकार विश्वाहन्ता का परिणाम आनन्द भी है। यह देश, काल और आकार के द्वारा अपरिच्छिन्न है, क्योंकि यही सब स्वरूपतः चिन्मय है। यह नवयोनिचक्र नौ प्रकार से विभक्त है। प्रत्येक चक्र में पृथक्-पृथक् मंत्रों का सम्बन्ध है। ये सब मंत्र चक्रेश्वरी, करशुद्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रथम चक्र अम्बिका के नाम से वर्णित होता है। यहाँ महाबिन्दुरूप सदाशिव आसन रूप में हैं। इस आसन पर अधिष्ठाता रूप में उपविष्ट है—शिवशक्ति का युगलस्वरूप। शिव को प्रलयाग्नि के नाम से वर्णन किया गया है। इस अग्नि में आदि तत्त्व शिव से अन्तिम तत्त्व पृथ्वी तक छत्तीसों तत्त्व अन्तर्लीन भाव में विद्यमान हैं। यह हुआ--अर्थ का स्वरूप। इस अग्नि को सभी वर्णों का आदिभूत, अनाश्रित प्रकाशरूप समझना चाहिए। अर्थात् यह अंकार है। जिसका चित्कला के नाम से वर्णन किया जाता है, वह विमर्शरूपा और सर्ववर्णों के अन्तर्मुक्त हार्द्धकला है। तंत्र की सांकेतिक भाषा में कहा जाता है—'अहं' का 'अ' कार आदिवर्ण प्रकाशरूप, एवं हंकार अन्त्यवर्ण विमर्शरूप है।

यह त्रिकोण महाबिन्दु रूप मध्यचक्र से उद्भूत है जिसे शिवशक्ति के सामरस्य के नाम से वर्णन किया गया है। यह त्रिकोण ही अम्बिका है। इस त्रिकोण के तीनों कोण से तीन स्पन्दों का आविर्भाव होता है जिसका प्रभाव अष्टकोणात्मक अष्टारचक्र आविर्भूत होता है। यह त्रिकोण अष्टार के केन्द्रस्थल में अवस्थित है एवं यह स्वरवर्णों द्वारा आच्छन्न है। त्रिकोण की तीनों रेखाएँ परस्पर समान एवं प्रत्येक रेखा पाँच स्वरवर्ण द्वारा आवृत हैं। अकार से पाँच स्वरवर्ण लेकर एक रेखा रचित होती है। इस प्रकार तीन रेखाएँ पन्द्रह स्वरवर्णों

द्वारा रचित होती हैं जिसका अन्तिम स्वर विन्दु नाम से परिचित है। त्रिकोण के केन्द्र स्थल में है—विसर्ग। यही त्रिकोण शास्त्रों में महात्रिकोण के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि यही त्रिकोण नौ चक्रों में परिणत होता है। त्रिपुरादि नव चक्रेश्वरी और करशुद्धि आदि मंत्रों के बारे में भी बताया जा चुका है। अम्बिका और शान्ता के सामरस्य रूप, सदाशिव रूप आसन यही है। कामेश्वर और कामेश्वरी द्वारा यह आसन अधिष्ठित है।

(३)

श्रीचक्र की अनेक प्रकार की वासनाएँ हैं जिनमें एक के बारे में यहाँ समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इस दृष्टि के अनुसार कल्पनाओं के स्तरों को इस रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। यह कल्पना करना पड़ेगा कि एक अधः ऊर्ध्व सरल रेखामय विशाल नाड़ी फैली है। इसे सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। इसका अन्तर शून्यात्मक है। इस नाड़ी के दोनों किनारे पर दो सहस्रदल शोभायमान हैं। जो ऊर्ध्व प्रान्त में है, वह श्वेतवर्ण है, जो सुषुम्ना के नीचे है, वह रक्तवर्ण है। नीचेवाला सहस्रार तंत्रशास्त्रों में अकुल शब्द के नाम से प्रसिद्ध है। ऊर्ध्व का सहस्रदल जो सुषुम्ना के ऊर्ध्व भाग में है, वह अधोमुख है एवं नीचे का सहस्रदल जो सुषुम्ना के मूलभाग में है, वह ऊर्ध्वमुखी है। अधः सहस्रार के ऊपर है—अष्टदल कमल, उसके ऊपर है—षड्दल कुलपद्म। इसका विशेष विवरण स्वच्छन्द तंत्र में प्राप्य है। प्रत्येक सहस्र दल में सभी शक्तियों का योग है। प्रत्येक कमल में कर्णिका या केशरादि विद्यमान है। ये दोनों सहस्र दल शाश्वत या नित्यसिद्ध हैं। दोनों सहस्र दलों के बीच स्थित सुषुम्ना को आश्रय करते हुए तीस आधार पद्म हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी शक्ति स्वरूप हैं। नीचे से ऊर्ध्व संचार के मार्ग में प्रथम स्थान का नाम है कन्द। यह गुदा और लिंग भेद के अन्तराल में स्थित है। कन्द स्थान पाँच अंगुल उच्च, दो अंगुल विस्तार और एक अंगुल परिमाण है। इसी कन्द में त्रिकोणाकार महायोनि है। इस योनि के मध्य में जो नाड़ी स्थित है, उसका नाम है—सुषुम्ना। जिसके निम्न प्रदेश में अधःसहस्रार की बातें बतायी जा चुकी हैं। उसके कर्णिका प्रदेश में कुलदेवी स्थापित हैं, चारों ओर शक्ति का आवरण है। इसी पद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व, सुषुम्ना में एक अष्टदल कमल है। इसमें आठ ग्रन्थियाँ हैं। इस कमल की कर्णिकादि सब कुछ रक्तवर्ण की हैं। इसके तीन शृंग हैं, जो ग्रन्थि के आगे स्थित हैं। उसमें बहुशक्ति स्थित है। अष्टभैरव और वामादि शक्ति यहाँ विद्यमान हैं। इसमें षड्दल कुलपद्म विद्यमान है। यह कुलपद्म कौलशक्ति के द्वारा निरन्तर समाश्रित रहता है। यह कुलपद्म पूर्व पद्म के एक अंगुल ऊर्ध्व में अवस्थित है।

किसी-किसी के मन में प्रश्न उठता है कि अकुल पद्म कौन-सा है ? कुछ लोग अष्टदल को ही अकुल पद्म समझते हुए ग्रहण करते हैं, किन्तु आचार्यगण इसे स्वीकार नहीं करते। उनका मत यह है कि सुषुम्नास्थित तीस पद्म फूलों में जो व्यापक है, वही सहस्रदल वास्तव में अकुल है। इसीका नामान्तर विषुव है। वही सभी का आधार है। अकुल के बाद सर्वप्रधान स्थान वह्नि का है, यह वह्नि बिम्ब मूलाधार का सूचक है। वह्नि के पश्चात् हृल्लेखा या शक्ति का स्थान निर्दिष्ट किया गया है। शक्ति के ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान या षड्दल कमल की अवस्थिति है। इसके ऊर्ध्व नाभिदेश में मणिपूर नामक दसदल कमल है। नाभि के ऊर्ध्व हृदयदेश में द्वादशदल अनाहत चक्र है। यह मणिपूर के ऊर्ध्व में स्थित है। इस चक्र में कालरात्रि आदि शक्ति की क्रियाओं का स्थान है। इसके बाद और भी ऊर्ध्व कण्ठदेश में षोडशदल विशुद्धचक्र स्थित है। विशुद्ध के ऊर्ध्व लम्बिकाग्र में एक अष्टदल कमल है। इसका आयत चार अंगुल है। इसके बाद भ्रूमध्य में द्विदल आज्ञाचक्र स्थित है।

आज्ञाचक्र के किंचिदूर्ध्व में बिन्दु का स्थान है। बिन्दु के किंचिदूर्ध्व में अर्द्धबिन्दु या अर्द्धचन्द्र प्रकाशमान है। इसके बाद क्रमशः रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना हैं। उन्मना के बाद महाबिन्दु है। यही है परमस्थान एवं यही निष्कल रूप में गण्य होता है।

इन सभी चक्रों में अकुल से आज्ञाचक्र तक चक्रों का विवरण विभिन्न योगशास्त्रों के ग्रन्थों में प्राप्य है, किन्तु आज्ञाचक्र के बाद से अर्थात् बिन्दु से महाबिन्दु तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर केन्द्रों का रहस्य साधारणतः सभी लोग नहीं जानते। यह जो सूक्ष्मता है, इसकी सूचना बिन्दु से प्राप्त होती है। अर्द्धमात्रा का क्रमिक संकोच रूप तंत्रशास्त्रों में प्रसिद्ध है। उन्मनी तक यह क्रमिक सूक्ष्मता की प्रगति है, ऐसा मानना चाहिए। वास्तव में उन्मनी में ही सूक्ष्मता का अवसान होता है। महाबिन्दु सकल, सकल-निष्कल दोनों भावों के अतीत है। यह महाबिन्दु ही विशुद्ध शून्य संविद की प्रतिष्ठा का स्थान है।

इस सूक्ष्म मार्ग का जो प्रथम स्थान है, उसका नाम है बिन्दु, यह पहले ही बताया जा चुका है। यह ललाट पर दीप के आकार के प्रतिभासित होता है। इसे अर्द्धमात्रा इसलिए कहा जाता है कि यहाँ उच्चारण के ह्रस्व स्वर के उच्चारणकाल का अर्द्ध है। यह जो बिन्दु का प्रकाश है, दीपवत् होने पर भी वृत्ताकार है। वास्तव में इसका प्रकाश कोटि सूर्यों के प्रकाश के अनुरूप है, इसमें सन्देह नहीं। इस बिन्दु के केन्द्र में या कर्णिका में शान्त्यतीत ईश्वर अधिष्ठित हैं, उन्हें चारों ओर से वेष्ठन करती हुई निवृत्ति आदि चार

कलाएँ विराजमान हैं। इसके बायीं ओर है—शान्त्यतीत की निज शक्ति। बिन्दु के बाद अर्द्धचन्द्र का स्थान है। इसका उच्चारणकाल $\frac{१}{४}$ मात्रा है। अर्द्ध चन्द्र के ऊपर ज्योत्सना, ज्योत्सनावती आदि शक्ति समन्वित रोधिनी का स्थान है। रोधिनी, रुन्धिनी आदि नाम से भी इन सभी शक्तियों का परिचय प्राप्य है। ब्रह्मादि ईश्वर या सिद्धवर्ग जिससे परतत्त्व प्राप्त न कर सकें, इसीलिए उनके गतिरोध के लिए इन सभी कलाओं की प्रतिष्ठा हुई है। रोधिनी त्रिकोण के आकार की विशिष्टता है।

अर्द्धमात्रा प्रसंग में जिस काल विभाग का आभास दिया गया, उसका तात्पर्य समझने के लिए काल का परमाणु सम्बन्धी ज्ञान होना आवश्यक है। तांत्रिकों और दार्शनिकों का कहना है कि काल का परमाणु है। ह्रस्व स्वर के उच्चारण का काल १ मात्रा है। इसे २५६ भाग में विभक्त करने पर जो कालांश प्राप्त होता है, उसे काल का परमाणु कहा जाता है। उसका पारिभाषिक नाम है—लव।

रोधिनी के बारे में पहले बता चुका हूँ। इसके बाद नाद का उल्लेख आवश्यक है। इसका आकार बिन्दुद्वय के मध्यगत सरल रेखारूप है। नाद के बाद नादान्त का स्थान एवं इसके बाद शक्ति। यह शक्ति ही सभी भुवनों का आधार है। यह चारों ओर स्थित सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और मृता इन चारों धाराओं का मध्यस्थ है। यही व्यापिनी या व्यापिका है। व्यापिका बिन्दुयुक्त त्रिकोण के आकार में प्रकाशमान होती है। दो बिन्दुओं के अन्तरालस्थ सरल रेखा ही समना है। बिन्दुयुक्त सरल रेखा उन्मना है। शक्ति आदि का स्वरूप द्वादश सूर्यों की नाईं उज्ज्वल है। इसके बाद मनोन्मनी। मनोन्मनी के पश्चात् है उन्मनी।

उन्मनी के ऊर्ध्व में अर्थात् हकार से आरम्भ कर सकल, सकल-निष्कल और केवल निष्कल इन तीनों अवस्थाओं के ऊर्ध्व में देश और काल के द्वारा अनवच्छिन्न, परमरमणीय जो स्थिति है, वह स्वभावतः सुन्दर एवं परमानन्दस्वरूप के आविर्भाव का स्थान है।

यह परमानन्द परप्रकाशात्मक परा और शिव का सामरस्यमय है। यह विमर्श शक्ति की स्वरूपभूता महात्रिपुर की सुन्दरी है।

इस स्थान पर उपनीत होने के लिए क्रमशः ऊर्ध्व में उत्थान करना पड़ता है एवं इस उत्थान के साथ-साथ कालभेद हो जाता है। जो सब वर्ण मंत्रों में अन्तर्भुक्त है, उनकी मात्राएं क्रमशः क्षीण होते-होते यहीं से ऊर्ध्व गति आरम्भ होती है। हकार से बिन्दु तक जितने वर्ण हैं, वे सब स्थूल हैं। उनके उच्चारण के बारे में मात्रा शब्द व्यवहृत होता है। बिन्दु से समना तक वर्णों की मात्रा अर्द्धमात्रा अर्थात् उसकी अर्द्धमात्रा, उसकी अर्द्धमात्रा, उसकी अर्द्धमात्रा आदि। समना के ऊर्ध्व में अर्द्धादि क्रम को अवलम्बन करते हुए लव तक उच्चारण काल है! यही सूक्ष्मतत्त्वकाल है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कालांश कल्पनीय नहीं है। इससे

ऊर्ध्व में अर्थात् लव के ऊर्ध्व भाग में शून्य ही शून्य है—यह कालातीत है। इस शून्य को भेद कर लेने पर आत्मा का विश्वभाव व्यक्त होता है। स्मरण रखना होगा कि अर्द्धचन्द्र के ऊपर रोधिनी और नाद है, नादान्त के ऊपर चित्शक्ति, व्यापिका और समना विद्यमान हैं। पहले कहा जा चुका है कि महात्रिपुर सुन्दरीरूपा विमर्श शक्ति जगदम्बा हकार से प्रारम्भ कर महाबिन्दु तक विभक्त तीन भाग के ऊर्ध्व में स्थित हैं। यही जगन्माता महाशक्ति प्रत्येक जीव की निज-निज आत्मस्वरूप हैं।

स्मरण रखना होगा कि विमर्श शक्ति जब आत्मा या परमशिव का स्फुरण अर्थात् पश्यन्त्यादि क्रम से वैखरी तक देखने की इच्छा करती हैं तब वह शान्तारूप में स्थित होकर अम्बिका रूप धारण करती हैं अर्थात् प्रकाशांश रूप अम्बिका के साथ सामरस्य प्राप्त करता है। इस अवस्था में उनका नाम परावाक् होता है। इस समय विश्व बीज रूप में अवस्थित रहता है। इसी परावाक् के भीतर ३६ तत्त्वरूपी विश्व अव्यक्त भाव में अवस्थित रहता है। जब इस बीज रूप विश्व को अभिव्यक्त अथवा प्रस्फुटित करने के लिए वे उन्मुख अथवा उत्सुक होती हैं, तब वे वामा नाम धारण करते हुए अन्तर्निहित विश्व को बाहर प्रकाशित करती हैं अर्थात् उत्पादन करती हैं। आत्मा की ओर से बाहर प्रकाश होने के कारण इसका नाम है—वमन। तब इस वामा त्रिकोण को वामरेखा अभिव्यंजन करती है। यही रेखा सृष्टि रेखा है। वामा शक्ति के साथ इच्छाशक्ति सामरस्य प्राप्त करते हुए पश्यन्ती रूप में अवस्थान करती है। इधर ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा रूप में प्रकट होती है। वामा विश्व सृष्टि की सूचना देती है, किन्तु ज्येष्ठा विश्व स्थिति की सूचना देती है। यह सरल रेखारूप में है। ज्येष्ठा शक्ति ज्ञानशक्ति के साथ सामरस्य प्राप्त करती है। यही विश्व की स्थिति का प्रतीक है। यही त्रिकोण की अग्ररेखा है। इसके बाद क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। ऋजुरेखामयी मध्यमावाक् मध्यमामातृका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद अर्थात् विश्व की सृष्टि और स्थिति के पश्चात् विश्व का संहार प्रदर्शित होता है। संहार-काल में बैन्दवरूप धारण करते हुए अम्बिका और शान्ता सामरस्य रूप में स्थित होते हुए मध्यबिन्दु से आविर्भूत होने के बाद संहारोन्मुख होकर पुनः बिन्दु में प्रवेश करती हैं। प्रत्यावर्त्तन क्रम में इसे रौद्री और क्रिया शक्ति का सामरस्य समझना चाहिए। यह त्रिकोण की दक्षिण रेखा है। वैखरीवाक् विश्वविग्रह यह शास्त्रों में उक्त हुआ है।

अब तक जो कुछ बताया गया, वह सब अम्बिका आदि की चार शक्तियों एवं शान्ता आदि चार शक्तियों के त्रिकोण रूप धारणा का रहस्य है। ये सब शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श की अंशरूप हैं, यह पहले ही बताया जा चुका है।

(शेष अगले अंक में)

शाहबाग-लीला

(२)

"प्रत्यक्ष-दर्शी"

चैत्र का २३वाँ दिन, साल १३३२—अंग्रेजी ७-४-२६, प्रातःकाल। स्थान—माँ का निवास गृह, बीच वाला बड़ा कमरा। माँ की अस्वाभाविक मुद्रा, मानो किसी आश्चर्य पारलौकिक जगत् से होकर, किसी अदृश्य शून्यपथ को अतिक्रम करके माँ अभी-अभी, इस वर्तमान स्थान पर उपस्थित हुई हों। कमरे के फर्श पर बैठी हुई प्रज्वलित मुख पर स्थित आवेश चकित दृष्टि,—पर इसका कारण कौन बता सकता है ? (नयनों में स्नेह, सौन्दर्यपूर्ण, आलोक रेखा झलकती हुई।) आठ-दस दर्शनार्थी यात्री श्रेणीबद्ध होकर बैठे हुए हैं, तनिक दूर में बाबा भोलानाथजी की आनन्दमय, शान्त मूर्ति दिखाई पड़ रही है, आज जितने भी लोग उपस्थित हैं, उन सबको कल, माँ की चरण धूली स्पर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आज वे अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता का भेंट देने आए हैं। माँ के दर्शन हो जाने पर भी, मन की तृष्णा, पिपासा तृप्त न हो रही थी, जी करता है कि सदा के लिए इस अलौकिक देवी के श्रीमुख मण्डल को निहारते रहें। तभी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो सूक्ष्म में आज इस कमरे में 'दर्शनोत्सव' चल रहा है।

एक नवीन युवक कमरे में प्रवेश के उपरान्त, सर्वप्रथम माँ को प्रणाम करके बाबा भोलानाथजी को उनका एक पत्र वापस किया, भोलानाथजी ने पूछा—"पुरोहित की कर्मपटुता कैसी है" ? आगन्तुक ने उत्तर दिया—"अभी हाल ही में शिक्षा ग्रहण की है। कुछ भी अभिज्ञता, अनुभव नहीं है।" तथा किसी विराट पूजा-आयोजन में उनपर निर्भर नहीं किया जा सकता"। "ऐसा होने से मैं उस पुरोहित की आशा छोड़ रहा हूँ—भोलानाथजी ने उत्तर दिया, इस प्रसंग के समाप्त होने पर, युवक ने माँ के सम्मुख उपस्थित होकर प्रगतिपूर्वक माँ से प्रार्थना की कि वह माँ के मुख से 'जीवन में भगवत् सेवा' के ऊपर कुछ उपदेश सुनने का इच्छुक है। माँ नीरव रहीं, प्रश्नकारी सुनने की अपेक्षा में खड़ा रहा। इसी अवसर पर बाबा भोलानाथजी ने उसे लक्ष्य करके कहना आरम्भ किया—'देखो इसी वाटिका में एक हिन्दुस्तानी पुरुष बगीचे के काम में नियुक्त है। उसने विवाह नहीं किया है, जो कुछ वेतन मिलता है उसे अपने मामा तथा भाइयों को भेज देता है। अपने निर्वाह के लिए, घास काटकर, उसे बेचकर जो थोड़ा-बहुत पैसा पाता है उसी से अपने खाने का खर्चा चलाता है। मैंने ऐसा सुना है कि वह अपने मामा के पास ही प्रतिपालित हुआ है। अब तुम भी अर्थोपार्जन करके अपने मामा की सहायता करो, और उसके पश्चात् अवसर पाने पर

भगवत्-चिन्ता करो। इस प्रकार चलना ही मैं ठीक समझता हूँ। पहले अपना कर्त्तव्य निभाओ और बाद में भगवत् चिन्ता की सोचो। उस समय माँ ने उस युवक को एक बार देखा और फिर भोलानाथजी से कहा—"इसे ज्योतिष के पास जाने के लिए कहो।" कण्ठस्वर अभी भी क्षीण था, अपरिष्कृत था।

'ज्योतिष' अर्थात् श्रद्धेय ज्योतिष चन्द्र राय उस समय बंगाल कृषि विभाग के एक उच्चपदस्थ राजकर्मचारी थे। वह युवक उसी विभाग के केन्द्रीय गवेषणागार के एक कर्मचारी के घर में रहता था। ज्योतिष बाबू से वह परिचित था। जानता था कि लोग नौकरी के लिए अक्सर उनके पास ही आते थे। पर आगन्तुक के मन में नौकरी पाने की इच्छा न रहने के कारण ही, वह माँ की यह बात सुनकर निरुत्तर रहा, और फिर नमस्कार करके वहाँ से चलने को हुआ। माँ ने तुरन्त किसी को कुछ आदेश दिया, उस व्यक्ति ने वह सुनकर शीघ्र ही एक पानी भरा नारियल (जिसे बंगाली भाषा में डाब कहा जाता है) लाकर उस युवक के हाथ में दिया, पर सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब देखा कि उसने उसे ग्रहण करने से अस्वीकार कर दिया। यहाँ तक कि बाबा भोलानाथजी ने भी कहा—"तुम्हारी माँ तुम्हें आशीर्वाद दे रही हैं। ग्रहण करने से तुम्हारा ही मंगल होगा।" उत्तर में युवक ने नम्रतापूर्वक कहा—"सांसारिक मंगल में मैं रुचि नहीं लेता।" उपस्थित दर्शकगणों ने भी जब उसे, माँ का प्रसाद लेने के लिए बहुत आग्रह किया तो उसी शान्त, मुस्कराहट की मुद्रा में उसने जवाब दिया—"मध्याह्न की पूजा, जप आदि न करने के कारण, मैं यहाँ इसे खा नहीं सकता, और यदि इस प्रसाद को अपने घर ले जाता हूँ, तो यहाँ की सारी बात उन लोगों को कहने के लिए विवश हूँगा।" सबको स्पष्ट हुआ कि माँ के विषय को वह गोपन रखना चाहता है। यह कहकर वहाँ से प्रस्थान लेकर वह घर की ओर अग्रसर हुआ। कुछ दूर चले जाने के बाद भी दर्शकगण पीछे से उसे बुला-बुलाकर नारियल ले जाने के लिए कह रहे थे, पर उसका प्रत्युत्तर यही था—"मैं माँ के पास सांसारिक विषय लेकर तो आया नहीं, फिर मुझे अमंगल का डर किस लिए।"

आगन्तुक चला गया। माँ के आदेशानुसार नारियल को काटकर उनके सामने लाया गया, देखा कि उसमें एक बिन्दु भी पानी नहीं था। भक्तगणों ने यही सोचा कि क्योंकि युवक ने माँ के दिए हुए आशीर्वाद को लेने से इन्कार कर दिया था। इसीलिए माँ ने स्वयं ही उस नारियल के पानी को सूक्ष्म में आकर्षण कर लिया था, कितना दुर्भाग्य था वह व्यक्ति। जीवन के मंगल आशीर्वाद को उसने ठुकरा दिया था।

इधर घर लौटते वक्त युवक के मन में बारबार यही विचार जागृत हो रहा था कि पार्थिव वस्तु न लेकर उसने ठीक ही किया है। माँ के निकट अभिलाषा की थी, कि जीवन

के दुर्गम पथ को अतिक्रम करने के लिए, माँ के मुख से कुछ सद्वाणी श्रवण करेगा। अब उस लौकिक प्रसाद को अस्वीकर करके उसकी आन्तरिक प्रार्थना ही प्रवल रही। यदि किसी दिन माँ उसको इस प्रार्थना की भिक्षा देने के लिए इच्छुक हुई—तो वह अपने तन-मन से उनकी मधुर वाणी तथा उपदेश को हृदयंगम कर लेगा नहीं तो वह पथ का राही, पथ में ही विलीन होकर रह जाएगा।

कल्कि पुराण में लिखा है—

"न ददाति हरिः किंचित् सेवकोऽपि न याचकः।
तथापि एतयोः प्रीतिर्भवति किमिति शाश्वती ॥

श्री हरि दूसरों को कुछ देते नहीं हैं, उनका सेवक भी कुछ माँगता नहीं है, तथापि परस्पर की स्नेह प्रीति नित्यकाल तक शाश्वत है, अमर है। आश्चर्य की बात है!

माँ तीन साल से प्रायः मौन ही रहती हैं। यदि बहुत ही प्रयोजन हो तो केवल बाबा भोलानाथजी से दो-चार बातें कर लेती थीं। माँ जिस प्रकार निज हाथ से निज मुख में खाद्य डालने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं को बटोर कर रखना अथवा उनकी व्यवस्था करना, उनके लिए असाध्य था। वह तो सर्वदा आध्यात्मिक एवं पारलौकिक जगत् में विचरण करती हैं, उनका शरीर भी प्रायः इसीलिए यौगिक क्रिया में लीन होकर समाधिस्थ हो जाता था। एक ही वस्त्र से आवृत, भाव मग्न होकर धरती पर लेटी हुई, उनकी इस छवि से कई लोग परिचित थे, भक्तों की करुण प्रार्थना के फलस्वरूप, आकस्मिक, माँ इस अवस्था से उठकर बैठ भी जाती थीं। बाबा भोलानाथजी की छोटी बहन इनके यहाँ आकर, खाना पकाना तथा अन्य दैनिक कार्य करती थी। माँ अपराह्ण तीन बजे तक भगवत्-चिन्तन के भाव समुद्र में डूबी रहती थीं, इसके बाद बाबा भोलानाथ माँ का हाथ पैर-धुलाकर, उनको कुछ खिलाने के उद्देश्य से उनका नाम ले लेकर पुकारते थे, इससे माँ की बाह्य चेतना जाग्रत हो जाती थी और वे अपने नयन खोलकर कुछ बोलने का प्रयत्न करती थीं—"तुम मुझे उठने के लिए कह रहे हो?" या "तुम मुझे खाने के कमरे में जाने के लिए कहते हो?" अथवा "मुझे क्या करना होगा बोलो?"

और यदि माँ के मन में बाह्य ख्याल आ जाए तो माँ प्रसाद वितरण के लिए परिवेशन करने में, या खाना बनाने के आयोजन में योगदान देने तत्पर चली जातीं। जिस कार्य को माँ स्पर्श करती थीं, उसी में उनकी कुशलता तथा दक्षता परिलक्षित होती थी। अल्प समय में अत्यधिक कार्य कर लेना भी उन्हीं की विशिष्टता थी।

बाबा भोलानाथजी के परिवार में माँ के पितृदेव भी रहा करते थे। देखने में एक ऋषि के स्वरूप—'ज्योतिर्मय'। माँ की छोटी ननद का लड़का—अमूल्य कीर्तनों में मृदंग वादक का कार्य अच्छी तरह निभाता था। पिताजी के सबसे बड़े भ्राता का पुत्र—आशु, विद्यार्थी था, तथा माँ का अनुज भ्राता—माखन, वह भी शिक्षार्थी था। शाहबाग में कुल मिलाकर प्रायः सोलह माली एवं एक द्वारपाल था। जिनसे बाबा भोलानाथ घास कटवाना, जंगल साफ कराना, वृक्षलता रोपन, जल सिंचन आदि कार्य सम्पन्न कराते थे।

जिस कमरे में माँ के भोग के लिए आयोजन किया जाता था उसी कमरे के उत्तर वाले कोणकी तरफ भगवान् की पूजा के उद्देश्य से एक छोटी कलशी तथा माँ काली की एक रंगीन तस्वीर यत्न से रखी हुई थी। लक्ष्मी पूजा के लिए आसन भी था। भोग के समय धूप जला दिया जाता था। बीच वाले कमरे की दीवार सजी थी, माँ के हाथ से कढ़ी हुई रंगीन धागों से युक्त—भगवान् की प्रतिमा। जिसके नीचे लिखा था—"सकृतानाय नमः" इस प्रकार के मन्त्र आदि अक्सर ही माँ के श्री मुख से स्फुरित होता था, कमरे के एक तरफ थी एक टेबिल जिसके ऊपर रखी थी दो-तीन पुस्तकें। उनमें से एक का नाम था—ठाकुर दयानन्द, इस पुस्तक को श्रीमती शारदा सेन ने माँ के उपहार स्वरूप दिया था, इस दालान के दक्षिण तरफ के त्रिकोण कमरे में बर्तन इत्यादि रखे जाते थे। यहाँ से करीब पच्चीस गज की दूरी में एक और छोटा कमरा था, जहाँ भोजन पकाया जाता था। माँ एवं बाबा भोलानाथ दोनों भावमग्न होकर बैठे हैं, मधुमयी माँ का बाँया हाथ ऊपर उठा हुआ है, मानो वह जीवगणों को आशीष दे रही हैं। कितना मधुर था वह दृश्य, कितना कोमल, कितना स्निग्ध। कमरे में टेबिल पर शीशा एवं कंघी भी थी। कुछ बर्तनों पर माँ का नाम भी खुदा हुआ था—"निर्मला"।

बहुत बार माँ को अकेले-अकेले मखमली घास से बिछी हुई बाग पर टहलते देखा गया है। दूर से इस वाटिका को देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानो यह एक देवों का बगीचा है, अप्सराओं का परम रमणीय अंचल, जहाँ शीतल, मन्द पवन लहराती है, और चन्द्र की किरणें जहाँ करती हैं अठखेलियाँ, राजेश्वरी माँ मानो सारे मर्त्यलोक की अधिकारिणी के रूप में इस स्वर्गीय वाटिका में विराज कर रही थीं और उनके शरीर से निकलने वाली दिव्य प्रकाश की छटाएँ सबको कर रही थीं प्रभावित।

सन् १९२४ के अप्रैल के महीने की बात है। वह युवक माँ के दर्शन की पिपासा के लिए प्रायः शाहबाग में आता है। किन्तु माँ के पास कैसा प्रसंग उपस्थित होगा (अर्थात् संसार सम्बन्धी अथवा भगवत् सम्बन्धी) यह सोचकर, वह वाटिका की दीवार के बाहर रहकर ही दूर से भावमग्ना माँ के दर्शन करके चला जाता। शाहबाग के उत्तर की तरफ "धान-

मन्डाई ग्राम'' नाम का एक ग्राम था। वहाँ एक साधुपुरुष रहते थे, उनके शिक्षागुरु का नाम था—इन्द्रमोहन चक्रवर्ती, ऋषियों के आदर्श के अनुसार वे अपना जीवन यापन करते थे, एक बार इन्द्रमोहन ठाकुर के मन में दुर्गापूजा करने की इच्छा जागी, उसी युवक को उन्होंने पूजामण्डप के काज में निगुक्त कर दिया, एवं पूजा के पाँचों दिन शाहबाग से पुष्प लाने की व्यवस्था की। शाहबाग के परिदर्शक श्रद्धेय रमणीमोहन चक्रवर्ती के निकट एक चिट्ठी भी भेजी, ये ही जागतिक दृष्टि से श्री श्री माँ के पति थे—बाबा भोलानाथ। सन् १९२४, सितम्बर का महीना। इस समय से पाँच दिन लगातार वही युवक, यहाँ से फूल तोड़कर ले जाता था किन्तु उस समय, एक दिन के लिए भी उसने माँ को न देखा।

प्रतिदिन बाबा भोलानाथजी तरकारी आदि खरीदने के लिए नौ-दस बजे के करीब शाहबाग के फाटक के पास आकर खड़े होते थे। वह युवक अक्सर उनको इस प्रकार देखता था। भोलानाथजी भी उसे देखते थे। तेजी से चलना। पुस्तक पढ़ते पढ़ते। उस युवक की विशेषता थी। बाबा ने भी इस विशिष्टता को ध्यान से देखा था। संध्या के समय स्कूल से लौटते वक्त, युवक शाहबाग के फाटक के पास एक विराट बटवृक्ष की छाया के तले बैठ गया, विश्राम के उद्देश्य से। अकस्मात् एक अपूर्व दृश्य ने युवक को मंत्रमुग्ध कर डाला। एक श्यामवर्ण प्रौढ़ पुरुष। दीर्घकेश, लम्बी दाढ़ी, लावण्यमय मुखाकृति जिसमें वैराग्य एवं ईश्वर प्रेम की ज्वाला धधक रही थी। ऐसी एक मूर्ति मानो युवक के नयनों के सम्मुख क्षण भर के लिए आविर्भाव होकर फिर अन्तर्धान हो गयी। यह ज्योतिर्मय पुरुष एक लौहमय 'दण्डताल' नामक यंत्र बजाकर उच्च कण्ठ में भावमूलक भजन गाते दीख पड़ते थे, कभी सप्तम स्वर, कभी पञ्चम स्वर। देखने में ऋषि के समान, और तपस्वी के जैसी आकृति। मनुष्य के कल्पनामय मन में यह भावना भी जागृत हुई, मानो पथचारी ७ देवर्षि नारद मुनि, तत्त्व संगीत गाते गाते चले आ रहे हों, यही ऋषि स्वरूप, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय तपस्वी माँ के पितृदेव परम श्रद्धेय विपिन बिहारी भट्टाचार्य के नाम से परिचित हैं।

(क्रमशः)

॥ ॐ माँ ॥

मातृ सत्संग

(५२)

श्री स्वामी भागवतानन्द गिरि

स्थान---त्रिवेणी तट---प्रयाग। अर्धकुम्भ मेला। ता० २७ जनवरी १९४८ माघ कृ० १, २००४

प्र०---हर जगह में सुना है कि आध्यात्मिक जगत में गुरु की बहुत आवश्यकता है। मुझे तो गुरु और माता पिता की कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे तो सिर्फ भगवान् चाहिए।

माँ---गुरु तो स्वयं भगवान् ही है। भगवत् तत्त्व तो गुरु ही समझाता है। गुरु में मनुष्य बुद्धि नहीं करनी चाहिये। हर समय भगवत् बुद्धि से गुरु का दर्शन करना चाहिये। एक स्थान में यदि तुम शक्ति को जागृत कर सको तो उसी से अखिल विश्व ब्रह्मांड जग सकता है। जगत् माने जहाँ गति है वही जगत् है। उस जगत् की सृष्टि, स्थिति, और लय भगवान् ही करता है। उनका गुरु कौन हो सकता है? एकमात्र सच्चा गुरु भगवान् ही है। भगवान् को मानने से उनकी स्थिति का और उनके प्रकाश का पता चलता है। समस्त विश्व ब्रह्मांड का गुरु एकमात्र भगवान् ही है। गुरु शक्ति द्वारा भगवत् प्राप्ति हो सकती है। जब तक गुरु की सहायता न मिले तब तक भगवत् प्राप्ति बहुत मुश्किल है। बुद्धि की दौड़ कहाँ तक जा सकती है? बुद्धि से भगवान् को पकड़ना चाहते हो? वह कैसे हो सकता है? भगवत् प्राप्ति के लिये सबसे पहले गुरु की आवश्यकता है। यह बात भी माननी चाहिए कि जो तुम्हारा गुरु है वह सबका गुरु भी है।

प्र०---जागतिक दृष्टि से तो गुरु एक ही है?

माँ---गुरु भी बहुत प्रकार का होता है। उपदेश गुरु, शिक्षा गुरु, दीक्षा गुरु, स्पर्श गुरु और मंत्र द्वारा भी गुरु होता है। शिष्य भी अनन्त प्रकार का होता है। जब तक दीक्षा लेने की आंतरिक इच्छा न हो, गुरु के श्री चरण कमलों में शरण लेने की इच्छा न हो तब तक दीक्षा न लेना। तुम हमेशा भगवान् को प्रार्थना करो कि "हे भगवान्, तुम मेरे लिये सद्गुरु दो!" किसी के कहने से दीक्षा मत लो। नहीं तो पीछे से पछताना पड़ता है। यदि एक बार गुरु से दीक्षा ले लिया तो फिर उनकी आज्ञा के मुताबिक चलना चाहिए। एक बार शादी हो जाने के बाद फिर विच्छेद नहीं हो सकता है।

प्र०—माँ, मैं इलाहाबाद में पढ़ता हूँ। मैंने तो स्वामी रामतीर्थ को अपना गुरु मान लिया है। मैंने जब ११ वर्ष की अवस्था में श्री स्वामी रामतीर्थ के संबंध में सुना—तब से उनको मैंने गुरु मान लिया है।

माँ—तुम विचार करो। एक बार गुरु मिल गया हो तो दूसरा गुरु मत करो। तुम बदलो मत। कुछ कर्म भी करते रहो। रोज भगवान् से प्रार्थना करो—"हे भगवान्, कृपा करके आप दर्शन दो" भगवान् का ध्यान करो। श्री रामतीर्थ का उपदेश तो तुमको मिला ही है। श्री रामतीर्थ का उपदेश पालन ठीक ही करो।

श्रीगोपाल ठाकुर—गुरु करने में रुकावट क्या है? मुश्किल कहाँ है?

माँ—आपत्ति कहाँ है?

प्र०—भगवान् को ही सीधा गुरु क्यों नहीं बनाते? बीच में दूससे गुरु की क्या आवश्यकता है?

माँ—गवर्नर से मिलना हो तो पहले से इजाजत लेकर जाना पड़ता है। बिना इजाजत वहाँ कोई मिलने नहीं देगा। इसलिये भगवत् प्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता है। गुरु की प्राप्ति के लिये भगवान् का ध्यान करो। ध्यान करते करते वह प्रकट हो जायेंगे। तुम बेफिक्र रहकर भगवत्-चिंतन करो। मेरे लिए यदि गुरु की आवश्यकता होगी भगवान् ही मेरे लिए गुरु की प्राप्ति करा देंगे—हे भगवान्! मैं तो सिर्फ तुमको चाहता हूँ। भगवत् प्राप्ति के लिये तुम जितनी तीव्र साधना करोगे उतनी ही जल्दी से भगवत् प्राप्ति हो जावेगी।

प्र०—भगवान् को तो बहुत ढूंढा—कुछ नहीं मिला।

माँ—जब तक भगवत् प्राप्ति न हो तबतक खोजना छोड़ो मत। भगवान् तो किसी भी क्षण में प्रकट हो सकते हैं।"

इसके बाद भजन कीर्तन हुआ। रात को १० से १२ मैं माँ के तम्बू में बैठा था। माँ तख्त पर लेटी पड़ी हैं। दीदी माँ के श्रीचरण कमलों में मालिश कर रही हैं। माँ ने श्री बालानंद आश्रम के महन्त पूज्य श्री मोहनानंदजी को यहाँ आने के लिये निमंत्रण भेजा है। भूपेन निमंत्रण देने गया है।

डा० पन्नालाल—माँ, तुम्हारे पास आने की अथवा रहने की इच्छा आश्रम के ब्रह्मचारियों को हो तो इसमें खराब क्या है?

माँ—इस शरीर के पास आने की और रहने की इच्छा हो तो अच्छी बात है। लेकिन इस शरीर की बात को भी मानना चाहिए कि नहीं? (सब वहाँ बैठे हुए ब्रह्मचारियों को सम्बोधन करके) इस शरीर की बात को सुनकर चलने से साधना में उन्नति होती है। सबको

सोचना चाहिये कि इस शरीर ने उनको कुछ काम के लिये भेजा है। दूसरे समय यह भी हो सकता है कि यह शरीर अपने पास बुला लेती हूँ। आदेश पालन करना चाहिये। आदेश पालन करने से आध्यात्मिक कल्याण होता है। दूसरों के दोषों को नहीं देखना चाहिये। दूसरों के दोषों को देखने से ज्यादा अच्छा यह है कि हरेक व्यक्ति को अपना दोष देखना चाहिये। दूसरों के दोषों को देखने से ज्यादा अच्छा यह है कि अपना दोष देखें। पहले अपने को सुधारने की कोशिश करो। दूसरे की निन्दा करने से तो उनका तुम मैल छुओगे। क्रोध भी खूब खराव है। क्रोध भगवान् प्राप्ति के मार्ग में बहुत बड़ा विघ्न पैदा करता है। यदि क्रोध करना है तो अपने पर क्रोध करो। यदि लोभ करना है तो भगवद् प्राप्ति के लिये लोभ करो। कामना करनी हो तो भगवान् को प्राप्त करने की कामना करो। तुम सब लोग साधु होने आये हो तो सब लोगों को खूब संयम की जीवन जीना पड़ेगा। गृहस्थाश्रम में भी संयम रखना पड़ता है। किसी-किसी का ऐसा भाव है कि यह मेरी माँ है इसलिये मैं, जो खुशी होगी करूँगा। इसमें जो पतन होता हो वह अच्छा नहीं है। एक विधवा बहन ने मुझसे कहा था कि, "मैंने मेरे लड़के को बहुत प्यार से बड़ा किया था। अब वह लड़का खूब खराब हो गया है। मुझको भी मारता है! यह बात ऐसी है कि किसी को बाहर में भी नहीं कह सकते।" इस शरीर ने उनको कहा, "तुम्हारे पास जो कुछ है वह लड़के को दे दो और तुम भगवान् के भजन में लग जाओ।"

माँ का ऐसा गम्भीर उपदेश सुनकर सब लोग अपने-अपने स्थान में चले गये।

× × × ×

ता० २८ जनवरी १९४८ माघ कृ० २,२००४

परमपूजनीया 'माँ' प्रातः १०। बजे सत्संग मण्डप में अपने आसन पर विराजमान हैं। उस समय "श्री माँ आनन्दमयी—द्वितीय खण्ड" में से एक बहन पाठ कर रही थी। पाठ पूरा होने के बाद एक भाई से प्रश्न किया :—

प्र०—साधन भजन की बातों को गुप्त रखना चाहिये—क्या ?

माँ—पहले भीतर और बाहर सर्वत्र एक आत्मा से भर दो। भगवान् का सच्चा सेवक-दास हो जाओ। इससे अहंकार का लेश भी नहीं रहेगा। जो जगत् गुरु है वही सबको भगवत् प्राप्ति करा सकता है। पहले अहंकार का नाश करो। इसके बाद यदि चाहो तो मन्दिर बनाओ या साधु लोगों की सेवा करो या दान करो। ऐसा करते-करते भगवान् की तरफ पहुंच जाओगे। किसी-किसी जगह में मठ बनाने की मनाही होती है। किसी-किसी अवस्था में यह सब करने की मनाही होती है, सिर्फ भगवान् में ही परम लगन के साथ लग

जाओ। महा शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। यदि तुमने कोई शक्ति प्राप्त की होगी तो पीछे तुम किसी को दे भी सकते हो। तुमने थोड़ा लाभ किया होगा तो थोड़ा दे सकोगे। लेकिन जब तुम परम वस्तु को प्राप्त कर लोगे तो परम वस्तु को तुम दूसरे किसी को दे सकते हो।

प्र०—प्रश्न करते-करते आँख में अश्रु आ जाते हैं? माँ, आँसुओं को कैसे छिपाऊँ?

माँ—एक बात सुनो। आँख में अश्रु आ रहे हैं! यदि अपने आप अश्रु बह जाए तो उससे भगवत्-प्राप्ति भी हो सकती है। किसी-किसी जगह में अपने आप अश्रु आ जाने से उनके जीवन में परिवर्तन हो जाता है। जब मनुष्य भाव से बिल्कुल मगन हो जाता है तब किसी-किसी समय में आँख में अश्रु आते हैं। भगवान् को प्राप्त करने की कोशिश करो। किसी-किसी मनुष्य को शोक के समय में अश्रु बह जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु को भावावेश में खूब अश्रुपात होता था। कोई-कोई समय में आँख में से पिचकारी की तरह अश्रुधारा निकलती थी। भक्ति भाव से अश्रु बहता है। भगवान् के लिये प्रेमाश्रु—बहुत अच्छी बात है। अपने में शक्ति या भाव प्रकाश हो तो उनको ग्रहण करके धारण करने का प्रयत्न करो। भाव का नियमन करने से क्या होता है? तुम जानते हो? भाव का नियमन करने से शक्ति की वृद्धि होती है। किसी-किसी को भगवान् नाम या कीर्तन सुनने से अश्रु बह जाता है। बेबी का एक लड़का I. C. S. होकर District Magistrate होकर मोटर accident में मर गया। लेकिन बेबी को कुछ नहीं हुआ। मृत शरीर के पास से आना-जाना करती थी और सब काम की व्यवस्था करती थी। उस समय किसी ने कहा था कि बेबी को रोने दो नहीं तो पागल हो जायेगी।

प्र०—थोड़ा भाव आने से अश्रु आ जाता है क्या करूँ? उस समय क्या उठकर बाहर चला जाऊँ?

माँ—जब अश्रु आ जावे तब बाहर जाने की कोई जरूरत नहीं है। भाव का नियमन करने की कोशिश करनी चाहिए। इसलिये पाठ छोड़कर बाहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। भाव आ जाने से भी पाठ सुनो। भाव को अपने में रखो। अपने में ग्रहण करने की कोशिश करो। भावों का नियमन हो सके तो जरूर करो। नियमन करने से अन्तःशक्ति बढ़ जाती है। अन्त में सात्त्विक विकास से जीवन का परिवर्तन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का आन्तरिक एवं बाह्य जीवन एक हो जाता है। ऐसा भाव आने के बाद यदि मनुष्य संसार में जाकर रहे तो अवश्य ही भावों का नियमन करना चाहिए। वहाँ होकर भी हो सकता है। उस समय भाव का नियमन के लिये जितना प्रयत्न आवश्यक है इतना करना

चाहिये। यदि कोई व्यक्ति समाधि में हो—लेकिन जो अज्ञानी है वह तो कहेगा कि वह सो रहा है। जो ज्ञानी है, बुद्धिमान है वह समझेगा कि यह समाधि में है। दोनो का वर्ताव ऐसा ही होता है। एक चरम-परम एक ही है—सर्वत्र। संसार में दो किस्म का भाव होता है। (१) अभाव का भाव। इस भाव को हो सके इतना नियमन में रखना चाहिए। भगवान् के नाम पर जो आ जाय उनको अपने अन्दर रखने की कोशिश करनी चाहिये। (२) महाभाव।

प्र०—माँ, संसार के भाव में और इस भाव में क्या फर्क है? जैसे किसी को क्रोध आता है—वैसा ही यह भाव है क्या?

माँ—इस भाव के द्वारा धीरे-धीरे विषय-वासना कम हो जाती है। भगवत् प्राप्ति के मार्ग में कहाँ तक पहुँचे उनका यह मार्ग सूचक खम्भा है।

प्र०—जब क्रोध आ जाता है तब कैसे रोके?

माँ—क्रोध, लोभ, काम, मोह—यह सब साधना में विघ्न है। इसके लिये तुमको संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। तुम अभी जहाँ जिस अवस्था में रहते हो वहाँ रहकर ही अपने को सुधारने की कोशिश करो। अपने दोषों को यदि पहचान लोगे तो अवश्य सुधार हो जायेगा। दूसरे की निन्दा करने से तो वह दोष तुम में ही आ जायेगा। किसी में दोष देखना ही दोष है यदि बगान में जाओ तो सुन्दर-सुन्दर फूलों को लो। कांटे की तरफ क्यों दृष्टि डालते हो?

ऐसी सुन्दर बातें हो रही थीं इतने में पूज्य गोपाल ठाकुर माँ के दर्शनार्थ पधारे हैं। गोपाल ठाकुर और माँ एक दूसरे को प्रणाम कर रहे हैं। प्रायः १२ बजे—पू० महन्त श्री मोहनानन्द जी महाराज 'माँ' को दर्शन करने के लिये पधारे हैं। परमपूजनीया माँ अपने आसन पर से खड़े होकर महन्त श्री मोहनानन्दजी महाराज का स्वागत कर रही हैं। पू० मोहनानन्दजी महाराज—श्री बालानन्द आश्रम, देवघर—वैद्यनाथ धाम; (बिहार) के महन्त महाराज हैं। मुख पर तपश्चर्या की महान् ज्योति दीख रही है। कपाल में भस्म लगाये हुए हैं। गले में सुन्दर रुद्राक्ष की माला धारण किये हैं। उनके साथ में उनके शिष्य मण्डली भी आई है। माँ पूज्य महाराजजी को सुन्दर-सुन्दर बातें कहकर हँसा रही हैं। माँ ने पू० महाराज को अपने कैम्प में रहने के लिये निमन्त्रण दिया है। कथा-वार्ता के प्रसंग में माँ ने कहा—"यह शरीर तो पिताजी की गोद में ही है। इस शरीर को तो और कोई जगह ही नहीं है।" इतने में महाराज श्री के शिष्यों में से किसी भाई ने कहा—"यदि महाराज श्री को यहाँ रखोगे तो हम सब लोगों को भी यहाँ रखना पड़ेगा।"

माँ—यह बात तो पराया लोक जैसी हुई। (पू० महाराज श्री को लक्ष्य करके) यह

पिताजी तो यह छोटी बच्ची को स्नेह करते हैं। यदि पिताजी कृपा करके इस छोटी बच्ची को सत्संग दें तो बहुत बड़ी अच्छी बात है। (डा० पन्नालाल को लक्ष्य करके) यह भाई कह रहे हैं कि यहाँ रखने से खाना देना पड़ेगा। यह तो पराया मनुष्य जैसी बात हुई। यह सब कुछ तो आपका ही है ऐसा समझना चाहिए। यह शरीर तो कोई व्यवस्था करता नहीं है। इस लिये योग्य बात ही कही है। यह शरीर तो एक उड़ता हुआ पक्षी है। इतने में किसी एक भाई ने माँ से कहा, माँ, आप दोनों का सत्संग होना चाहिए। कुछ बातचीत करो।

माँ—इस शरीर की तो कोई बात ही नहीं है। किसी प्रकार का कोई गोलमाल ही नहीं है।

प्र०—संसार के झंझटों में रहकर भी आनन्द कैसे मिले ?

माँ—(पू० महाराज श्री) यहाँ तो अब पिताजी बोलेंगे।

पू० मोहनानन्दजी महाराज—कान और मुँह क्या एक है ? मैंने तो 'माँ' की बातों को सुनने के लिये कान खुला रखा है। और मुख तो बन्द करके रखा है।

माँ—दोनों तो अलग-अलग हैं। कान और मुख एक कैसे ? आनन्द का संग करने से आनन्द को प्राप्त हो सकता है। पिताजी ने तों कहा है कि जिसके भीतर जितना आनन्द है उसको ग्रहण करते-करते अखंड आनन्द की तरफ जाया जाता है। पिताजी ने कहा है कि मेरी तरफ जाया जावेगा।

श्री गोपाल ठाकुर—माँ, क्या महाराज श्री का तुम सत्कार कर रही हो ?

माँ—पिताजी, यह तो छोटी बच्ची है।

प्र०—आनन्द को प्राप्त करने की खूब इच्छा होती है लेकिन सांसारिक वातावरण से निकलना मुश्किल है।

माँ—आनन्द तो सर्वत्र व्याप्त है। जैसे कोई कृत्रिम वेष पहनकर भिन्न-भिन्न जात का वेष परिवर्तन करता है लेकिन वह व्यक्ति तो भीतर से जानता है कि वे कौन हैं। उस सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये भगवान् से हर समय प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् की कैसी सुन्दर व्यवस्था है। माँ-बाप के साथ अपने बच्चे रहते हैं। यदि बच्चा माँ-बाप की आज्ञा नहीं मानता है तो माँ थप्पड़ देती है। धक्का देकर घर में ले जाती है। पिताजी ने कहा है कि इससे बच्चे लोग पक्के हो जाते हैं। भगवान् की तरफ नहीं जाने से दुःख ही दुःख मिलेगा। अपने घर को ढूंढ़ना चाहिए। भगवान् ही एकमात्र परमात्मा, परमपिता, परमबन्धु है। दुनिया में जहाँ दो है वहाँ दुःख है। जहाँ द्वैत है वहाँ दुःख है—वहाँ मृत्यु है। भगवान् जो कुछ करता है उनमें मंगल ही मंगल है। भगवत् प्राप्ति से ही सच्चा परमानंद मिलता है। जहाँ दुःख और शोक है वहाँ मत जाओ। परमानंद की तरफ जाओ। परमानंद की तरफ

नहीं जा रहे हो इसलिये दुःख मिल रहा है। जल और जल का तरंग एक ही वस्तु है। यह शरीर तो छोटी बच्ची है इसलिये पिताजी के पास मैं अगड़ंबगड़ं बोल रही हूँ। हरि कथा ही एकमात्र सच्ची कथा है। बाकी सब व्यथा और वृथा है। जहाँ राम है वहाँ आराम है। जहाँ राम नहीं है वहाँ बेआराम है। तुम जानते हो तुम्हारा सच्चा आत्मीय कौन है? भगवान् ही सबका एकमात्र सच्चा आत्मीय है। तुम सब लोग पिताजी से प्रश्न पूछो।

प्र०--माँ, हर वक्त तुम बोलते हो कि तुम छोटी बच्ची हो--हम सब लोगों को ठगने के समय तुम छोटी बच्ची बन जाती हो क्या?

माँ—एक बार नहीं परन्तु सौ बार यह शरीर छोटी बच्ची है। इस शरीर को बुड्ढी बनाने से नहीं चलेगा। बुड्ढी माँ को फिर कोने में धक्के देकर रख दोगे तों नहीं चलेगा। यह शरीर तो तुम्हारी छोटी बच्ची ही है। तुम्हारी गोद में बैठूंगी।

एक बहन--छोटी बच्ची तो ज्यादा बोलती है।

माँ—छोटी बच्ची का स्वभाव है—बक-बक करने का।

एक भक्त--माँ, तुम्हारा सारा केम्प देख आया।

माँ— यह शरीर का तो कुछ नहीं है। फिर और एक दृष्टि से जगत् में जो कुछ है, जो कुछ था, जो कुछ होगा--वह सब इस शरीर का है।

प्र०—यदि भिन्नता हो तो?

माँ०—भिन्नता नहीं है। सर्वत्र एकमात्र भगवान् ही हैं।

(क्रमशः)

श्री वृन्दावन धाम में संयम महाव्रत एवं मातृ-दर्शन

डा० सरोज पालीवाल

'जय माँ ! जय माँ ! जय माँ !'

इसी महामंत्र को धारण कर मैंने इस बार श्री माँ की प्रेरणानुकूल श्रीवृन्दावन धाम में होनेवाले संयम-सप्ताह में भाग लिया । महाव्रत का श्रीगणेश १७ नवम्बर, १९६९ से हुआ और समाप्ति २४ नवम्बर को यज्ञाहुति के साथ सम्पन्न हुई—यह सत्य है कि नाम-महिमा नहीं कही जा सकती, इसीलिए रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने घोषणा कर दी है :—

कहाँ कहाँ लग नाम बड़ाई
राम न सके नाम गुण गाई ।

'माँ' नाम के बल पर ही इस अवला जन ने ७ दिन मौन धारण करने का व्रत भी लिया—१६ ता० की संध्या को आसन बिछाने का अनुष्ठान सम्पन्न हुआ बस, उसी समय से आनन्द की लहर मन को शीतल करने लगी । तदुपरान्त मैंने 'माँ' के रात्रिकालिक दर्शन को ही हृदयस्थ कर स्वयं को उपासनानुकूल बनाने का प्रयास किया और इस प्रकार १७ ता० की ब्रह्ममुहूर्त्त वेला से महाव्रत का सुप्रभात हुआ ।

आनन्द कन्द व्रजचन्द्र श्री कृष्णचन्द्र की पावन छवि छलिया रूप में सन्निकट ही विराजमान थी, उन्हीं को नमन कर विशाल उपासना-भवन में सुव्यवस्थित रूप से बिछे आसनों पर बैठकर समस्त व्रती उषाकालीन मंगल-कीर्त्तन में सम्मिलित हुए । कीर्त्तन के उद्‌घोष ने चित्त को सहज ही में निर्मल कर दिया और वृत्तियों को एकाग्र किया । तदुपरान्त होने लगी वेद-ध्वनि जिसके द्वारा ऋचाएँ मन्त्र रूप में साकार होने लगीं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म
शान्तं शिवमद्वैतं ब्रह्म ।
आनन्दं स्वरूपामृतं यद् विभाति
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥

बस ! यही सस्वर मंत्र कर्णगोचर होते-होते एवं करुणामयी माँ का दर्शन करते करते इन्द्रियाँ मन में, मन अहंकार में, एवं अहंकार महत् में विलीन होने लगा । 'माँ' की अहेतुकी कृपा से अन्तर्मुखी वृत्ति ने ६० मिनिट के मौन को ध्यानस्थ रूप में कितना सरस व सरल बना दिया ! यह सोचा नहीं जा सकता । फिर घंटा बोला, प्रणाम मंत्र आरम्भ हुआ किन्तु शरीर शांत, हिलने की चेष्टा से सर्वथा मुक्त । नेत्र खोलते ही वही हृदयस्थ 'माँ'

सम्मुख आसीन थी — लोचन तृप्त हुए—पुनः इन्द्रियाँ करण मन बुद्धि सहित क्रियावान हो उस परं शक्ति को ही वारम्वार नमन करने लगीं जिसके विषय में कहा है:—

शिव विरंचि विष्णू भगवाना,
उपजहिं जासु अंश तें नाना।

तदुपरान्त साधु-महात्माओं के मंगलमय वचनों की वर्षा होने लगी। उनके वचन मुखनिसृत वाणी नहीं, वरन् कलिमलहारिणी, भवताप नाशिनी नखशिखान्त शुद्धि की अनवरत मन्दाकिनी धारा-सी प्रतीत हुई जिससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक मार्जन सुलभ हुआ। उस समय सुख ऐसे वरस रहा था जैसे सावन-भादों की झड़ी। बीच-बीच में 'माँ' की सहज मुस्कान साधुरूपी वचन-घटाओं के मध्य विद्युत् सम सम्पूर्ण वातावरण को मुखरित कर देती थी।

संसार में रहने से प्रतीत होता है कि सुख अपने से भिन्न कहीं और है। फलस्वरूप, प्रत्येक जीव उसी की खोज में भटक-भटककर रोता फिरता है तथा पूछता है—"सुख कहाँ है ?" कैसी दयनीय दशा है हम सब की—हालत ठीक वैसी ही है जैसे कोई बिलख-बिलखकर क्रन्दन कर रहा हो और पूछने पर विदित हो कि वह इसलिए रो रहा है क्योंकि वह खो गया है। क्या खो गया है ?

उत्तर है, वह स्वयम् !

कैसी हँसी की बात है, स्वयं ही स्वयं को खोया हुआ बताता है—यदि पूछो कि स्वयं मिलेगा कहाँ ?

तो उत्तर है, अपने में ही !

श्रुति के अनुसार जो जिसका आच्छादक होता है वस्तु वहीं मिलती है। वर्षा ऋतु में सारी पृथिवी घास से आच्छादित हो जाती है। घास हटाने पर ही धरती का दर्शन होता है। इसी प्रकार व्यक्ति का अपनापन जिसका दूसरा नाम सुख है, खो गया है — अर्थात् वह माया से आच्छादित हो गया है और जिसे हम खोजने चले हैं संसार में—तब कहाँ सम्भव है सुख-प्राप्ति ? डिब्बे में रक्खी वस्तु तो डिब्बे में ही मिलेगी अन्यत्र नहीं—अतः अन्दर ही खोजो—श्रुति कहती है—

"आत्मा आनन्दरूपः"

जैसे कवि ने कहा है—

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढ़ें बन माँहि।

इसी सम्बन्ध में निम्नलिखित साधु-वचन कितने सत्य प्रतीत होते हैं—

"जब अपने से भिन्न सुख की प्रतीति होती है, तब वासना की उत्पत्ति होती है—यदि वह सुखानुभूति अपने में है तो वह आत्मानुभूति बन जाती है।"

और जब आत्मा को ही भगवान् की संज्ञा दे दें, तो वह अनुभूति उपासना बन जाती है। यही अद्वैतभाव है सुख का सार और संयम व्रत की उपलब्धि।

इसी अद्वैतरस के प्रकाशार्थ श्री माँ आनन्दमयी का अवतार हुआ है: यह अद्वैत भाव ही ज्ञान की पराकाष्ठा है, भक्ति की सार्थकता है एवं कर्म की कर्मण्यता। 'माँ' अपने अद्वैत स्थितप्रज्ञ रूप में ज्ञान, भक्ति व कर्म की त्रिवेणी है—समस्त सन्तवर्ग इसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं। उनकी प्रेरक वाणी इसी परं सत्य को प्रकाश में लाने की सम्पूर्ण चेष्टा है।

हमें विकारवृद्धि से ऊपर उठकर दिव्यानुभूति करनी है—इसी प्रयोजन से 'माँ' अपनी अकारण कृपा द्वारा संयम-महाव्रत का अनुष्ठान प्रति वर्ष सम्पन्न कराती हैं—धन्य हैं वे जन जो प्रति वर्ष इस महाव्रत में सम्मिलित होते हैं।

जब ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर ही नहीं तो फिर संशय या विपदा किस बात की—

ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा।

बस, हमारे याद रखने की बात है—

विपत्तिः विष्णोः विस्मरणम्
सम्पत्तिः नारायणस्मरणम्।

विष्णु कहो, शिव कहो, काली कहो, दुर्गा कहो, कृष्ण कहो, राम कहो, हमारी 'माँ' के शब्दों में सब एक ही है—इसी तथ्य के उद्घाटन के लिए 'माँ' के अवतार का प्रकाश है- 'माँ' का नमाज पढ़ना, बाइबिल सुनना, गीता, भागवत, रामायण इत्यादि अनेकानेक ग्रन्थों व पन्थों का सन्निवेश इस तथ्य का अनावरण करता है कि—

एकमेव द्वितीयो नाऽस्ति।

हमारी आत्मा को 'माँ' ने पुनः पुनः भगवान् की संज्ञा दी है और हम सबसे अपना निजी आत्मीय सम्बन्ध बताया है। श्री माँ के शब्दों में--

"मेरा सबसे आत्मीय सम्बन्ध है—भगवान् भक्त का आत्मीय सम्बन्ध ही तो है।"

जो 'माँ' को इस आत्मीय भूमिका पर जान चुके हैं, वे 'माँ' के साथ तदाकार हैं, पूर्ण आत्मतुष्ट, नहीं तो मन खटपट ही करता रहता है। इस विषय में सब ही कहा है—

जो मन की खटपट मिटै
तो चटपट दर्शन होय।

जो भगवान् को ज्ञानस्वरूप, आत्मरूप में भजता है, उसका ब्रह्म से जातीय सम्बन्ध है, योगी का प्रभु से नित्य सम्वन्ध और भक्त का भगवान् से आत्मीय। बस, शब्दों का ही तो चमत्कार है जिसे श्रुति वाचारम्भण-मात्र कहती है—'माँ' कहती है, कि योग वृक्ष है, मुक्ति फल है और भक्ति उस मुक्ति फल का रस। फल ही नहीं तो रस कहाँ से और वृक्ष नहीं तो फल कहाँ से - इसी वात को माँ ने पुनः पुनः दोहराया है।

संयम में व्रती होना हमारा योग है, ध्यानस्थ होकर आत्म-दर्शन ही ज्ञान और आनन्दातिरेक ही रसमय स्वरूपिणी भक्ति है जो संयम-योगरूपी वृक्ष के ध्यान-ज्ञान रूपी अमृत फल का सार है—यह आभास ही 'माँ' की सविशेष कृपा का प्रतीक है।

इसी प्रकार १७ से २४ ता० तक महाव्रत चलता रहा—इसके मध्य में ही अनेकानेक अनुभूतियाँ भी हुईं। १६ ता० को परम पूज्य भगवत्पादलीन श्री हरिबावाजी महाराज को देखने के लिए माँ दिल्ली गईं, रात्रि में लौट आने के पश्चात् वे सत्संग के लिए पीठासीन थी, उसी समय मातृ स्फुरित वाणी ने एक नूतन रहस्य का उद्घाटन किया। किसी व्रती ने माँ से प्रश्न किया, "माँ! भगवान् हमें भूखा रखकर व्रत क्यों कराते हैं?" बात तो बड़ी साधारण सी थी और तर्कपूर्ण भी। उत्तर में कहा जा सकता था कि बिना भूखा रहे आत्म-शुद्धि सम्भव नहीं। अथवा उपवास करने से मन भलीभाँति एकाग्र होता है—आदि आदि स्वाभाविक उत्तर की ही मैं अपेक्षा कर रही थी कि श्री माँ की विमला वाणी मधुमयी धारा की भाँति फूट पड़ी। माँ बोलीं "उपवास अर्थात् उप+वास। प्रभु के पास वास ही तो उपवास है (संस्कृत भाषा में 'उप' उपसर्ग का अर्थ पास या समीप होता है) जो सबसे पास है, वह है प्रभु-प्रियतम के पास रहकर भूख कैसी?"

सचमुच, हमने आज तक समझा ही नहीं कि सबसे पास तो प्रभु ही हैं और सबसे अधिक प्रिय भी तो वे ही हैं जिनकी प्रीति समझ लेने पर संसार फीका लगने लगता है। जिसने स्वाति बिन्दु का रसपान किया है, वह कैसे साधारण जल से तृप्त हो सकता है। प्रभु ने इसी बात को प्रमाणित करने के लिए पपीहा की रचना की—कैसे मार्मिक हैं भक्त रहीम जी के शब्द—

प्रियतम छबि नैनन बसी,
पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि,
आप पथिक फिर जाय।।

संसार में भी तो ऐसा ही होता है । माँ का बेटा खो जावे तो माँ भूखे मरने का व्रत ले लेती है और यदि माँ खो जावे तो पुत्र वियोग से पागल सा हो जाता है । हमारी सबकी 'माँ' हमारे कितने पास है, किन्तु कौन उसे दिल में बिठाए है, यह तो 'माँ' ही जाने या उनको बिठाने वाला जाने । उनको पाने पर सचमुच कहाँ भूख और कहाँ प्यास ! और यदि फिर भी संयम करते समय भूख का प्रश्न उठता है तो 'माँ' सानुराग उत्तर देती है--

"संयम-व्रत में महात्माओं के सुन्दर-सुन्दर वचन ही तो भोजन हैं ।

आह ! कैसी शीतल वाणी है हमारी माँ की ! कैसी विलक्षण उक्ति है उनकी और कैसी सुखद सान्त्वना है हम सब विषय पीड़ितजनों के लिए !

हम आजन्म व्रती बनें, महात्माओं के सुस्वादु वचनों का अदन करें, उनके वाक्यों के अत्ता बनें तब हमारा व्रत पूर्ण हो । भगवान् शंकर सम और कौन महान् योगी है जिन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है--

उमा कहौं मैं अनुभव अपना ।
सत हरि भजन जगत सब सपना ।।

जगत् के नाते बनावटी हैं, स्वार्थपूर्ण हैं, सत्य से जान पड़ते हैं । वस्तुतः पति पति के लिए प्यारा नहीं होता, किन्तु वह अपने स्वार्थ के लिए ही प्रिय होता है--यही उपदेश देती है भगवती श्रुति छान्दोग्योपनिषद् में--

"न वा रे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति ।"

व्रत चला, नियम चले और साथ में मातृ अनुग्रह से मौन भी चला--उसी बीच किसी सन्त के उपदेशानुसार एक विलक्षण अनुभूति हुई कि वृन्दावन-धाम श्री कृष्णचन्द्र का हृदय है जिसमें प्रवेश करने का अर्थ है भगवान् के हृदय में प्रवेश । इसी प्रकार 'माँ' का सामीप्य मातृ-हृदय ही है । उनकी परिस्थिति में पहुँचते ही माँ मय वातावरण लगने लगता है । जहाँ 'माँ', वहाँ उसका हृदय, यह प्रतीति ध्रुव सत्य है । अतः 'माँ' के समीप जाते ही 'माँ' के हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है तभी तो उनके दर्शन से असीमित शान्ति मिलती है। उनका दर्शन ही उनके हृदय में वास करने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है । ऐसी कृपा हो कि प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण नित्य उनका ही दर्शन हो--दर्शन क्रिया नित्य दर्शन बन जाय, तभी जीवन की साध पूरी हो--यही बात इस श्लोक से स्पष्ट होती है--

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।

अर्थात् जो मुझे प्राप्त करते हैं, ये इस माया को पार कर जाते हैं । सचमुच उन्हें पाने पर ही इस भ्रमात्मक जगत् से अवकाश मिलेगा--

फिर आई संयम व्रत की अन्तिम रात्रि ता० २३ को । महानिशा ध्यान का समय

था —श्री माँ अपनी षोडश कलाओं सहित आसनस्थ थीं—मुझे अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था—तभी सहस्रों मोम-शलाकाओं के झिलमिलाते प्रकाश में 'माँ' का विराट् रूप उद्भासित हुआ - समस्त व्रतियों के साथ माँ अपने विराट् स्वरूप में शोभायमान हो रही थीं। अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली उद्भूत होकर इष्ट मन्त्र रूप से जीवात्माओं के दहर में प्रवेश कर महती शिखा सहित प्रतिभासित हो रहे थे। इस दिव्य देव-यजन में सम्मिलित होने के आकांक्षी सुरगण मन्त्र-स्तवन द्वारा 'माँ' रूपी विराट् का पूजन कर रहे थे। सहस्रों रश्मियों से देदीप्यमान 'माँ' का दिव्य स्वरूप चहुँओर मुखरित हो रहा था। साथ ही स्वयं मेरे दैहिक दैविक व भौतिक विकारों का लय 'माँ' के विराट् रूप में ही हो रहा था— माँ' ही स्वतः रूप में व्रती, 'माँ' ही व्रत एवं 'माँ' ही उसकी सम्पूर्ति जैसा कि गीता में कहा है--

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता-भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष परः॥

तदुपरान्त अलौकिक शान्ति-साम्राज्य स्थापित हो गया। ध्यान की विश्रान्ति एवं मन की शान्ति का स्थापन हुआ—अब व्रतीरूपी होताओं के आनन खिले हुए थे। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' का अनुभव साक्षात् अनुभासित हो रहा था। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २।४) तथा

"अनिरुक्तेऽतिलयने" तै० उ० २।६

अर्थात् "जहाँ से मन के सहित वाणी न पहुँच कर लौट आती है जो वाणी का अविषय और अनाश्रय है।"

इन्हीं मन्त्रों का ध्यान कर श्री माँ आनन्दमयी के दिव्य स्वरूप को कोटि-कोटि प्रणाम !

श्री हरिबाबाजी महाराज

(संस्मरणाञ्जलि)

(पू० पा० स्वामी श्रीअखण्डानन्द महाराजश्री)
अध्यक्ष, भारत साधु-समाज

बाबा सर्वत्र परिपूर्ण हैं

जो महापुरुष परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न होते हैं, उनके स्थूल शरीर से उपस्थित रहने या न रहने से उनकी विद्यमानता में कोई बाधा नहीं पड़ती । वे स्थूल शरीर से न दीखने पर भी परमार्थतः परमात्मारूप से सर्वत्र विद्यमान एवं वर्तमान रहते हैं । अधिकारी पुरुष कहीं भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं । उनकी आकृति भी सूक्ष्मरूप से रहती है और अपने भक्तों के हृदय में, जब तक लिंग शरीर का भंग नहीं हो जायगा तब तक बनी रहती है । इसमें सन्देह नहीं कि श्री हरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूप से, ईश्वररूप से, आत्मरूप से और विराट्रूप से सर्वत्र परिपूर्ण हैं । उनका स्वरूप अविनाशी है ।

मृत्यु उनका एक खेल

उन्होंने अपने उपदेशों में अथवा सामान्य वार्तालाप में भी कभी मृत्यु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया । उनका कहना था कि महात्मा शरीर से भी अमर होता है। उसका दीखना, न दीखना तो आँख-मिचौनी का एक खेल है । वे एक सच्चे खिलाड़ी थे । प्रकटरूप में भी कबड्डी-चीलझपट्टा आदि खेल खेलते थे और अब छिप कर भी एक लीला ही कर रहे हैं । उनकी मुसकान, उनके अधरों की थिरकन, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनके कर-कमलों का स्पर्श, उनकी मीठी-मीठी बातें लोगों को प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं । उनके करुणा-कोमल कर-कमलों की छत्र-छाया अभी भी भक्त-जनों के त्राण-कल्याण में तत्पर है ।

समय की मर्यादा

उनके जीवन का यह अद्भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे । रात्रि के उत्तरार्ध में ढाई-तीन बजे ही जग जाते थे । चार बजे से सामूहिक संकीर्तन प्रारम्भ हो जाता था । नौ बजे से रासलीला देखते थे । जब वे परिभ्रमण के लिए बाहर निकलते तो लोग अपनी 'घड़ियाँ' मिला लिया करते । समय की मर्यादा का ऐसा पालन विरला ही किसी महात्मा के जीवन में सम्भव है । एक बार बोले—'केवल उनतीस मिनट कथा होगी ।' इसका अभिप्राय यह था कि सर्वदा सावधान रहना चाहिए । जीवन में प्रमाद या अनियन्त्रण का प्रवेश नहीं होना चाहिए । अनियन्त्रण ही अधर्म है । वृन्दावन के आश्रम में महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याख्यान दे रहे थे । बाबा की आज्ञा

से समय हो जाने पर सेवक ने घण्टी बजा दी। पण्डित अखिलानन्द कविरत्न रुष्ट हो गये, परन्तु अब क्या हो ? मर्यादा का उल्लंघन पाप जो है।

मन की एकाग्रता

जब वे प्रातः सायं चंक्रमण के लिए निकलते थे, जहाँ हाथ रखकर निकलते, लौटते समय भी वहीं होता। पाँच मील गये, आये, परन्तु हाथ वहीं का वहीं। अन्तर्मुखता बनी रहती। आगे-आगे सेवक न होता तो मार्ग भूल जाते। दायें-बायें न देखते। सामने भी दूर तक दृष्टि नहीं फेंकते। कौन आया, कौन गया, इस ओर ध्यान नहीं देते थे।

संसारी बड़ों की उपेक्षा

वैसे उनके जीवन में विनय और छोटे बालक का-सा सरलभाव था। हम बच्चों के भी आने पर उठ कर खड़े हो जाते, दण्डवत् प्रणाम करने लगते। छोटे-से छोटा काम अपने हाथ से कर लेते। बराबर बैठते। निरभिमानता की तो मानो मूर्ति ही हों। परन्तु जो लोग स्वयं अपने मुँह अपने को बड़ा मानते हैं, उनकी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं थे। वृन्दावन के श्री उड़ियाबाबाजी महाराज के आश्रम में अनेक सम्प्रदायों के बड़े-बड़े आचार्य पधारते थे, परन्तु वे उनकी ओर देखते तक नहीं थे। सप्तसरोवर-हरिद्वार के सप्तऋषि आश्रम में देश के एक बहुत बड़े नेता एवं अधिकारी पुरुष ने आकर प्रणाम किया, परन्तु उनके नेत्र बन्द ही रहे। ध्यान दिलाने पर भी वे उनकी ओर अभिमुख नहीं हुए। संसार जिनको बड़ा कहता है, उसमें उनकी कोई महत्त्व बुद्धि नहीं थी।

गुरुनिष्ठा

वे बाल्यावस्था में अपने गुरुदेव स्वामी श्री सच्चिदानन्दजी महाराज को होशियारपुर में पंखा झला करते थे। इसका अभ्यास इतना पक्का हो गया था कि वे रामलीला, श्री चैतन्य-लीला, रासलीला और श्रीमद्भागवत के सप्ताह में भी घण्टों तक लगातार खड़े रहते, पंखा झला करते थे। एक दिन पूछने पर उन्होंने बताया कि मुझे न राम दीखते, न कृष्ण। ऐसा लगता है कि गुरुजी महाराज लेटे हुए हैं और मैं अपनी सेवा कर रहा हूँ। इसी वर्ष जन्माष्टमी के दो दिन बाद वृन्दावन से अन्तिम बार जाते समय उनके मुख से एकाएक निकला था कि 'मेरे जीवन में जैसी श्रद्धा अपने गुरुदेव पर हुई वैसी श्रद्धा फिर किसी पर कभी नहीं हुई।' कभी-कभी उन्होंने रामलीला महीने भर तक निरन्तर देखी, परन्तु उनको यह ज्ञात नहीं हुआ कि स्वरूप बननेवाला बालक गोरा है या काला है ?

उनके जीवन में जैसी गुरुनिष्ठा देखने में आयी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके एकमात्र गुरु स्वामी श्री सच्चिदानन्द गिरि ही थे। वे बार-बार उनकी उन्मन-स्थिति का वर्णन करके प्रेम-गद्गद् हो जाया करते थे। उन्हीं के स्थान की सेवा भी करते थे। उन्हीं की कृपा से

बाबा को अडिग ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हुई थी। वे कहते थे कि 'महाराज की दृष्टि और संकल्प से ही लोगों को आत्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति हो जाया करती थी। श्री अच्युतमुनिजी महाराज से उन्होंने केवल प्रस्थानत्रयी का अध्ययन किया था। मुनिजी ने उन्हें पौरुष की प्रेरणा भी दी थी।

पौरुष की प्रेरणा

श्री हरिबाबाजी महाराज अपनी युवावस्था में गंगातटपर विचरण करते हुए भेरिया में श्री अच्युतमुनिजी महाराज के पास गये। उन्होंने श्री मुनिजी से प्रार्थना की—'महाराज! ऐसी कृपा करें कि वृत्ति अपने स्वरूप में टिक जाय।' मुनिजी एक वयोवृद्ध, विद्वान्, भारत-प्रसिद्ध सन्त थे। वे जरा झुककर बैठे हुए थे। प्रार्थना सुनते ही तनकर बैठ गये और बोले—'अरे हरि! तू आलसी बनना चाहता है? कृपा की भीख माँगना आलसी बनना है। तू स्वयं अपने पौरुष से वृत्ति के अस्तित्व को मटियामेट कर दे।'

श्री हरिबाबाजी यह प्रसंग अत्यन्त प्रेम और प्रसन्नता से कभी-कभी सुनाया करते थे। जो लोग कहते हैं कि श्री हरिबाबाजी ने वेदान्त और वेदान्ती गुरु को छोड़ दिया था, वे मिथ्याभाषी हैं। बाबा ब्रह्मनिष्ठ रहकर ही लोक-कल्याण के लिए भक्ति का प्रचार और नाम-संकीर्तन करते थे।

पौरुष का प्रकाश

श्री हरिबाबाजी की जीवनचर्या में पौरुष ही नहीं महापौरुष का प्रकाश था। वे जन-जन में और कण-कण में भगवान् का ही दर्शन करते थे। उनकी सब क्रिया भगवद्दृष्टि से ही होती थी। जब कुछ न्यूनाधिक सात सौ गाँवों, गायों और किसानों को गंगाजी की बाढ़ से ग्रस्त और संत्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी लेकर बाँध बनाने के काम में लग गये। झुण्ड-के-झुण्ड लोग जुट पड़े। भण्डारे खुल गये। लोगों के मनोरथ पूर्ण होने लगे। चमत्कार पर चमत्कार। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज आकर वहीं विराज गये। घोषणा कर दी गयी—'बाँध-भगवान् की सेवा में एक टोकरी मिट्टी डालो और जो इच्छा हो प्राप्त करो।' केवल दस महीने में इतना बड़ा बाँध तैयार हो गया जिसके निर्माण में करोड़ों रुपये का खर्च होता। उस समय की ब्रिटिश सरकार ने भी हार मान ली थी। उसकी लम्बाई तेईस मील के लगभग है। वे सभी वस्तुओं को ईश्वररूप और सभी क्रियाओं को ईश्वर की सेवा समझते थे और बताया करते थे।

निन्दा न सुनना

उनमें एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वे किसी की निन्दा सर्वथा नहीं सुनते थे। निन्दा करने वाले से कह देते थे कि 'भगवान् का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो।'

Sri Sri Hari Babaji Maharaj

Sri Sri Hari Babaji in mahāsamādhi, January, 1970

एक बार एक मासिक पत्रिका में लगातार दो-तीन बार साधुओं की आलोचना छपी तो उसको उन्होंने पढ़ना ही बन्द कर दिया। वे कहते तो यह थे कि 'निन्दास्तुति दोनों ही नहीं करनी चाहिए' परन्तु यह देखने में आया कि वे साधारण-से-साधारण व्यक्तियों के छोटे-छोटे गुणों की प्रशंसा किया करते थे।

बड़ों का आश्रय

एक बार उन्होंने कहा था कि 'यदि अपने से बड़ा कोई मनुष्य न मिले तो किसी पशु, पक्षी और पत्थर को भी अपने से बड़ा मानकर उसके नीचे रहना चाहिए। बड़ों की छत्र-छाया में रहने से अपने में दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते और पूजा-प्रतिष्ठा भी उन्हीं की ओर चली जाती है। उनके जीवन में यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्मा के साथ रहे।

विनोदी स्वभाव

सामान्यतः लोग समझते कि बाबा बड़ी गम्भीर प्रकृति के हैं। परन्तु जो उनके निकट रहते थे, उनके साथ वे विनोद भी खूब करते थे। लोग भी उनको हँसाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वांग बनाकर प्रहसन करते। एक बार बाबा को कहीं गंगा पार जाना था। नाव पर जा बैठे। उनके साथ और बीस-पचीस जन थे। मल्लाह ने पूछा—'महाराज! आपका और आपके साथियों का खेवा (नाव का किराया) मैं नहीं लूंगा। आप बता दीजिए कि आपके साथ कौन-कौन हैं?' बाबा ने कहा -"भैया, मैं तो अकेला हूँ, मेरे साथ और कोई नहीं है।' मल्लाह ने औरों से पैसा माँगा परन्तु संयोग ऐसा कि उस समय किसी के पास पैसा न था। सबको उतर जाना पड़ा और बाबा अकेले पार उतर गये। दूसरे लोग गाँव से पैसा मँगाकर फिर पार गये। अच्छा विनोद रहा।

दूसरों से अप्रभावित

टाटवाले नारायण स्वामीजी हरिद्वार के पास बहादराबाद में ठहरे हुए थे। श्री हरिबाबाजी उनका दर्शन करने गये। श्री नारायण स्वामीजी ने कहा—'आज रात्रि में भगवान् नारायण ने मुझे दर्शन दिया और उस समय तुम्हारा स्मरण किया। नारायण ने आज्ञा की है कि अब हरिबाबा को संकीर्तन, उत्सव, धूमधाम, भीड़भाड़ छोड़कर एकान्त में रहना चाहिए और वेदान्त-चिन्तन करना चाहिए। अब तुम ऐसा ही करो।' श्री हरिबाबाजी ने बड़े विनय से उत्तर दिया—'स्वामीजी, मैंने भी अपना जीवन थोड़ा-बहुत भगवान् का नाम लेते हुए व्यतीत किया है। यदि वे मुझ पर कृपा करते हैं, आदेश देते हैं तो सीधे मुझे क्यों नहीं देते? आपके द्वारा क्यों भेजते हैं? क्या मैं उनके स्वप्नादेश का भी अधिकारी नहीं हूँ? और जब प्रभु की मुझ पर इतनी कृपा है, स्मरण करते हैं, आदेश देते हैं तो जो काम वेदान्त-

चिन्तन से होता है, वह क्या वे स्वयं नहीं कर देंगे ?' वे उन्हें सादर दण्डवत् प्रणाम करके चले आये ।

जीवन्मुक्ति की भूमिकाएँ बाधित थीं

इसी ढंग का एक प्रसंग और आया । पंजाब में कोई प्रसिद्ध महात्मा थे । लोगों का विश्वास था कि वे छठीं भूमिका में रहते हैं । लोगों से बहुत कम मिलते, कम बोलते, प्रपञ्च का विस्मरण-सा रहता । कभी बात करते तो अत्यन्त धीमी आवाज में साँय-साँय । कुटिया बन्द रहती । उनके शरीर की साज सँवार उनके सेवक लोग करते । एक साधु उनकी प्रशंसा करके श्री हरिबाबाजी को उनके पास ले गये । उन्होंने भी श्री हरिबाबाजी से कहा कि 'अब जनसंसर्ग और संकीर्त्तन आदि का विक्षेप छोड़कर ब्रह्मात्मैक्य चिन्तन करो और अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ ।' बाबा ने अत्यन्त विनय के साथ उनका उपदेश श्रवण किया और चले आये । उनकी रहनी में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा । वास्तविकता यह थी कि बाबा पहले से ही सातों भूमिकाएं पार कर चुके थे । उनके मनमें इनके प्रति कोई महत्त्व बुद्धि नहीं थी । जिसमें अविद्या ही न हो, उसको चिन्तन की क्या आवश्यकता ? सम्यक् बोध केवल प्रवृत्ति का ही नहीं, निवृत्ति का भी उपमर्दन कर देता है । उनका हँसना-बोलना, चलना, फिरना—सब लोक-मंगल के लिए ब्रह्मरूप ही था । उन्हें जो साधक समझते थे और साधन के लिए उपदेश करते थे, वे उनके वास्तविक रूप को नहीं समझते थे ।*

---

* चिन्तामणि से साभार पुनर्मुद्रित ।

हिमाचल के अंचल में

कुमारी गीता बनर्जी

सन् १९५९, सितम्बर का एक दिन। हमारे आश्रम में भागवत सप्ताह चल रहा था। उस दिन भागवत सप्ताह का अन्तिम दिवस था। सायंकाल का समय, मातृमण्डप (जहाँ वर्तमान में गोपाल मन्दिर अवस्थित है) मातृभक्तमण्डलियों से परिपूर्ण था। श्री श्री माँ भी एक ओर विराज रही थीं। हम कन्यापीठ की लड़कियाँ भी माँ के निकट सामने बैठी हुई थीं। व्यास गद्दी में वृन्दावन के प्रसिद्ध भागवत व्याख्याता श्रीनाथजी विराजमान थे। आप सुमिष्ट व्रजभाषा में श्रीमद्भागवत की सुललित व्याख्या कर सबको सच्चिदानन्दस्वरूप-नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लीलामृतरस का पान करा रहे थे। सब माँ के सान्निध्य में ब्रह्मानन्दसरोवर में मग्न होकर मन्त्रमुग्ध हो भगवान् की लीलाकथा श्रवण कर रहे थे। एकादश स्कन्द चल रहा था। भगवान् ने दैत्यों का वध कर परमधाम-गमन का निश्चय कर लिया है। यह सुनकर आपके परम भक्त उद्धवजी प्रभासतीर्थ में भगवान् के निकट पहुँचे। भगवान् ने उन्हें ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा परमार्थ निरूपण का उपदेश दिया। यह सब मैं बहुत ध्यान से सुन रही थी। यद्यपि अधिकांश ही मेरे लिये सुबोध्य न था। अन्त में भगवान् ने उद्धवजी को भागवत धर्म का उपदेश देते हुए कहा—

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदस्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥

अर्थात् "हे उद्धवजी! अब तुम मेरी आज्ञा से बदरी नामक मेरे आश्रम में चले जाओ। वहाँ मेरे चरणकमलों के धोवन गंगाजल स्नान पान के द्वारा सेवन करके तुम पवित्र हो जाओगे।" यह सुनते ही अचानक मेरे मन में बदरिकाश्रम में जाने की एक तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। भगवान् का स्वधाम-गमन वृत्तान्त सुनकर मैं कुछ उदासी हो गई थी। मेरे मन में विचार आया कि शायद बदरिकाश्रम में जाने से परमभागवत उद्धवजी का दर्शन मिलेगा। पर मैंने अपनी यह इच्छा किसी से प्रकट नहीं की। उसके बाद भी मुझे बहुत बार सम्पूर्ण भागवत श्रवण करने को सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पर एकादश स्कन्ध के उस श्लोक को सुनते ही मेरी यह सुप्त इच्छा जाग्रत हो जाती थी। इस प्रकार मेरी यह बदरीनाथ गमन की इच्छालता मेरे मानसक्षेत्र में अंकुरित तथा पल्लवित होती गई। कभी-कभी मैं निराश भी हो जाती थी। अन्त में मैंने निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो इस जीवनान्त के पहले एक बार मैं बदरीनाथजी अवश्य ही जाऊँगी। परन्तु अहो! माँ की कृपा! श्री श्री माँ ने बहुत दिन से पोषी हुई इस इच्छा को मेरे विद्यार्थी-जीवन में ही पूर्ण कर दिया।

शास्त्री परीक्षा का अन्तिम वर्ष था। मेरी परीक्षा ९ मई को समाप्त हो चुकी थी। दूसरे दिन ही मेरी एक अध्यापिका ने हमें इस यात्रा की सूचना दे दी। मुझे ज्ञात हुआ कि गंगोत्री, यमुनोत्री, केदार, बद्री-हिमालय के चार धाम की यात्रा का विचार है। यह सुनते ही मेरा मन पुलकित हो उठा। उसी क्षण मेरे मानस-हंस ने अपने कल्पना के पंखों से उन उन स्थानों का अवलोकन कर लिया। हम यात्रा की तैयारी करने लगे। मैं तो यात्रा के दिन की ही प्रतीक्षा में थी।

हम कुल छः यात्री थे। अन्त में संवत् २०२६ के ज्येष्ठ २३, बृहस्पतिवार को हम आश्रम से निकल पड़े। दूसरे दिन हम रेल द्वारा हरद्वार पहुँचे। वहाँ हम बधा-हाउस में ठहरे। हमें ज्ञात हुआ कि माँ के परमभक्त टिहरी के महाराजा ने हमारे लिये दिल्ली से जीप भेज दी है। सायंकाल, हम ब्रह्मकुंड में गंगाजी की आरती दर्शन करने गये। एक दिन हम लक्ष्मणझूला तथा अन्यान्य दर्शनीय स्थान देखने ऋषीकेश गये। आज के इस आधुनिक युग में भी ऋषीकेश में हमें कुछ प्राचीनता की झलक दिखाई दी। शीतकाल में अभी भी वहाँ कुछ आत्माराम, सर्वज्ञ, जितेन्द्रिय महात्माओं का समागम होता है। ये महात्मागण हिमालय से नीचे उतर कर यहीं निवास करते हैं। ऋषीकेश परिदर्शन कर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई! हमने कनखलस्थित अपने आश्रम को भी देखा।

यात्रा की पूर्ण तैयारी कर ज्येष्ठ २७, सोमवार को प्रातः ५ बजे, हम जीप में बैठे हमने साथ में कुछ भोजन भी बना लिया था। हमने श्री श्री माँ की जयध्वनि करते हुए चार धामों में सबसे दुर्गम यमुनोत्री के लिये प्रस्थान किया। अभी बालसूर्य सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को अपनी अरुण किरणों से उद्भासित करते हुए प्राची दिशा में उदित नहीं हुए थे। हरद्वार से ऋषीकेश का मार्ग भी बड़ा मनोरम है। हमारे साथ करीब सात आठ बसें जा रही थीं। इन गाड़ियों की ध्वनियाँ भी उस शान्त वातावरण में एक अपूर्व ऐक्यतान की सृष्टि कर रही थीं।

ऋषीकेश से आगे चढ़ाई शुरू हो जाती है। हम सब लगभग आठ बजे, नरेन्द्र नगर पहुँचे। हिमालय के क्रोड़ में यह नगर बहुत ही रमणीय है। यह नगर महाराज नरेन्द्रशाह टेहरी के द्वारा बनवाया हुआ है। नगर की अपूर्व शोभा देखते ही बनती है। मानो किसी चित्रकार ने हिमाद्रिरूपी चित्रपट पर इस नगर को चित्राङ्कित कर अपने अनुपम कलाचातुर्य का प्रदर्शन किया है। स्थान-स्थान पर गेट पर हमारी जीप रुकती हुई जा रही थी। अब हमारी जीप पहाड़ों को काट कर बनाए हुए दुर्गम पार्वत्य मार्गों से जा रही थी। हमारे दोनों ओर गगनचुम्बी पर्वत मानो युग युग से यात्रियों के इस असीम साहस तथा धैर्य को देखकर स्तब्ध हो खड़े थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो इन अंचलों ने इस चंचल जगत् से अपना सम्बन्ध त्याग कर सदा के लिये निराकार सर्वव्यापी आकाश से मित्रता स्थापित कर ली है।

कारण अचलों से सचलों की मित्रता कैसी ? नीचे गंगाजी इस पार्वत्य पथ की भाँति ही अपना मार्ग बनाती हुई भीषण वेग से प्रवाहित हो रही थीं। दूर पहाड़ के ऊपर किसान की एक झोपड़ी बहुत ही मनोरम लग रही थी। अहा ! हिमानी के क्रोड़ में एक साधारण झोपड़ी भी कितनी सुन्दर लग रही थी। पर्वत के ऊपर से नीचे तक खेत की श्रेणियों का दृश्य अति रमणीय था। यहाँ चावल अधिक होता है। पहाड़ी किसान कितने परिश्रम से हिमाद्रि के इस उन्नत शिखर पर खेती करते होंगे ? इतने में नील सरोवर में खिले हुए श्वेत कमल की तरह नीलाकाश के सीमाहीन प्रान्त में एक शुभ्र मेघखण्ड उड़ता हुआ दिखाई दिया। बीच बीच में अपूर्व लावण्यमयी पहाड़ी रमणियाँ पीठ में बोझों को लादती हुई अति सहज भाव से ही इन हिम शृङ्गों पर चढ़ रही थीं।

इन अपूर्व दृश्यावलियों को देखते हुए हम टिहरी पहुँचे। धूप चढ़ी हुई थी। यहाँ हमारी जीप एक घण्टा रुकनेवाली थी। अतः हम जीप से उतर कर एक वृक्ष की छाया में जाकर बैठे। हमारे साथियों में एक को इस पहाड़ी मार्ग में जीप में बैठकर कुछ उल्टी आ रही थी। हमारे पास दवाई की पेटी थी ही अतः उन्हें औषधि दे दी गई। टिहरी से करीब साढ़े १२ बजे हम धरासू पहुँचे। यहाँ हमें एक वट वृक्ष के नीचे सर्वाङ्ग में भस्म लगाये हुए एक जटाधारी संन्यासी मिले। सुना कि आप अयोध्यावासी हैं। यहाँ कई साल से रह कर भागीरथी के तट पर निर्जन स्थान में साधन-भजन कर रहे हैं। आपने हमारी यात्रा का विचार सुनकर हमसे कहा, "आप लोग शंकरजी की प्रिय नगरी काशी-धाम में निवास करते हुए भी उसे त्याग कर इतने दूर तीर्थ करने निकले हैं।" यह सुनकर मैंने उनसे कहा, "बाबाजी ! आप भी तो श्रीरामचन्द्र की नगरी अयोध्या को त्याग कर यहाँ जम कर बैठ गये हैं।" यह सुनकर उन्होंने कहा, "मैं इस वृद्धावस्था में लोककोलाहल से दूर रहना चाहता हूँ। अब अयोध्या में उस प्राचीन काल की परमशान्ति कहाँ मिलती है।" मैंने उन्हें तुरन्त जवाब दिया, "महात्माजी ! आप जिस कारण से यहाँ आकर बैठ गये हैं हम भी ठीक उसी कारण से तीर्थयात्रा के लिए निकले हैं। आपने सदा के लिए अयोध्या नगरी को छोड़ दिया है और हम तो केवल १ महीने में ही तीर्थयात्रा कर पुनः काशी नगरी में पधारेंगे।" यह सुन कर वे चुप होकर हँसते रहे।

यमुनोत्री के मार्ग में धरासू में ही गंगाजी हमें छोड़कर अन्यत्र रास्ता बना लेती हैं। यहाँ से यमुना जी हमारे साथ चलती हैं। अतः हम सब गंगाजी को स्पर्श कर जीप में आकर बैठे। हमारी जीप क्रमशः घुमावदार रास्ते से ऊपर चढ़ रही थी। हम सायंकाल तक गंगानी पहुँचे। अब हमारी जीप से बरफ दिखलाई देने लगा था। यहाँ की मनोमौग्ध्यकारिणी रमणीय दृश्यावली तथा शुभ्र हिमाद्रि के उच्चशृङ्ग से प्रवाहित झरनाधाराओं की

शोभा अति आनन्ददायक तथा अतुलनीय है। क्या कारण है कि युग युग से इतना दुर्गम पथ होते हुए भी अगणित नरनारी अपने जीवन की माया त्यागकर कितने कष्टों को स्वीकार करते हुए केवल मात्र अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के लिए हिमालय के इस उत्तुङ्ग शिखर पर आते हैं। क्या इसका एकमात्र कारण हिमालय का दुर्निवार आकर्षण! हिमाद्रि का आकर्षण शाश्वत है। तभी तो भारती विलास कालिदास ने भी उदात्त कण्ठ से घोषित किया है—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥"

हिमालय युग युग से भारतमाता का सजग प्रहरी रहा है। कितनी कठिनाइयों में अटल अचल रहकर भी इन्होंने हमारी रक्षा की है। हे रजतगिरि! भारतमाता का शाश्वत-प्रहरी! तुम्हें कोटि प्रणाम। अरे! आदि कवि वाल्मीकि ने तो नगराज को आदर्श महापुरुष ही मान लिया—

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये, धैर्येण हिमवानिव॥

हे गिरिराज! क्या इस श्रेष्ठत्व के अभिमान से ही तुम संसार में सबसे ऊँचे मस्तक किये खड़े हो।

कविकुलचूडामणि कालिदास के अनुसार—

"यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्री धरणक्षमञ्च।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्।"

ये सब मैं सोच ही रही थी कि हम बड़कोट पहुँच गये। मैं मानो स्वप्नराज्य से वास्तव जगत् में आ गई। आज हम लोग जीप से १२६ मील आये। रास्ते में हमारी जीप कुछ बिगड़ भी गई थी। हमारे चालक बड़े परेशान थे। पर वे थे अन्वर्थ नामवाले। नाम होशियार सिंह। काम में भी होशियार। बिना किसी की सहायता से ही वे कुछ ही क्षण में इस तैलयान को इस दुर्गम पार्वत्य पथ पर चलाने में समर्थ हो गये। आज हमारा बड़कोट में ही रहने का विचार है। बड़कोट छोटा होने पर भी बहुत सुन्दर शहर है। यहाँ सरकारी अस्पताल, विद्यालय, एक जूनीयर हाईस्कूल, डाकखाना, तारघर तथा सा० नि० वि० के विश्राम गृह आदि हैं। यहाँ बाजार में सब कुछ प्राप्त होता है। हमारे ठहरने का प्रबन्ध स्थानीय डाक-बंगले में किया गया था। सन्ध्या हो चुकी थी। डाक-बंगले में पहुँचने पर हमारे सहयात्रियों में कोई अपने कपड़े तथा शरीर के संस्कार में लग गई, कोई रन्धन कार्य में प्रवृत्त हुई और कोई सन्ध्या-वन्दन के लिये उपविष्ट हो गई। मैं रन्धनकार्य में थोड़ी सहायता देकर बाहर आकर एक चट्टान के ऊपर बैठ गई।

हमारा डाक-बंगला पहाड़ के ऊपर था। नीचे बड़कोट शहर का दृश्य बड़ा ही रमणीय था। मकानों के समूह मानो नगराधिपति की शोभायात्रा के लिये पंक्तिवद्ध खड़े थे। दूरस्थित एक कारखाने की चिमनी से कुण्डलीकृत काली धूमरेखायें मानो नीलिमा को धारण करने के लिये व्याकुल होकर नीलाकाश की ओर चली जा रही थीं। हरितवनों में खिले हुए श्वेतकमल की तरह शहर के मध्यभाग में हरे भरे विस्तृत भूखण्ड के बीच में एक छोटे से शुभ्र मन्दिर की शोभा देखते ही बनती थी। मन्दिर के चारों ओर हरियाली का साम्राज्य था। पर्वत के नीचे से नदी-प्रवाह का अनुसरण करता हुआ एक रास्ता सीधा मुसौरी तक चला गया है। मानो देवशिल्पी विश्वकर्मा ने युग युग से अथक परिश्रम करके इस नगर की अपूर्व दृश्यावलियों को इस विस्तृत धरणीपट पर अंकित किया है। मुझे भी इच्छा हुई कि मैं भी एक बार इस रमणीय चित्र को अपने मानसपट पर अङ्कित कर लूं। हमारे चारों ओर वृक्षों से आच्छादित हरे भरे पर्वत थे। पर्वत के क्रोड़ में कुछ खेत की सीढ़ियाँ भी दीख रही थीं। मानो किसी ने उन सीढ़ियों पर हरे मखमल की चद्दर बिछा दी हो। दूर से हिमालय के तुषाराच्छादित शुभ्र उत्तुङ्ग शृङ्ग दिखाई दे रहे थे। मैं कुछ क्षण के लिये आश्चर्यचकित सी रह गई कि अखिलजगत्‌वन्दनीय देवादिदेव महादेव भी युग युग से किस परमात्मा के ध्यान में तल्लीन हो गये हैं। रजतगिरिणाभ भगवान् शंकर की इस प्रकार की महासमाधि को देखकर अस्तमित भगवान् सूर्य भी अपनी अरुणकिरणरूपी लालकुसुमों से उनके चरणों में शेष पुष्पाञ्जली देकर अस्ताचल को चले गये। इससे हिमाद्रि की शोभा और बढ़ गई। इतने में उस तुषार शृङ्ग के क्रोड़ में कई शुभ्र मेघगुच्छ भी दिखाई दिये। यही प्रतीत हुआ कि मानो मेघमालानगरी की रानियाँ भी श्वेतकुन्दपुष्प की माला गूंथ कर शंकर भगवान् को पहना रही थीं। इस मनोरम दृश्य का अवलोकन कर मैं तल्लीन हो गई। धीरे-धीरे चारों दिशाओं में अन्धकार ने अपना आसन जमा लिया। चारों ओर शान्त परिवेश था। मैंने सायंकालीन सन्ध्यावन्दन का समापन वहीं चट्टान पर बैठ कर किया। हम सभी ६००० फीट के ऊपर इस विचित्र परिवेष में परमानन्द में मग्न थे ः रात को खिचड़ी बनाई गई थी। अचार के साथ सभी लोगों ने परम तृप्ति से खिचड़ी खाई। कल की यात्रा के विषय में कुछ बातचीत कर सब अपनी-अपनी शय्या पर चले गये। (क्रमशः)

अध्यात्म-साहित्य को अनुपम कृति

श्री श्री माँ आनन्दमयी के अमूल्य उपदेशों का अपूर्व संग्रह

★ अमर-वाणी ★

व्याख्याकार—म०म० डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी० लिट्०

• विभिन्न जिज्ञासु भक्तों के विभिन्न प्रकार के संशयों के समाधान के लिए, विभिन्न स्थान और समय पर जो उपदेश श्री श्री माँ के श्रीमुख से प्रकट हुए थे, उन सबका यथासंभव परिवर्त्तनहीन अवस्था में इस संग्रह में लिपिबद्ध किया गया है।

• श्री श्री माँ के श्रीमुख की वाणी स्वभावतः अत्यन्त सरल और सहज भाषा में होती है, किन्तु कुछ स्थलों पर साधारण पाठकों के लिए भाव समझना कठिन हो जाता है। ऐसे सभी कठिन स्थलों को श्रद्धेय महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जी ने अपनी व्याख्या के द्वारा सरलीकृत किया है।

• श्री श्री माँ की यह वाणी वास्तव में मातृभक्तों के निकट महावाक्य के सदृश गुरुत्वसम्पन्न है। उनके श्रीमुख से निकले सभी उपदेश महावाक्यों के समान परम आप्तवचन हैं जिसमें शास्त्रों के ही निगूढ़ सिद्धान्त हैं।

★ ४० पौण्ड का उत्तम कागज ★ माँ के दो नयनाभिराम चित्र ★

★ आकर्षक गेटअप और साजसज्जा से युक्त ★

पृष्ठ-संख्या : ३६६ मूल्य : ६) रुपये

श्री श्री आनन्दमयी संघ

भदैनी, वाराणसी—१

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

MĀTRI VĀNI

The remembrance of God must be with a human being day and night so that he may be cleansed from his shortcomings and errors.

* * *

In order to solve his queries and doubts, it is incumbent on man to be engrossed in spiritual practice.

* * *

Human beings have to be dwellers of the inner cave so that God who resides within may be revealed.

* * *

A man can be recognized as a human being by his worthy character. A human being is in fact a traveller towards the realization of the superman. Each one should advance with his gaze fixed in this direction. A spiritual atmosphere and satsang will be helpful in this pursuit.

* * *

Those who have adopted the ashram of the householder should be model householders and live according to the precepts of *dharma*. Endeavour to know yourself.

* * *

Through the ever new transformations of a life dedicated to the Supreme Quest, one must strive to become firmly established in one's true Self (*Swarūpa.*).

* * *

In the proximity of Him from whom Creation and Preservation emerge is all coming and going. Everything is within His dispensation, is indeed with Him. Thus, solely by the remembrance, the realization of Him, everything is found —supreme peace and supreme bliss.

* * *

God is the one and only friend of the pilgrim to the Ultimate. He should act in this spirit so that he may come to accept Him as his all in all. Unless one is single minded there will be obstacles at every step.

* * *

To keep company with Mahātmās, to associate with great souls means to put into practice precisely what one has heard them say.

* * *

Just as a flower contains seeds that can be seen only when it opens, and in the seed again the tree is potentially present, so also He resides within you. By practising *sādhana* this may come to light—in other words, if the veil of ignorance can be destroyed, the One who is Self - effulgent will be realized. Just as the whole tree is potentially contained in the seed, in a similar manner, He in His fulness is enthroned within you.

SOME ASPECTS OF THE LIFE AND TEACHING OF THE EAST BENGAL SAINT SRI SRI ANANDAMAYĪ MĀ* †

Dr. Alexander Lipski

(Professor Alexander Lipski, Ph. D. is the Director for Asian Studies at the California State College, Long Beach. On the occasion of his visit to India in 1965 he met Mataji several times).

One of the striking features of Indian culture is the continued vitality of Hinduism. Throughout the ages Hinduism has produced inspiring personages, capable of infusing Hinduism with new vigor. In modern times, in response to the challenge of the West, it has demonstrated again its remarkable resilience. Any assessment of the interaction of modernization and tradition in India must, therefore, give due consideration to the strength of traditional thought. It is well known that Bengal has not only played a significant role in India's modernization but also in the preservation of tradition. Even the most secularly inclined historian will admit the importance of the Hindu revival brought about by the great saint from

---

* With the kind permission of the University of Chicago, reprinted from "*History of Religions*" Vol. 9, No 1, August 1969. Copyright 1969 by the University of Chicago.

† This article was originally presented at the Fourth Annual Conference on Bengal Studies, May 17, 1968, at Colgate University.

1 The most important source for the life of Ānandamāyi Mā is Brahmacārinī Gurupriyā's *Srī Srī Mā Ānandamāyī* (hereafter cited as "S. S. M A.") (3d ed. ; Bhādāinī, Benares. 1956-64). So far, thirteen volumes of this most detailed record of Ānandamāyī Mā's activities have appeared. Other important books published by Shree Shree Anandamayee Sangha in Bengali are Gangāsamīran and Bibhupada Kīrti, *Ānandamāyi Mā* (Bhādāinī, Benares. 1952) ; Kumārcandra Bhaṭṭacārya (comp.), *Sri Sri Ānandamāyi Updesamṛta-Samgraha* (Bhādainī, Benares, 1952) ; Śaileś Brahmacārī, *Śono Bali Mayer Katha* (Bhādāini Benares, 1955) : Gurupriyā Devi, *Akhanda Mahayajna* (Bhādaini, Benares, n. d.) ; Bhāiji, *Matṛdarśana* (3d ed. ; Bhādainī, Benares, 1966), translated into English by G. Das Gupta under the title *Mother as Revealed to me* (3d ed ; Benares, 1962) ; Gurupriyā Devī, *Matṛvanī* (Bhādāinī, Benares, n. d.), translated into English by Bramacharinee Atmananda under the title *Matṛvani* (Benares, 1959). In addition. Shree Shree Anandamayee Sangha published in English *Mother as Seen by Her Devotees* (Bhādāinī, Benares, 1956) and *Words of Sri Anandamayi Ma*, trans. and comp. Atmananda (Benares, 1961). A quarterly, *Ānanda Vārtā*, has been published since 1951 in Bengali, Hindi, and English. From 1955 on, three separate editions have been issued : (*a*) Bengali-English, *b*) Hindi-English, and (*c*) English. The English edition does not always contain the same material as the Bengali or Hindi editions. In 1965 Gañgeścandra Cakravartī published the first volume of his *Viśvajananī Ānanda-Māyī Mā* (Calcutta ; Viśvanāth Mukhopādhyāya).

West Bengal, Rāmakṛṣṇa. Just ten years after the death of Rāmakṛṣṇa, East Bengal gave birth to another great religious leader, Ānandamayī Mā, whose life in some ways bears a resemblance to that of Rāmakṛṣṇa. To this day Ānandamāyī Mā continues vigorously to uphold traditional Hinduism.

The historian who ventures to deal with Ānandamayī Mā's life encounters considerable obstacles. Her followers have stressed the fact that she was a fully realized being from birth. Also, those who know her consider her being more important than her actions. Even a poet cannot easily portray being, much less so a historian. Moreover, after 1926, when her *sādhanā* was completed, there has been no noticeable evolution in her life. As far as her teachings are concerned, they appear fully formulated from the beginning. Thus the historian cannot show a gradual unfoldment of ideas.

Nirmalā Sundarī, later to be known as Ānandmayī Mā (Bliss-permeated Mother) or briefly as *Mātājī*, was born in the tiny village of Kheora in the Tripurah district of East Bengal on April 30, 1896 (19th Baiśākh 1303 Bengal Era) in an orthodox Vaiṣṇava family. Her father, Bipinbihārī Bhaṭṭacārya, a Brahman originally from the village of Vidyakūṭ, was ascetically inclined and a great lover of *kīrtana*. For long stretches of time he would leave his family and accompany visiting *kīrtana* parties. Her mother, Mokshadā Sundarī later known as Didimā, came from a family that had produced many pandits[3]. It was a matter of family pride that there had been a recent case of joyous *sati* among Didimā's paternal relatives[4]. The house in which Ānandamayī Mā grew up was surrounded by the homes of Muslims, chiefly illiterate peasants. Apparently the

---

There is a German work by Melita Maschmann, *Der Tiger singt Kirtana* (Weilheim, Oberbayern : Otto Wilhelm Barth-Verlag, 1967) and a French work by Arnaud Desjardins, *Ashrams—Les yogis et les sages* (Paris : La Palatine, n d.). Desjardins' book was not available to me. However, portions of the book have appeared in *Ānanda Vārtā*. A brief reference to Ānandamayī Mā can be found in Richard Lannoy, *India : People and Places* (New York : Vanguard Press, 1955), pp. 17-18. Arthur Koestler devotes a portion of his chapter "Four Contemporary Saints" in his book *The Lotus and the Robot* (New York : Macmillan Co. 1961), pp. 63-84, to an appraisal of Ānandamayī Mā. It appears to me that Koestler was prevented by his ethnocentricity from understanding some of the deeper aspects of Indian spirituality. He himself admits : "Thus, in a sense, I came back impoverished rather than enriched. I felt that I had been put in my place—and that my place was Europe" (p. 282).

Finally there are two brief accounts of Ānandamayī Mā's life in Benoy Gopal Ray, *Religious Movements in Modern Bengal* (Santiniketan : Visva-Bharati, 1965), pp. 128-29, and in P. Yogananda, *Autobiography of a Yogi* (New York : Philosophical Library, 1946), pp. 454-59.

[3] S. S.M.A., I, k (Introduction).

[4] *Ibid.*, p.g: Bhāijī, *op. cit.*, pp. 9—10.

Muslim neighbours were extremely fond of Ānandamayī Mā, who frequently visited their homes. Indicative of her mother's orthodoxy is the statement attributed to her : "As long as *annaprasanna* [ceremony when a baby first takes rice (solid food) at about five or six months] has not taken place, it is no sin to touch a Muslim. After that such contact requires an ablution."[5]

As a result of her father's disregard for worldly success, Anandamayī Mā's family was in extremely poor financial circumstances and could not afford to let her attend school regularly. Often she was kept at home to help with the housework and to take care of her little brothers.[6] At most, she attended elementary school for two years, and she never acquired a mastery of reading and writing. In later years when asked to autograph a book, she would sign with a dot.[7]

In 1908, when Anandamayi Mā was almost thirteen years old her parents married her to Ramanimohan Cakravarti, a Brahman from Aṭpārā near Dacca. Her husband, later on usually referred to as Bholānāth or Pitāji, was a Śakta. Through him Anandmāyi Mā changed from Kṛṣṇa to Kāli worship. It must be pointed out that the marriage was never physically consummated. Bholanath apparently had implicit faith in Anandamayi Mā and was willing to accept the exceedingly unconventional marriage which initially placed him in an awkward position toward his family. Ultimately he looked upon her as his guru. Anandamayi Mā; on the other hand, throughout their married life (Bholānath died in 1938) combined the role of a devoted wife with that of a spiritual guide.[8]

The first four years after the wedding, Bholanath continued to live in Aṭpaṛa, where he was employed in the police department, while Anandamayi Ma kept house for his eldest brother, Revatimohan Cakravarti, in Śripur. While she was normally extremely efficient in performing various houshold chores, there were times when she was overcome by spells of fainting. On one occasion, she was found lying unconscious on the kitchen floor when the smell of burnt food attracted the family.[9]

---

[5] S.S.M.A., I, j.

[6] Anandamāyi Mā was the second child. One elder sister had died prior to Ānandamāyi Mā's birth Four brothers and two sisters were born afterwards. *Ibid.*, pp. kh, ch—j

[7] B. Mukerji, 'From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi," *Ānanda Vārtā*, English sec., V, No. 1 (May, 1957), 50; Swami Madhav Tirtha, "Conversations with Mataji at Gujrat, *Ānanda Vārtā*, English sec., VIII, No. (November, 1960). 158.

[8] Mukerji, "From the life of Sri Sri Ma Anandamayi," *Ānanda Vārtā*, English sec., V, No. 2 (August, 1957), 151-52; S S.M.A I., jh—n

[9] S.S.M.A. I, n: Mukerji, "From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi." V, No. 2 (cited in n 8 above) 152—54

In 1913, at the age of seventeen, Anandamayi Ma joined Bholanath, who had found employment in the Land Settlement Department in Aṣṭagrāma. In Aṣṭagrāma they were the tenants of one Jaiśankar Sen, whose wife was so charmed by Anandamayi Ma's blissful nature that she referred to her as "Khusir Ma" (Happy or Cheerful Mother).[10] Harakumar Ray, a brother of Sen's wife, was the first to address her as "Ma" and to prostrate himself in front of her. He started coming daily for *prasāda*.[11] Supposedly he predicted : "You will see, I began calling you Mother. Some day the whole world will call you so."[12]

A new phase in Anandamayi Ma's life began in 1917, when Bholanath procured a position in Bajitpur. In later years Anandamayi Ma referred to the next six years (1917-23) as the period when it was her *kheyāla* (free will manifesting itself spontaneously)[13] to play the role of a *sādhikā* : "Let me tell you that what I am, I have been from infancy. But when the different stages of *sādhana* were being manifested through this body[14] there was something like a superimposition of *ajñāna* [ignorance]. But what sort of *ajñāna* was that ? It was really *jñāna* [knowledge] masquerading as *jñāna*."[15] During these years various strange phenomena have been recorded by her followers. Often during *kirtana* her body would suddenly stiffen, and she would lose consciousness. At times mantras spontaneously proceeded from her lips; or her limbs formed into various yogic postures. It is reported that she passed at a rapid succession through every kind of *sādhana* described in Hindu scriptures as well as those of other religions.[16] At first Bholanath was greatly disturbed and consulted various exorcists and doctors. Finally, a distinguished physician, Dr. Mahendra C. Nandi from Kalikaccha, assured him that what appeared to be fainting spells, resembling attacks of epilepsy, were in fact signs of God intoxication.[17]

---

[10] *S.S.M A.*, I, t—th.

[11] *Ibid.*, I, th - d.

[12] *Ibid.*, I, dh.

[13] Ordinarly *kheyāla* means fancy, whim, tendency, or imagination. In Ānandmayī Mā's case the translation given has been suggested. See "Matri Vani" *Ānanda Vārtā* English sec. III No. 3 (November 1955), 204.

[14] Ananadamāyi Mā refers to herself usually as "this body" or as "this little daughter of yours"; see "Mataji's Amara Vani," *Ānanda Vārtā*, English sec. III, No. 3 (November 1955), 206.

[15] Vijaiananda (A. J. Weintrob). "What Mother is Not." *Ānanda Vārtā*, English sec. VIII, No. 1 (May. 1960), 20.

[16] "Matri Lila." *Ānanda Vārtā*, English sec.. VI, No. 3 (November 1958) 250; S.S.M.A., I, n—d.

[17] S.S.M.A., I, dh.

In 1922, at the time of *Jhulana* (Swing Festival), Ānandamayī Ma bestowed upon herself *dīkṣā* (initiation). There were no external accessories. She herself assumed the role of guru, mantra, and *iṣṭa* (chosen deity). Even now her followers observe the time of her *dīkṣā* with meditation.[18] Five months after her own initiation, Ānandamayī Mā conferred *dīkṣā* upon Bholānāth. There is only one other instance known when she gave *dīkṣā*. As a rule she insisted that she was not a guru, and she refused to initiate her disciples.[19] Before the end of 1922, she began a three years' period of silence, with occasional interludes, when she would utter Sanskrit mantras or give short talks to the increasing number of visiting devotees.[20]

While Ānandamayī Ma was still observing silence, she moved with Bholanath to Dacca in 1924. Bholanath had lost his position in Bajitpur and concluded that it would be easier to find employment in a larger town. He secured an appointment as manager of the nawab of Dacca's Shah-bag garden. For the next six years (1924-29) Bholanath and Anandamayī Ma lived in a little cottage in that garden. Six months after her arrival in Dacca, Anandamayi Ma terminated her silence. Immediately thereafter, however, she started on a dietary regimen. For a while she did not eat more than three morsels a day. Then again she would fast completely, once for sixteen days and another time for twenty-three days. Before the end of 1924 she lost the ability to feed herself. Food would simply slip through her fingers when she attempted to raise them to her mouth. To this day she is being fed by one of her disciples.[21]

Knowledge of Anandamayi Ma's strangely exalted spiritual state had preceded her arrival at Shah-bag. There was, therefore, a steady stream of visitors to the "Mother of Shah-bag." as she was soon called. Daily *kirtana* was performed in her cottage. Her first public appearance occurred during the Kali *pūjā* of 1925. When first requested to perform *pūjā*, she declined claiming that she did not know sufficiently the *śastric* rites. Ultimately she did perform *pūjā*, and to the astonishment of the audience, she placed flowers and sandal paste upon her own head instead of on the image of Kali. One disciple describing the *pūjā* stated : "At that time all were under the spell of the compassionate Mother's uncommonly beautiful sight and throughout the ceremony all were deeply absorbed."[22]

---

[18] *Ibid.*, pp. dh—n ; "Matri Lila." pp. 250-51.

[19] S. S M. A., I, p—b ; in 1937 she initiated J C. Rāy (Bhāiji) in *samnyāsa*. Bhāiji, *op. cit.*, p. I (Preface).

[20] Bhāiji, *op, cit* , p, 28 ; S. S. M, A., I, b.

[21] S. S. M. A., I, 11-13, 58-59, 88-92 ; Bhāiji, *op. cit.*, pp. 83-87.

[22] Bhāiji, *op*, cit., pp. 31-32.

During a public *kirtana* in Anandamayi Ma's home on the occasion of the winter solstice, Anandamayi Ma suddenly arose and, totally oblivious to her surroundings, ecstatically danced in rhythm with the *kirtana.* One disciple later declared that it reminded him of the *Mahābhāva* of Lord Gauranga. To others she appeared to be the visible embodiment of the Mother of the Universe.[23] In 1926 Anandamayi Ma was again asked to perform the Kali *pūjā*. Without explanation she again deviated from the usual procedure. When the *pūjā* drew to a close and *pūrṇahūti* (the last oblation) arrived, she did not permit it to be offered and ordered the preservation of the sacrificial fire. The fire is still kept burning in Vindhyacala and Benares, where it was transferred at Partition.[24] On the following day, when the immersion of the image of Kali was to take place, Anandamayi Ma took the further unusual step to order the preservation of the statue for the purpose of making it available for future worship. She issued specific instructions to the effect that on her birthday the image be made accessible for *darśana* to people of all castes and creeds.[25]

The performance of Hindu rites in the nawab's garden did not encounter opposition from the Muslims. Anandamai Ma even gained the respect and affection of the nawab's family and of many neighbouring Muslims. Two incidents are reported that help to explain her popularity with Muslims and indicate that she was beyond narrow creedal confines. Once when Anandamayi Ma passed close to the grave of a *faqir* in the Shahbag garden, she was observed performing *namaz* (Muslim prayer) and uttering phrases that upon examination proved to be verses from the Koran.[26] On another occasion, during *kirtana,* she noticed a Muslim watching her from a distance. She thereupon moved toward him chanting "Allah, Allahu Akbar."[27] Anandamayi Ma gradually acquired a number of devoted Muslim disciples. Partially this can be explained by the fact that there are quite a few Muslim worshippers of Kālī in East Bengal. In any case, she always stressed that she had equal respect for all religions and that in her eyes *kirtana* and *namaz* were one and the same.[28] She also stated that she considered herself "a Christian, a Muslim, anything you like."[29] With her emphasis on the equality of all religious paths, she, as many an Indian, understandably objects to the exclusive claims of Christianity: "If Christianity claims a special position for itself and places itself apart, it thereby breaks up all other religions. We recognize Jesus Christ, but within the unity of all religions. He Himself stands above this aloofness."[30]

---

[23] *Ibid.*, pp. 37-38.

[24] *Ibid.*, pp. 34-35 ; see also footnote in the English translation, *Mother as Revealed to Me*, p. 44.

[25] Bhālji, *op. cit.*, pp. 34-35.

[26] *Ibid.*, pp. 105—6.

[27] *Ibid.*, pp 106—7.

[28] *Ibid.*, p. 107.

[29] Atmananda, "Old Diary Leaves," *Ananda Varta*, English sec., XIV, No. 1 (May 1966), 32.

As Anandamayi Ma became increasingly accessible to the public, it was becoming quite common for people from all over East Bengal to seek her *darśana*. By 1926 some of her most loyal disciples – the nucleus of a future inner circle—had appeared. Among them was Śaśaṅkamohan Mukhopadyaya, a retired civil surgeon from Dacca, who was later initiated in *saṃnyāsa* under the name of Swami Akhandananda Giri. His second eldest daughter, Didi Gurupriya Devi, usually referred to as Didi, became Anandamayi Ma's close assistant. When Anandamayi Ma first met Didi, she is said to have exclaimed: "Where have you been all this time?"[31] This reminds one of Ramakṛṣṇa's similar exclamation upon meeting Narendranath Datta, the future Swami Vivekananda. Didi carried out almost singlehandedly the administration of the various ashrams founded from 1929 onwards and after, until the establishment of a regular organization, the Shree Shree Anandamayee Sangha, in 1950. At the same time she compiled in her diary an extensive record of Anandamayi Ma's daily life.[32] Reputedly the most devoted disciple was Jyotiścandra Ray, known as "Bhaiji," a personal assistant to the director of agriculture in Dacca. Deeply impressed by the blissful nature of the "Mother of Shahbag," Bhaiji was the first to suggest that in future she be called Anandamayi Ma.[33] And Bhaiji was also chiefly responsible for the establishment of the Ramaṇa Ashram in Dacca in 1929 the first of twenty-one Ashrams in northern and central India, to serve as centres for Anandamayi Ma's spiritual activities.[34]

With the founding of the Ramaṇa Ashram, the "Shah-bag" phase of Anandamayi Ma's *lila* ended. Henceforth she abandoned all stationary life, and since that time she has been incessantly traveling throughout northern and central India, and occasionally in southern India, following her *kheyāla*. She remains at a certain place for several days or at the most for a few weeks or months. Wherever she stays, there ensues an intense spiritual activity: chanting of *kirtana*, meditation, recitations from the Gita, the Upanisads, the *Puranas*, discourses by visiting mahatmas and scholar-disciples, general question and answer periods, interspersed with individual interviews, known as "privates," one of the English words Anandamayi Ma has incorporated into her vocabulary (she has also acquired a good knowledge of Hindi). All Hindu festivals are celebrated with careful observance of *śāstric* rites.[35] While Anandamayi Ma personally has no need for ceremonies, she knows that the majority of people have not attained her level of understanding, and she tries to wean them from a mere mechanical observance of rites and to make them aware of the underlying significance of ceremonials : "*Pūjā* is done so that real *pūjā* may come about... What does it mean to perform real *pūjā* ? To give oneself entirely to the object of one's worship.... When one's dedication becomes complete, He reveals Himself. To find Him means to find Oneself and to find Oneself means to find Him."[36] Not only are *pūjās* regularly performed at her ashrams, but she also does not belittle Vedic *yajñas*. In fact, from 1947 to 1950 a giant *yajña* was performed at her ashram in Benares "for the good of the whole world.''[37] Mahatmas from all over India participated, and thousands of Brahmans were entertained.[38]

---

[30] Atmananda, "New Diary Leaves," *Ananda Varta*, English sec., XI, No. 4 (February, 1964), 185.

[31] Mukerji, 'From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi," *Ananda Varta*, English sec., VI, No. 3 (November, 1958), 241—42.

[32] "Matri Lila," pp. 248—49.

[33] Bhāijī, *op. cit.*, p. 16.

[34] *Ibid.*, pp. 121—24.

By dedicating a *mahā yajña* to the entire world, Anandamayi Ma clearly indicated the fact that she did not consider the scope of her activity limited to East Bengal : "From a practical point of view this body belongs to East Bengal and is a brahman by caste, but if you detach yourself from all these artificial attributes, you will understand that this body belongs to one common human family."[39] After 1932 she only occasionally visited East Bengal until Partition, when such visits naturally ceased. Visits to West Bengal occur at regular intervals, and when Durga *pūjā* is celebrated in Calcutta it turns into a mass affair. Thousands of *darśana* seekers literally mob Anandamayi Ma.[40] Even at the present time, Bengalis constitute a large proportion of the "inner core" of devotees. The general following, however, has become all-Indian and includes foreigners. Political leaders, university professors, medical men and artists are among her adherents. Through Kamala Nehru the whole Nehru family has been closely associated with her. Kamala Nehru frequently spent whole nights in deep meditation with Anandamayi Ma in her ashram, in Kishenpur and in Dehradun.[41] She introduced her husband, the agnostic Jawaharlal Nehru, to Anandamayi Ma. Jawaharlal continued to go occasionally to Anandamayi Ma for *darśana* after the passing of his wife. On February 29,1964, three months before his own death, he had her *darśana* for the last time.[42] His daughter, the present Prime Minister of India, Indira Gandhi, has been a regular visitor with Anandamayi Ma since the 1930's.[43] Well-known devotees include Subodharañjan Dasgupta, chief justice of Mysore; Vijayaraje, maharani of Gwalior; Jugal Kishore Birla, the great industrialist and philanthropist; the singer Dilip Kumar Ray; the dancer Uday Shankar; Rehana Tyabji, a close follower of Gandhi; and, above all, Dr. Gopinath Kaviraj, the great Sanskritist.[44]

---

[35] Gaṅgāsamīran and Bibhupada Kīrtti, *op. cit.*, pp. 18—19 (Appendix); Gurupriyā Devī, "Dāyerīr kayek pṛṣṭā," *Ananda Vārtā*, Bengali sec., XII, No 1 (May, 1964), 3—10; XIII, No. 4 (February, 1966), 142—45; XV, No. 3 (November, 1967), 128—37; *Mother as seen by Her Devotees*, p. 38

[36] Atmananda, "New Diary Leaves," *Ananda Vārta*, English sec , VIII, No 2 (August, 1960), 92.

[37] *Mother as Seen by Her Devotees*, p. 50; The *yajña* is described in detail in Gurupriya *Devi*, *Akhanda Mahayajña*.

[38] *Mother as seen by Her Devotees.*

[39] Bhāijī, *op. cit* , p. 166.

[40] "Matri Lila," *Ananda Varta*. English sec., XII, No. 4 (February, 1966), 180—81; III, No. 3 (November, 1955), 241; information about the Durgā *pūja* in Calcutta has also been supplied to the writer by several eye witnesses

One of the first Westerners to be attracted to Anandamayi Ma was Blanca,[45] an Austrian refugee who met her in Almora in 1943. Upon the death of her father in 1945, Blanca became a *brahmacārinī*, assuming the name Atmananda. Having acquired a good knowledge of Bengali and Hindi, Brahmacarini Atmananda serves frequently as an interpreter when foreigners request interviews with Anandamayi Ma. She also is on the editorial board of *Ānanda Vārtā*, a quarterly founded in 1951 to disseminate Anandamayi Ma's teachings and to promote spirituality in general.[46] Another western monastic is Vijayananda, the former Dr. Adolphe Jacques Weintrob. A successful medical doctor from Marseilles, he gave up a renumerative practice in 1951 to go to India on a spiritual quest. Upon Anandamayi Ma's instruction, he has been living largely in solitude in Almora.[47] Greatly influenced by Anandamayi Ma's person and teachings were also the well-known British photographer Richard Lannoy, the French film producer Arnaud Desjardins, and the German novelist Melita Maschmann.[48] It is not surprising that Anandamayi Ma has drawn foreigners to her, given the fact that in this century an increasing number of westerners dissatisfied with the answers that western religions and philosophies offer have turned to India in the hope of finding there more satisfying solutions to perennial problems. An atmosphere of serenity, peace, and bliss emanating from Anandamayi Ma seems to account primarily for the great attraction she exercises over her devotees. All seem to agree that in her presence they feel lifted above ordinary worldly problems.[49]

---

[41] Gurupriyā Devī, "Dāyerīr kayek pṛṣṭā," *Ananda Varta*, Bengali sec., XI, No. 4 (February .1964), 166—67.

[42] ' Matri Lila,„ *Ananda Varta*, English sec., XII, No. 1 (May, 1964), 47.

[43] Seen n. 41 above.

[44] Gurupriyā Devī, "Dāyerīr kayek pṛṣṭā," *Ananda Varta*, Bengali sec. XI, No. 8 (November, 1963), 121; XII, No. 1 (May, 1961), 4—5; S.S.M.A., VIII, 91—92; "Matri Lila," English sec., X, No. 4 (February, 1963). 234.

[45] I have so far been unable to find her second name.

[46] Atmananda, "Reminiscences," *Ananda Varta*, English sec., VI, No. 4 (February, 1959), 325—30 ; S.S.M.A., IX, 210.

[47] N.R. Das Gupta, "The Divine Mother," in *Mother as Seen by Her Devotees*, p. 128 : Adolphe Jacques Weintrob (Vijayananda), "My First Impression," in *Mother as Seen by Her Devotees*, pp. 59-66:

Those who have fallen under the spell of Anandamayi Ma have understandably speculated about her real nature. She has not had a guru. At no time has she made references to previous incarnations. As pointed out earlier, she emphatically insists that she is not a guru and refuses to give *dīkṣā*. One is mystified by the fact that she never enters the home of householders, while permitting her disciples to do so. Her seeming inability to feed herself adds to the enigma. When asked who she is, her usual answer is, "Well, I am what you consider me to be, not more, not less,"[50] or, "This body is like a musical instrument; what you hear depends upon how you play it."[51]

An interesting assessment of Anandamayi Ma has been made by Vijayananda in an article entitled "What Mother Is Not."[52] He points out that "a vedantist, for example, when talking to Mother for the first time, will feel convinced that She is a pure *advaita vedantin* ; a śākta may very likely say that She is an incarnation of the Divine Mother, advocating the cult of śakti ; while a vaiṣṇava will see in Her a great *bhakta*, and so on."[53] He then emphasizes the fact that Anandamayi Ma cannot possibly be considered a Tantric in the way this is commonly understood in the west, that is, in association with sexual rituals. *Brahmacarya* is strictly observed in all her ashrams. She herself clearly states : "It is the pure undefiled flower that finds a place at the feet of the Lord and nowhere else. Take great care to spend your life in spotless purity, worthy to be dedicated in worship to the Lord."[54] Does she recommend the cult of Śakti? Undoubtedly among her followers are a great number of Śāktas. Moreover, it is quite customary for Anandamayi Ma's devotees to greet each other with "Jai Ma." And *kīrtanas* in praise of "Ma" are regularly chanted in her ashrams. However, other *kīrtanas* are devoted to Rāma, Kṛṣṇa, Śiva, or just to Bhagavān (Godhead). Vijayananda draws attention to the fact that her earlier *bhāvas* have ceased. Moreover, Anandamayi Ma strongly warns against emotionalism: "At the supreme summit of love which is *mahābhāva*, exuberance, excessive emotion and the like cannot possibly occur. Emotional excitement and supreme love are not to be compared at all, they are totally different from each other."[55]

---

[48] The works of Lannoy, Desjardins, and Maschmann are listed in the initial footnote of this paper.

[49] This conclusion is chiefly based on *Mother as Seen by Her Devotees*, and personal conversations with some of Ānandamāyī Mā's disciples.

[50] *Mother as Seen by Her Devotees*, p. 199.

[51] Bhāijī, *op. cit.*, p. 82.

[52] Vijaiananda, *op. cit.*; pp. 11-22.

[53] *Ibid.*, p. 11.

A discussion of the teaching of Ānandamayi Mā must be prefaced by some reference to the amazing ease with which this illiterate woman handles complex questions posed by eminent scholars. Answers are couched in a simple, homely language and include parables. Ānandamayi Mā is especially fond of making puns, such as *Vedanta* means *bheda anta* (end of difference); where Rāma (God) is, there is *ārāma* (rest); where Rāma is not, there is *byārāma* (discomfort, disease); desire (*vāsanā*) is where God does not dwell (*vāsanā*); to understand intellectually (*bojhā*) is but to be burdened (*bojhā*); *sādhanā* has to be practiced to discover *svādhana* (one's own wealth.)[56]

When people come to Ānandamayi Mā with their problems, she does not offer one specific solution. Instead she points out various ways of viewing a problem. For instance, someone asked her whether it was proper for him to engage in a suit in view of the fact that he had been cheated in a business deal. In reply she stated that one could argue that one must go to court to teach the culprit a lesson and to keep him from further malpractices. On the other hand, who is really cheating? "Are not all forms, all beings, manifestations of Him? What I have been deprived of was evidently not my due, it is God who has taken it from me."[57] Another way of looking at the problem is that through generosity and forgiveness one might bring about a transformation in the criminal.

---

[54] *Matṛvanī*, p. 99.

[55] "Words of Sri Anandamayi Ma," p. 37.

[56] "Srī Mukher Kathā," *Ananda Varta*, Bengali sec., XV, No. 1 (May, 1967), 1; "Matrvānī," *Ananda Varta*, Bengali sec., VII, No.1 (May, 1959). 1-2; Krishnanath, "With Mataji on the Bank of the Gomati River," *Ananda Varta*, English sec., IX, No. 3 (November, 1961), 135; 'Mataji's Amara Vani," *Ananda Varta*, English sec., III, No. 4 (February, 1956), 292; "Bhasa Dharana Mala," *Ananda Varta*, English sec., XIII, No. 3 (November, 1965), 126.

[57] Atmananda "Old Diary Leaves," *Ananda Varta*, English sec., XV, No, 1 (May, 1967), 42.

Or one might refrain from going to court, considering it sufficient punishment that the villain had caused bad karma for himself. Finally, one could reason that one would not go to court if the wrongdoer were one's own brother. "Whichever of these points of view appeals to you, according to it you should act."[58]

When someone complained to Ānandamāyi Mā about her unwillingness to give clear-cut answers to problems, she retorted : "At least you have understood that there is a state where problems are no longer settled in any particular way...But now you will have to realize that no solution is ever conclusive ; in other words, you will have to go beyond the level where there is certainty and uncertainty. The solution of a problem arrived at by the mind must of necessity be from a particular point of view ; consequently there will be room for contradiction, since your solution represents but one aspect."[59]

An examination of Ānandamayi Mā's teaching leads one to the conclusion that she considers a life combining *karma yoga* and *mantra yoga* most suitable for the majority of householders. At the same time, she urges disciples to spend at least a few minutes a day in *dhyāna yoga.* In general, it seems that she varies her instructions according to the temperament and development stage of the particular disciple. While making allowance for different religious approaches she constantly stresses the fact that ultimately all paths merge in one : "While engaging in *sādhanā* one must concentrate in a single direction but after it has been completed, what comes then ? The cessation of difference, distinction and disagreement. Differences do indeed exist on the path, but how can there be a difference of Goal ?"[60] Her strict monism is borne out by such statements as : "The One, who is the Eternal, the Atman, He Himself is the traveller on the path to immortality, He is all in all, He alone is,"[61] or : "In the Supreme, in the Ultimate, when limited vision has disappeared, how can there be distinctions, such as duality or non-duality ? He who inquires, perceives the two ; and there is likewise duality for him who practises *sādhanā*, although he aims at Oneness. You must grasp the truth that He who is dual is indeed the One who is non-dual—just like ice and water."[62]

Essentially her teaching is based on the wisdom of the ancient Indian sages : "This body presents the matter from the standpoint of the

---

58. *Ibid.*, p. 43.
59. *Words of Sri Anandamayi Ma*, p. 1.
60. "Words of Sri Anandamayi Ma," p. 6.
61. "Matri Vani," *Ananda Varta*, English sec., VII, No. 2 (August, 1959), 41.
62. *Words of Sri Anandamayi Ma*, p. 123.

rishis and munis, from the line of approach which they chose."[63] Thus it is centered on renunciation, simplicity, and other-worldliness. When the late president of India, Dr. Rajendra Prasad, visited Ānandamayi Mā in 1961 and asked her what she considered a sound basis for modern society, she told him that above all the four *āśramas*, in particular the *brahmacarya āśrama*, must be preserved. If at an early age children were taught self-restraint, simplicity, and frugality, and if it were made clear to them that the only purpose of human existence is the realization of God, they would be thoroughly grounded in the art of living. Then *brahmacarya* would naturally lead to *brahmavidya* (knowledge of God). In that case it would not matter so much whether he or she chose the shortcut of proceeding from *brahmacarya* directly to *saṃnyāsa* or whether one first passed through the *grihastha* and *vānaprastha* stages.[64] Those who chose the path of *gṛhastha* were admonished to let their parents select their marriage partner, since young people were likely to be swayed in their choice by mere physical attraction. Under no circumstances should bride and bridegroom see each other prior to the wedding. Looking at a girl before one is married to her is likened by Ānandamayi Mā to offering for *pūjā* a fruit that has been pecked at by a bird. After the birth of one or two children, she advocates that husband and wife live in a brother-sister relationship. And she urges house-holders to retire from wordly life at fifty-five or at the latest at sixty.[65] Ordinarily one was not entitled prematurely to foresake one's family and become a *saṃnyāsin*. However, if one's religious urge became compelling, it was permissible to abandon *gṛhastha*. She compares the state of a man who took such a step to that of a person who abandons a burning house, and she cites Buddha as an example.[66] Obviously the state of such a person is the very opposite of that to which Paul refers when he declares : "For it is better to marry than to burn."

With her emphasis on renunciation and self-control, Ānandamayi Mā makes exacting demands that must be truly disconcerting to those who consider it man's birthright to enjoy "the good things in life." She

---

63. "Mataji's Amar Vani," *Ananda Varta*, English sec., V. No. 3 (November, 1957), 205.

64. Gurupriyā Devī, "Dāyerīr kayek pṛṣṭā," *Ananda Varta*, Bengali sec., XI, No. 3 (November , 1963), 116-17.

65. Atmananda, "Old Diary Leaves," *Ananda Varta*, English sec., XII, No. 1 (May, 1964), 44-45 ; Maschmann, *op. cit.*, pp. 194-95.

66. Atmananda, "Diary Leaves," *Ananda Varta*, English sec., III, No. 4 (February, 1956), 314,

insists that man must be heroic : "During spells of misfortune he must abide in fortitude and patience."[67] And she adds :

"The word *mānusa* (man) i.e. *man* [mind] and *hus* [consciousness, cognition] gives the clue to what man should really be : a being who is self-aware Even if he has slipped and fallen, is it not his duty to raise himself up again with the help of the very earth to which he has tumbled ?...If he has not awakened to the consciousness of his own Self, what has he achieved ? He has spent his life in vain. How many lives have been wasted, age after age, in endless coming and going ? When man becomes a traveller on the path to his inner Being the distance that separates him from his goal gradually vanishes. You will most certainly have to undertake this pilgrimage to immortality, trampling under foot hundreds and hundreds of obstacles.[68]"

Over and over Anandamayi Ma belabours the need for endurance in the face of all difficulties. Once when she was asked why pain existed, she countered that there was also a good side to pain and in this connection recounted a tale referring to Hanuman's construction of a bridge to Lanka. While building the bridge Hanuman accidentally hurt a squirrel. The squirrel thereupon complained to Rama and demanded in punishment that Rama step upon Hanuman. Rama did accordingly and told Hanuman not to commit such an error again. Hanuman, however, retorted that he would frequently repeat his wrong action, in order to enjoy the pressure of Rama's feet.[69] At another time Ānandamayi Ma exemplified the value of suffering by telling the story of a pitcher who underwent all sorts of tribulations while being fashioned into its present form. Ultimately it was used as a *pūjā* vessel, and Ganges water was kept in it. Similarly, human "vessels" had to be moulded to become fit for the divine life.[70]

Regarding pain and suffering as beneficial for spiritual growth, the usually loving and kind Ānandamayi Mā at times outwardly displays severity. Thus it is reported that when a devotee came to see her shortly after he had suffered the loss of his wife, she greeted him with laughter. Stunned by her seeming callous attitude, he inquired into the cause of her merriment. "*Pitājī*," she replied, "there is one less barrier between you and God."[71] To those who complain that the price of success in the spiritual life is the abandonment of worldly pleasures, she retorts that foresaking spirituality is an act of supreme renunciation.[72]

---

[67] *Matṛivanī*, p. 86

[68] *Ibid*., p. 19.

[69] Swami Madav Tirth, "Sixty second Birthday ot Shri Ma Anandamayi," *Ananda Varta*, English sec , V, No. 2 (August, 1957), 160 (a).

[70] "Conversations with Anandamayi Ma," *Ananda Varta*, English sec., XV, No. 3 (November, 1967), 111-12.

[71] *Mother as Seen by Her Devotees*, pp. 15-16.

Ānandamayi Mā is aware of the fact that modern conditions do not favour a life totally dedicated to spiritual pursuits. Therefore, she is willing to compromise and urges people to spend at least fifteen minutes a day in meditation.[73] To assist householders in withdrawing from their ordinary worldly activities, she instituted an annual Samyam Vrata (vow of self-restraint) in 1952. All those taking the Saṃyam Vrata must abstain from drinking and smoking and must partially fast, or at least greatly reduce their food intake, for one week. During that week there is a program of meditation, *kīrtana,* and talks by specially invited pandits. Usually several hundred persons attend.[74]

Positing the realization of God as the only worthwhile purpose of life, Ānandamāyi Mā, as can easily be surmised, is not interested in western-style progress. From her point of view, the material accomplishments of modern civilization lack as much reality as all other aspects of this transient world : "Many feel the urge to create a new and better world : instead one should let one's thought dwell on such subjects that help toward finding perfect peace."[75] However, she does not completely reject technical advance, considering it neither good nor bad. And she concedes that occasionally technical progress might be an aid in one's *sādhanā.* In that case it has her approval. Technical change has made a definite impact on her outward life. The times when she traveled by the most primitive means of conveyance are long past. Nowadays the unending pilgrimages are performed by car and train. Although she personally does not take medicine, she sees to it that the best possible medical treatment is given to her close disciples when they contract an illness.[76] With her blessings, the Shree Shree Anandamayee Sangha founded in 1965 the Ma Anandamayee Seva Hospital at Benares. Equipped with up-to-date modern instruments and facilities, it provides free treatment for destitute persons.[77] But whatever concessions have

---

72. *Words of Sri Anandamayi Ma,* p. 158.

73. Krishnanath, "With Mataji on the Bank of the Gomati River," *Ananda Varta,* English sec., IX, No. 4 (February, 1962), 181.

74. Atmananda, "Samyam Vrata," *Ananda Varta,* English sec ; I, No' 2 (953),1 50-53 K G. Ambegaokar, "Samyam and Bhagavata Saptahs in Naimisharanya, *Ananda Varta,* English sec., VIII, No. 4 (February, 1961), 175-90.

75. *Matṛvanī,* p. 102. See also Bhaṭṭacārya (comp.), *op, cit* , p. 114.

76. "Matri Lila," *Ananda Varta,* English sec., XIII, No. 2 (August, 1965), 83; Guru priyā Devī, "Pages from My Diary," *Ananda Varta,* English sec., VII, No. 2 (August, 1959) 83, 87.

77. *Annual Report, Ma Anandamayee Seva Hospital* 1966-67, pp.1-19.

been made to modern civilization do not alter the fact that utter simplicity continues to prevail in her ashrams.

In view of Ānandamayī Ma's detachment from worldly affairs, it is not surprising that she ordinarily does not comment upon political events. In all the twelve volumes of Gurupriya Devī's diary there are only scanty references to the momentous events that occurred in India in recent years. Ānandamayī Ma met Mahatma Gandhi several times, but if the record of their conversations is complete, there was no mentioning of India's struggle for independence.[78] When a German visitor wanted to know Ānandamayī Ma's opinion of Mahatma Gandhi, the interpreter told her that Ānandamayī Ma did not discuss political matters. She evidently caught the gist of the visitor's question and replied that Gandhi was doing the will of God.[79] When the Mahatma was assassinated, she likened it to the crucifixion of Christ.[80] At no time did she directly remark upon Partition and the loss of her homeland, East Bengal, to Pakistan. But Bhaiji in his *Matṛdarśana* mentions that once, in the 1930's, Anandamayi Ma expressed her dismay at the communal strife that was then convulsing Calcutta.[81] On another occasion, when questioned about the causes of the insecurity, distress, and tensions existing in this present age, she stated that she considered these phenomena the inevitable birthpangs of a coming social order "which He is planning."[82] She did not go beyond this vague hint, however.

If Anandamayi Ma envisions a new social order, she obviously does not consider it her function to hasten its coming by direct action. For, while welcoming people of all castes, races, and religions, she permits the observance of strict caste regulations in her ashrams. Even those westerners who have taken monastic vows, eat and sleep apart from the other ashram inmates. There is no doubt that Anandamayi Ma is beyond caste prejudice. In her personal dealings she conforms to her statement: "To this body everyone and everything is equal."[83] German novelist Melita Maschmann, who stayed with Anandamayi Ma in 1963 and 1964, questioned her about the seeming incompatibility between her teachings and the practices in her ashrams. Anandamayi Ma thereupon explained to Miss Maschmann that most people lived on a level of consciousness where traditional observances were essential to them. Were she to ignore their feelings, she would drive them away and would then have less of an opportunity to elevate them. She made it clear that she did not believe in forcing people to change their erroneous views. Such mistaken attitudes will fall naturally off at the proper time, as a result of the evolution of consciousness.[84] And she often affirms : "As you know, this body does not as a rule interfere with one's natural ways : whatever is meant to come about just happens spontaneously."[85] That does not mean that she is blind to the existence of social, economic, and political injustices. However, Anandamayi Ma, as many a mystic, regards the solution for all problems as an inner reform : the overcoming of selfishness by self-realization. Above all, she wants to reform by her example.

---

[78] S.S.M..A VII, 135-42 ; IX, 89-92.

[79] N. Chowdhuri, "The Unforgettable 'Holi' Day," *Ananda Varta*, English sec., V, No. 2 (August, 1957), 129-30.

[80] S.S.M.A., IX, 182.

[81] Bhaiji, *op. cit.*, 154.

[82] *Mother as Seen by Her Devotees* pp. 105-06

[83] "Matṛvāṇī," *Ananda Varta*, Bengali sec., v, No. 4 (February, 1958), 281,

In summing up, it can be said that Anandamayi Ma's defense of India's traditional value system and her advocacy of an inner spiritual reform cannot possibly appeal to those who see India's salvation in a rapid secularization and appropriation of modern western values. As an open challenge to modern man's concentration on problems such as nuclear warfare, industrialization of underdeveloped regions, the population explosion, and race and ideological conflicts, she wishes to direct man to a different level of reality, urging him to make the quest for God his sole goal : "Every breath with which we do not remember God is wasted. Birth in a human body is a rare boon. If you had been born as animals or birds, what significance would your lives have ? Human beings alone have been endowed with the capacity to find God."[86] It may even be that her very otherwordliness is her greatest attraction for those who feel that "the world is too much with us." A "hard-headed realist" might ask to what extent Anandamayi Ma has made an actual contribution to the advancement of human welfare. Melita Maschmann, in a way, addressed herself to this question. During her stay in Calcutta she met a Catholic missionary who had dedicated her life to the founding of orphanages, medical centres, homes for the aged—in other words, had been engaged in social-welfare work. Miss Maschmann was deeply impressed by the activity of the Catholic missionary. She mentioned to one of Anandamayi Ma's disciples that it seemed to her that, in contradistinction to Anandamayi Ma, this Western missionary was truly living up to the commandment that one should love one's neighbour as oneself. The immediate reply of the disciple was that service to mankind was precisely what Anandamayi Ma was doing all the time.[87] Obviously there are different views of what constitutes service to humanity. It may not be inappropriate to end this brief account of Anandamayi Ma's life and teachings with a modified quotation of Franklin Edgerton's concluding summary of the Bhagavad Gita : "And speaking pragmatically, Anandamayi Ma's point of view is justified by the fact that many millions of men have found religious comfort in it, and expected salvation through it. Who can say that they were disappointed ? And if it should be granted that they were not, would not that have proved the usefulness of her teaching and so their pragmatic 'truth' ?"[88]

---

[84] Maschmann, *op. cit* , pp 110-11.

[85] "Mataji's Amara Vani," III, No. 3 (cited in n. 14 above) 209.

[86] Melita Maschmann, "From the Diary of a European." *Ananda Varta,* English sec., XIII. No.2 (August, 1965), 52-53.

[87] Maschmann, *Der Tiger singt Kirtana* pp. 142-47.

---

[88] *The Bhagavad Gita*, trans. and interpr. Franklin Edgerton (New York : Harper & Row, 1964), p. 194.

* * *

"On the journey through life in this world, nobody ever remains happy. The pilgrimage to the Goal of human life is the only path to supreme happiness. Try to tread that path which is your very own, where there is no question of pleasure and pain—the path that leads to freedom from egotism and to the highest Bliss."

—Mata Anandamayi

THE JEWISH CHASIDIM

Chaim Goldstein

It is perhaps the coldest day of winter in the Polish village of Berditchev this year, 1775. But in the tumble-down shack of the poor Jewish quarter where ten shaggy figures are eerily illumined by the light of a single flickering candle and the glowing coals of a dying fire, all seems to be warmth and joy. They sway back and forth in their seats around the rough wooden table, their faces aglow with love and appreciation for one of their number who chants in Yiddish to a haunting East-European tune.

Where I wander—You !
Where I ponder—You !
Only You, You again, Always You !
You ! You ! You !
When I am gladdened—You !
When I am saddened—You !
Only You, You again, always You !
You ! You ! You !
Sky is You ! Earth is You !
You above : You below !
In every trend, at every end,
Only You, You again, always You !
You ! You ! You !

The one who sings is Rabbi[1] Levi Yitzhak of Berditchev, known as their *Tsadik* (Righteous One) ; they are known as his *Chasidim* (Pious Ones). They are all members of that religious movement of mystical devotion known as *Chasidism* which gathered so many of the poor and wretched Jews of Eighteenth Century Poland into its warm, life-giving embrace.

Rabbi Levi Yitzhak has been known to work wonderful miracles, and is said to possess many strange powers ; greater than any of these, however, is the very fact of his presence and the presence of others like him among these poor Jews of Eastern Europe in the mid-Eighteenth Century.

To understand the phenomenon we should perhaps go back 100 years to the eve of one of the blackest episodes in Jewish history—the appearance of Shabbatai Zvi, who proclaimed himself to be the "annointed one of God," the Messiah. Judaism had of course produced, even from Bible times, various self-proclaimed and self-styled "messiahs." Soon after the destruction of the Second Jewish Commonwealth, there was the warrior Bar Cochba whose dashing military exploits against the Romans in Judea led thousands, including the great scholar Rabbi Akiba, to believe that *he* was the long awaited Deliverer. In subsequent periods of Jewish history, whenever the yoke of oppression, moral disease, and poverty weighed heavily upon the Jews, the appearance of some "messiah" or other became almost predictable.

---

[1] *Rabbi* is a Hebrew term (which means 'my master') applied to one who combines the offices of *pūjāri* and *śāstri*. To the Chasidim it also has the sense of *Guru*.

Yet for some reason Shabbatai Zvi was different. His popularity in the poor and crowded ghettos of Eastern Europe seemed to grow and grow. Others like Shabbatai Zvi had drawn followings of few or perhaps even many; but he was attracting the masses. After all, Poland was well on its way out of the Dark Ages. But the ghettos of Poland at the same period suffered from all the ignorance, disease, and superstition that had been prevalent during the most depressed periods in Medieval Eastern Europe.

Shabbatai Zvi offered the Jews a glorious way out of their miseries: their Messiah astride a prancing white horse would lead them triumphantly out of the ghettos to the treasure laden ships which would carry them to the Promised Land of Israel. Never before had the Jews of Europe put so much trust and hope in promises like these. Their world was so full of death and gloom, however, that Shabbatai Zvi's outrageous claims were embraced with jubilant dancing in the streets and joyful preparation for the exodus. Then one day the "Great One" simply disappeared; some months later verifiable reports came to substantiate a dreadful rumor—Shabbatai Zvi had fled to Constantinople where he had accepted the faith of Islam. Some of his followers even then remained faithful, creating for themselves fantastic reasons and exeuses for their leader's actions. For the majority of Shabbatai Zvi's devotees, however, there was only depression.

Where at this time were the Rabbis, the spiritual leaders to whom the people might turn for answers, for relief from their growing confusion and hopelessness? The reply to this question lies in the fact that in the rarefied atmosphere of the great Jewish seminaries and universities sat scholars of great erudition, not saints of great spiritual attainment. These scholars would spend almost every minute, day and night, in painfully picking apart hair-splitting enigmas and writing commentaries on works which were themselves commentaries of great commentaries. To these men, the highest goal a Jew could achieve was continuous study and mastery of the mammoth expanses of Rabbinic literature.

Of course, the impoverished, semi-literate Jewish masses had little or no hope of attaining to the "spiritual" heights of the learned elite. Thus their religion left them no basis for self-esteem or respect. If great piety was synonymous with great learning, what hope was there for the common man?

Yet in the wake of one charlatan, and catering to the people's disillusionment and suicidal depression, there lurked even greater evils and worse deceptions. One of these was Jacob Frank who led thousands into very negative and sprititually dangerous rites. It seemed that the Jews of Eastern Europe, freakishly kept alive for centuries in various contexts of misery and persecution, were finally about to destroy themselves from within.

It was precisely at this awful juncture that the first of the great Chasidic saints and the founder of the mystical revival made his appearance. His name was Israel ben Eliezer, later referred to by all Jews as the *Baal Shem Tov*—the Master of the Good Name.

Israel was born at the beginning of the eighteenth century to a poor family in the town of Okop in Podolia, on the old Polish-Turkish border. His formal education did not go much beyond the more basic Jewish Scriptures and writings. In his youth, Israel's spiritual light was hidden from all but small children who loved him greatly and would follow him, against their parents' warnings, into the fields where they would dance and sing to lively tunes set to passages of David's Psalms.[2] People thought him crazy and foolish. Later, as a young man employed as a caretaker in a village study-house, Israel gave an impression of laziness because of his occasional daytime sleeping. In reality, his nights were devoted entirely to meditation and spiritual disciplines and his daytime naps were actually the only rest he ever got. Not until he was thirty-six years old did Israel begin ministering to the great spiritual needs of his people The following story is told of how the Baal Shem Tov first revealed himself. (I quote from *Tales of the Hasidim* by Martin Buber.)

Israel ben Eliezer had held successively the posts of school assistant, servant in the House of Study, teacher of children, and for a time he acted as driver for his brother-in-law. Finally this man rented a piece of land for him in a village on the Prut river. On the land was an inn which also had room for guests. A short distance away, across the ford, a cave had been hewn into the side of a mountain. There the Baal Shem spent the week sunk in meditation. Whenever a guest came to the inn,

---

[2] The Psalms constitute a book of poems and hymns in praise of God, a part of the Jewish Scriptures.

Israel's wife went to the door and called over to him, and he always responded, and immediately came to wait on the guest. On the Sabbath (which for Jews begins at sundown Friday and ends at sundown Saturday) he stayed at home and wore the white Sabbath robe.

One day—it was on a Tuesday—a disciple of Rabbi Gershon's the Baal Seem's brother-in-law, was on the way to his teacher who lived in the town of Brody. He passed through the village on the Prut, stopped, and went into the inn. Then the woman called to her husband and the Baal Shem came and served the guest his meal. When he had finished eating, he said : Israel, harness the horses ; I have to go on."

The Baal Shem harnessed the horses, reported that the carriage was ready, and added : "But how about staying here over the Sabbath?" The guest smiled at this foolish suggestion. But hardly had he driven half a mile, when a wheel broke.

He found that it would be some time before it could be fixed, so he had to go back and spend the night at the inn. The next day, and the next after that, and even on Friday morning, one obstacle after another presented itself, and finally he had no choice but to stay for the Sabbath.

That very night, the last before the day the Baal Shem would complete the thirty-sixth year of his life, Heaven sent him a message that the time for concealment was over.

In the middle of the night, the guest woke up, and from his bed in the main room of the inn, saw a great fire burning in the hearth. He ran there because he thought the logs had caught fire. But then he saw that what he had taken for fire, was a great light. A great white light shone out from the hearth and filled the house.

When rabbi Gershon's disciple reached Brody, he told what had happened to him and added : "A great light dwells close to you. It would be no more than right for you to go and bring it into the city." They went and met the Baal Shem at the edge of the woods which skirts the village. They wove a seat of green withes for him, set him upon it, on their shoulders, and he spoke words of teaching to them.

Thus in the year 1736 Israel ben Eliezer's nature was revealed for the first time and so began his active mission to the Jews of Poland and Eastern Europe.

In the coming years Rabbi Israel raised many great disciples who in turn along with their disciples taught and preached throughout Eastern Europe. They preached to the common man of hope and joy saying that one need not develop mammoth Intellectual capacities to please God, but must only devote all his actions and thoughts, no matter how lowly, to the

Holy one. They taught the poor Jews to dance and rejoice before God and to pray with devotion and fervor for experience of the Divine Presence. The Chasidic Rabbis wrote almost no books, but their words and deeds were preserved and conveyed by their followers and were eventually collected and written down by a subsequent generation of devotees. Here are a few characteristic stories about some of the great Chasidic masters. Once again I quote from Buber's *Tales of the Hasidim.*

I

The Baal Shem said :

"I let sinners come close to me, if they are not proud, I keep the scholars and the sinless away from me if they are proud. For the sinner who knows that he is a sinner, and therefore considers himself base—God is with him, for He 'dwelleth with them in the midst of their uncleannesses.' But concerning him who prides himself on the fact that he is unburdened by sin, God says : There is not enough room in the world for Myself and him."

II

Rabbi Barukh of Mezbiz, grandson Yehiel was once playing hide-and-seek with another boy. He hid himself well and waited for his playmate to find him. When he had waited for a long time, he came out of his hiding-place. but the other was nowhere to be seen. Now Yehiel realized that he had not looked for him from the very beginning. This made him cry, and crying he ran to his grandfather and complained of his faithless friend. Then tears brimmed in Rabbi Barukh's eyes and he said : "God says the same thing : 'I hide, but no one wants to seek me."

III

Concerning the verse in the Scriptures : "But from thence ye will seek the Lord thy God, and thou shalt find him," the maggid of Mezritch said : "You must cry to God and call him father until he becomes your father."

IV

Rabbi Abraham said :

"We say in our prayers : 'Every stature shall bow before Thee.' When man reaches the highest rung, when he reaches his full stature, only then does he become truly humble in his own eyes, and knows what it is : to bow before Thee."

V

Rabbi Rafael of Bershad said : "They say that the proud are reborn as bees. For, in his heart, the proud man says ; 'I am a singer, I am a writer, I am a great one at studying.' And since what is said of such men is true : that they will not turn to God, not even on the threshold of hell, they are reborn after they die. They are born again as bees which hum and buzz : "I am, I am, I am."

VI

Concerning the verse in the Scriptures : "I stood between the Lord and you," Rabbi Mikhal of Zlotchov said : "The 'I' stands between God and us. When a man says 'I' and encroaches upon the word of his Maker, he puts a wall between himself and God. But he who offers his 'I'—there is nothing between him and his Maker. It is to him that the words refer : 'I am my beloved's and his desire is toward me.' When my 'I' has become my beloved's, then it is toward me that his desire turns."

VII

Walking in the street, the rabbi of Berditchev once went up to a man who held an important office and was evil-minded as he was powerful, took hold of the hem of his coat, and said : "Sir, I envy you : When you turn to God, each of your flaws will become a ray of light, and you will shine with a great light. Sir, I envy you your flood of radiance !"

VIII

Once Zalman of Ladi interrupted his prayers and said : "I do not want Your paradise ; I do not want Your coming world. I want You, and You only."

IX

Once, at the close of the Day of Atonement, when Rabbi Shelomo of Karlin was in a gay mood, he said he would tell everyone what he had asked of Heaven on these holy days, and what answer was intended for his request. To the first of his disciples who wanted to be told, he said : "What you asked of God was that He should give you your livelihood at the proper time and without travail, so that you might not be hindered in serving Him. And the answer was that what God really wants of you is not study or prayer, but the sighs of your heart, which is breaking because the travail of gaining a livelihood hinders you in the service of God "

X

Rabbi Shelomo asked : "What is the worst thing the Evil Urge can achieve ?" and he answered : "To make man forget that he is the son of a King."

———

SRI SRI MUKTANANDA GIRI MAHARAJ*

(Swami Bhagavatananda Giri)

Invocation :

Salutations to Sri Gurudeva-*Sri Dakshinamurti Sankara* himself-who beholds the world within like a reflection in a mirror and the world outside projected by *māyā* like the scenes in a dream, and thus visualizes the Self alone at the moment of awakening.

It is our great good fortune that we are celebrating today the 26th. *Sannyāsa* anniversary of Gurudeva Sri Sri Muktananda Giri Maharaj by the grace of revered Mataji and the venerable Giriji Maharaj in the holy city of Kashi. The sanctity of this holy city is enhanced by the flow of the Ganges in the northern direction. The spiritual sanctity of Kashi, considered to be the oldest city in the world, has been especially mentioned from the Vedic period onwards in the *Srutis, Smritis*, the *Puranas* and the *Itihāsa* tradition. The *Puranas* especially attach great importance and sanctity to Kashi, so much so that the *Skanda Purana* devotes one whole section to it. It is even believed that Kashi balanced on the trident of Lord Kashi Vishvanatha escapes destruction at the time of universal dissolution. Kashi is frequently referred to in all the *Upanishads* and the *Muktikopanishad* particularly states that one who dies anywhere in the holy precincts of Kashi is sure to obtain salvation. The Lord Kashi Vishvanatha himself utters the *Taraka Mantra* into the right ear of the departing *jiva*, thus absolving him from all sins and thereby leading him to Him.[2] It has been noticed that the right ear of all the persons who have breathed their last in Mataji's Ashrama turns upwards as if to receive the holy mantra.

The spiritual efficacy of Kashi is also evident from the fact that Sri Ramakrishna Paramahansa Deva, during his stay here, saw the divine form of Sri Kashi Vishvanatha Himself.

---

* (A discourse delivered by Sri Bhagvatananda Giri on 13th. April 1965 on the occasion of the 26th. Sannyasa anniversary of the Revered Gurudeva Sri Sri Muktananda Giri Maharaj.)

1. visvam darpaṇa-dṛiśymāna-nagarī-tulyam-nijāntargatam
pasyannātmani māyayā bahirivodbhutam yathā nidrayā.
yaḥ sākshat kurutu prabodh samaye svātmānamevādvayam
tasmai srī-guru-murtaye nama idam srī-dakshināmurtaye.

2. punarāvṛitti-rahitam muktim prāpnoti mānavaḥ
yatra kutrāpi vā Kāsyām marane sa mahesvarah. (20)
jantor-dakshina-karne tu mantāram samupādiset
nirdhutasesha-papaugho matsārupyam bhajatyayam. (21)

Kashi, also called Varanasi, is mentioned in the *Jabalopanishad*. In answer to sage Atri's query, Rishi Yajnavalkya stated that Varanasi was the "*avimukta kshetra*", because situated between 'Varuna' and 'Nasi. These are explained as the two forces that annihilate all sins.[1] In spiritual connotation Kashi or Varanasi is situated at the point above the nose and between the eyebrows at the *Ajnachakra*. It is stated :

"The juncture of the eyebrows and the nose is the point of '*sandhi*'. The knower of Brahman who concentrates on this point is "*avimukta.*'[2]

Kashi thus described as the '*avimukta kshetra*' is the spiritual centre of India. In days of yore sages and scholars who wished to have their philosophical or spiritual precepts accepted had to expound them first at Kashi. It was here that Adiguru Sri Sankaracharya wrote his well known commentary on the *Brahma Sutra*. Similarly the propounders of various sects like Sri Vallabhacharya, Sri Madhavacharya, Sri Chaitanya Mahaprabhu and others had to come to Kashi to propagate their teachings.

Kashi has been the chief centre of three religious faiths, namely Hinduism, Buddhism and Jainism. Beginning from Raja Harischandra, pious kings, saints and scholars, like Sri Madhusudana Saraswati, Tulasi Das and Kabir have belonged to Kashi. It is our great privilege that the 26th *sannyāsa* anniversary of Sri Muktananda Giri Maharaj is being celebrated in this holy city.

I shall now try to describe in brief the salient features of the life of Sri Giriji Maharaj.

Sri Giriji was born in the Sultanpur village of Tipperah District (now in East Pakistan) in the month of *Vaiśākha*, 1977. It is in this month that many great souls have assumed their bodily forms. All the three memorable events, the birth, the enlightenment and the *nirvāṇa* of Lord Buddha occurred on *Vaiśākha Pūrṇimā*. Lord Narasinha, Sri Paraśurama, Sri Adiguru Śankaracharya, Sri Ramanujacharya, Sri Śivaji and our gracious Mataji have all come to this earth in the holy month of *Vaiśākha*.

The exact date of the birth of Sri Giriji is not known. She was the eighth child of her parents, Sri Ramakanta Bhattacharya of Bharadvaja Gotra and Sri Harsundari Devi. Sri Ramakantaji belonged to a family which could trace scholars, pious and virtuous members for many generations. Himself was a scholar and a very pious man. He was a *kulaguru*

---

1. sarvān indriya-krita-doshān vārayatīti tena Varuṇā bhavati.
sarvān indriya-kritān pāpān-nāsayatīti tena Nāsī bhavatīti..

2. bhruvor-ghrānasya cha cah samdhih sa esha sandhir-bhavatīti
etad-vai sandoīm sandyām brahmavid upasata sosvimukta upāsya iti..

and had many disciples. His aunt had become a *Sati* and one of his brothers, Sri Dinakanta Bhattacharya had received the title of *Vidyāsāgara.*

Giriji was named Vidhumukhi Devi. She lost her father at the age of ten and her mother a year and a half later.

Childhood : From early childhood her disposition was extraordinarily calm, affectionate, sweet and courteous. She never had a quarrel or argument with anyone. She prefered peaceful solitude to playing with children of her own age. On being asked as to what she thought of God in her childhood, she stated that even then she believed that there was only one God. At that time she also felt that if she went in search of Him, far away, she would surely find him.

These qualities that were apparent in Sri Giriji at such an early age are referred to in the *Bhāgavata Purāṇas* (7-13), as the attributes of a *sannyāsī.* It is stated that a *sannyasī* should not argue with anyone and should be able to tolerate the censure of others.

Everyone apeared to her as her *apan jan,* her very own. From the very beginning she was indifferent to food. She would eat only if someone gave her food, otherwise she never asked for it. She was not tempted by any delicacies. On the other hand she derived great pleasure and satisfaction from serving food to others. This trait was observed in the great saint Oriya Baba as well. He took delight in serving food to his devotees and used to say that eating was the pleasure of the *jīva,* whereas feeding others was heavenly bliss.

Giriji never took anything that did not belong to her without asking for permission first. She had great faith in religious acts and started observing various kinds of fasts from the age of seven. For four years she regularly undertook the special fasts enjoined for the months of *Kartika, Agrahan, Magh* and *Phalguna.*

Education : – Sri Giriji started going to school at the age of seven. Her schooling was discontinued when she lost her mother. She enjoyed listening to readings from *Rāmayaṇa* and *Mahabharata ;* she still remembers many of the legends heard in those days. In spite of her meagre education Sri Giriji is an inspired poet. Innumerable devotional songs and verses have poured forth from her lips spontaneously. If recorded they would be of invaluable help to many devotees and *sādhakas.* The substance of one such inspired composition is given below. It was composed at Kashi on 20th, March 1965.

"The K*uṇḍalinī* dwells in a hidden spot in *Mūlādhāra.* It rushes towards *Maṇipura* after piercing through its place of repose by spiritual effort. If good fortune holds, it wishes to keep awake. It stays in seclusion in *Anāhata*. That subtle force listens to everything. Advancing to *Viśuddha Chakra* it consumes edibles bit by bit. *Kunḍalinī* united with all the nerves proceeds towards the *Sahasrāra Chakra*. *Ājnā Chakra* (absorbed in meditation) remains unaware. Piercing the *Brahmarandhra* it proceeds upwards. Taking along the lustre of the luminous it mounts to the sky. This *Kundalinī* force moves within all *jivas* though they are not conscious of it. O Mind ! seek it within yourself and discover it. You are misled all the time by 'me' and 'mine'. There is only God in this Universe. You are intoxicated by worldly enjoyment and have forgotten Him. O Mind ! take refuge in Him. Thus you will be freed from the cycle of birth and death and always be one with him. Oh what bliss ! You will always see Sri Hari Govinda. You will be united with the Eternal Self (*ātmā*). Self is the real friend of Self, (on realizing this) the cycle of birth and death will cease to operate."

Giriji belonged to a highly religious-minded and pious family, in which *Durga Puja* were regular annual features. No one really knows when *Durga Puja* in the family was first started. The family also possessed a *Sri Nārayana Vigraha*. Sri Giriji was herself keenly interested in all forms of worship, but she was particularly drawn towards *Narayana*. Of all the names of the Lord the name *Narayana* appealed to her most. At times she dreamt of various gods and felt as if she was being called. At bedtime she would pray to Lord Krishna 'O Guru ! I offer my humble obeisance at your lotus feet,' and then she would fall asleep.

Family life :—Sri Giriji was married to Sri Bipin Bihari Bhattacharya of Vidyakut (District Tipperah now in East Pakistan) when she was twelve years and four months old. Giriji and *Dada Mashai* were an ideal couple extremely pious, truthful and religious minded. They literally followed the advice imparted by Sri Krishna to Uddhava in the *Bhāgavata Purāna* (22-27-42) :—

"To be born as a *Brahmin* is a rare privilege indeed. It should not be frittered away by indulging in worldly enjoyments, but it should be utilised by leading an austere life and ultimately striving for salvation."[1]

Dada Mashai by his own inclination led a detached life. It is said that once he left home to lead a life of renunciation. He had reached a high state of spiritual evolution. He would take an *ektara*[2] and sing the praises of the Lord.

The family life of Sri Giriji conforms to the ideal laid down in the *Bhāgavata Purāṇa* (22-17-52), for the life of a householder :—

---

[1] brāhmanasya hi dehosyam kshudrakāmāya neshyate.
kricchrāya tapase cheha pretyānanta-sukhāya cha.

[2] Musical instrument with one string.

"In spite of the pressing needs of his large household, a householder should not be too devoted to his family ; nor should he be negligent of his religious duties. A householder who is not attached to his body or family cannot be entangled by family ties as he realizes that heavenly joys are as transient as those of this world."[1]

Keeping this in mind a householder should not get entangled in family affairs. He should live in a detached manner like a guest in the house. Family ties cannot ensnare one who has conquered his ego, that is the feeling of 'I' and 'mine'.[2]

This description of a completely detached life was fully reflected in the family life of Sri Giriji and *Dada Moshai*. Giriji used to discharge her family duties in a selfless manner without any involvement. She faced the joys and sorrows of life that came her way with great equanimity. Her financial condition in those days was far from satisfactory, but she bore all privations cheerfully and never thought of asking for help

Sri Gopalji once appeared to her and asked her for one pice worth of *batashas* (sugarpuffs) in *bhoga*. She confessed that as she did not have even a single pice, she would borrow the money and offer *bhoga*. Ever since then offering the *bhoga* of *batashas* has become a daily routine with her.

We find that all the ten attributes of *dharma* are inherent in Sri Giriji. They are as follows : forbearance, forgiveness, self-restraint, purity, control of the sense organs, pure understanding, knowledge, truth, absence of anger, non-stealing.[3] Let us first try to understand what *dharma* is. It is explained as :—

"That which sustains the people. According to the *Śāstras*, the activity relating to this sustenance is *dharma*."[4]

1. *Dhṛiti*—that is forbearance. To be happy and contented in whatever circumstances the Lord puts one. Not to be affected or upset by any misfortune. To be beyond joy and sorrow, pleasure and pain, peace and tribulations. Sri Giriji appeared to be forbearance incarnate in the midst of the trials and tribulations of family life.
2. *Kshamā*—forgiveness : Not to be moved by insult, abuse, censure or any wrong done to one. To remain calm and to forgive offenders.

---

[1] Kutumbeshu na sajjeta na pramādyet kutumbpapi. vipaschin-nasvarm pasyed-adrishtam api drishtavat.

[2] ittham partimrisan mukto griheshvatithivad vasan. na griheshvanubadhyeta nirmamo nirahamritah.

[3] dhritih kshamā damos steyam sauchamindriya—nigrahah.
dhīr-vidyā satyam akrodho dasakm dharma-lakshanam.

[4] dhāranād dharmamityāhuh dharmam dharayate drajñāh
yassyād dhārana samyuktan sa dharma iti nischayaḥ.

This is the attribute of the highest *dharma*. Hiranyakasyapa tortured Prahlāda and tried to take his life but the Lord preserved him and destroyed his father. The Lord then asked Prahlāda to ask for a boon. Prahlāda begged the Lord to forgive his father as he had acted through ignorance. Christ did something similar. When crucified he prayed for his prosecutors : "Father forgive them, for they know not what they do." *Chaitanya Mahāprabhu* also reformed the wicked Jagai and Madhai by his grace. It was his principle that "praises of Hari should always be sung by one who is more tolerant than a tree and who respects a disrespectful person,"[1]

Similarly it has been noticed that Sri Giriji cheerfully put up with any abuse, censure or insult that came her way.

3. *Dama* : self-restraint is the control of the six internal adversaries; namely desire, anger, avarice, attachment, pride and envy. This self-restraint came to Sri Giriji without any conscious effort on her part.
4. *Asteya*—non-stealing : It is the opposite of *steya*, which means to appropriate the material possessions of others and to deprive them of their rights and not merely stealing as is generally understood. *Asteya* is actually another form of Truth. The poor and starving man who steals to appease his hunger is not as great a culprit as any of the following :—
   (a) A tyrant who usurps the political, social, religious and economic rights of his subjects.
   (b) A greedy usurer who charges exhorbitant interest and manages to usurp the belonging of the poor.
   (c) A dishonest tradesman who makes money by adulteration.
   (d) Corrupt judges.
   (e) Avaricious lawyers.
   (f) Greedy doctors and *vaidyas*. Mental peace can be obtained by the observance of *asteya*. This quality also is inherent in Sri Giriji. Since her childhood she has never taken anything belongieg to others without their consent.
5. Purity—*Śaucha* : It is of two types—external purity and inner purity.
   (a) External purity : To keep oneself, one's belongings and surroundings clean by the use of water and earth. External purity also

---

[1] trinādapi sunischaiva tarorapi sahishnunā.
amānino mānadena kīrtanīyah sadā harih.

means keeping the body clean and healthy by regular, pure and nourishing diet.

(b) Inner purity : To avoid jealousy, pride and hatred ; and not to indulge in finding fault with others. To remove evil thoughts by inculcating good thoughts and to substitute evil behaviour by good deeds is purity of the mind. Mental purity is achieved by the removal of ignorance through enlightenment. Both external purity and inner purity are found in Giriji's life. Her life throughout has been completely pure and righteous. She has never been seen to dislike or envy others.

She is untouched by pride. The difference between a *Jīvātmā* and a *mahātmā* is that the former observes his own merits and the shortcomings of others, whereas the latter is incapable of seeing anyone's shortcomings and discovers only their virtues. Giriji is a *mahātmā* in the real sense. She manages to discover only virtues even in the vilest of persons approaching her, while others may see only their shortcomings. This quality is well illustrated by the following story :—

Once upon a time a *mahātmā* was walking along the bank of the Ganges with his devotee. On the way they came across the rotting carcass of a donkey. The companion unable to bear the stench drew the attention of the *mahātmā* to the rotting carcass. The *mahātmā* ignoring it, exclaimed —"Look what lovely white teeth the dead donkey has."

6. Control of senses :—It is frequently mentioned in the *Bhāgavata* that body, mind, intellect and the senses are bestowed to enable the *jīva* to realize God. This is amply illustrated in the life of Sri Giriji.

7. *Dhī* :—Pure intellect, an essential attribute of *dharma* brings about discrimination (*viveka*), renunciation, control, tranquillity, forbearance, peace, faith and the desire for salvation. The inherent pure intellect of Sri Giriji has automatically brought about spiritual knowledge and renunciation.

8. *Vidyā* :—The knowledge which enables man to attain salvation is *Brahma Vidyā*. There is a legend in the Upanishads that once Naradaji went to Sri Sanakaji and other sages and placed his problem before them, that though he had studied all the *Śāstras* he had failed to attain Self-realization. The sages replied :—

"The knowledge of Brahman is not acquired by merely reading the *Śāstras*. It is essential to listen, to meditate, to reflect and to follow the instructions of the Guru." That the knowledge of Brahman does not depend on the study of the *Śāstras* but is self-illuminating is illustrated by the lives of great sages and saints. Giriji though not educated in the worldly sense is fully versed in *Brahma Vidya*.

9. Truth :—The highest form of truth is its observance in thought, word and deed. Sri *Veda Vyāsa* in his commentary on *Yoga Darśana* (II, 30), explains truth as the capacity to be accurate in thought and word. Manu too lays down :

   "Speak the truth, but only that truth which is pleasing and not that which is unpleasant."[1]

   Without any voluntary effort this dictum has become a part of Sri Giriji's life. She cannot help uttering anything but truth.

10. *Akrodha* :—absence of anger : No one can obtain peace unless he is free from anger. The derivative meaning of *Krodha* is that which obstructs the path of eternal bliss.[1] The Gita also says : "From desire anger cometh forth, from anger proceedeth delusion, from delusion confused memory. Anger leads to destruction of reason and of discrimination."[2]

    Swami Vidyāraṇya has commented on *krodha* (anger) in '*Jīvan-mukti-viveka*'. According to him anger is of two types. Firstly anger which is directed towards another and secondly anger of others which is directed towards oneself. The remedy suggested by Yājñavalkya for the former is to direct one's anger towards 'anger' itself as it is the chief impediment in the attainment of the four purposes of life, namely *dharma*, *artha*, *kāma*, and *moksha*. If others are annoyed with oneself, one should never think that others are unnecessarily angry since one is not at fault. On the other hand one should realize that one's greatest fault lies in not attaining salvation from the cycle of birth and death. The sage Yājñavalkya addresses anger thus : "Hail to thee ! you torment and oppress him who takes refuge in thee. If one is the object of another's anger, one becomes conscious of one's own shortcomings and is thus led to detachment, So I bow to thee."[3]

---

[1] satyaṃ brūyāt priyaṃ brūyāt na brūyāt satyaṃapriyam.

[1] kaṃ-sukhaṃ rodhayati.

[2] kāmāt krodhos bhijāyate krodhād bhavati sammohah. sammohād buddhi-vibhramah.

[3] apakāriṇi kopaśchet kope kopaḥ kathaṃ na te.
dharmārtha-kāma-mokshānām prasahya paripanthini. Yājnavalkopanishad, 20.
(b) na mesparādhaḥ kimakāraṇe nriṇām madabhyasuetyaPi naiva cintayet.
na yat krito prāg-bhava-bandha.niḥsritis-tatos parādhah paramo na chintyatām.
(c) namos stu kopa-devāya svāśraya-jvāline bhriśam.
kopasya mama vairāgya-dāyine dosha-bodhine.

It is remarkable that whatever the provocation, Sri Giriji is never annoyed or irritated ; on the other hand she sometimes responds with a laugh.

Sri Giriji, who thus has all the ten attributes of *dharma* inherent in her, led the life of an ideal householder with *Dada mahasaya.*

1. Their first child, a beautiful little daughter was born to them in 1893. She was named Sarvamangala. She had a very short span of life, surviving for nine months only.

2. The coming of Sri Sri Ma Anandamayi : As in the days gone by, Devaki and Vasudeva were blessed with Lord Krishna and Devahuti and sage Kardama with Sri Kapilaji the Samkhya incarnation, as the fruit of their penances, similarly our Didima and Dada *Mahasaya* as a result of their penances in previous births, were graced by the all-compassionate Mataji—the mother of the universe and Brahman incarnate. Mataji has been perfection personified from the time she assumed this earthly form on the of 30th April, 1896. Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj writes in the introduction of 'Ma Anandamayi' by Sri Gurupriya Devi : "Ma is inscrutable. She transcends the range of thought. though all thoughts and ideas in infinite forms and in infinite ways live and move and have their being in her. It is difficult to grasp the infinite for those who breathe in the finite. One who desires to understand Mataji will have to become one with her through complete self-surrender. This self-surrender that is the extinction of the ego can only be attained by the grace of Mataji herself. 'Mother what are you in fact ?' was the question once put to Mataji by someone, to which she answered : "I am what you consider me to be."

   The coming of MA is a great blessing. Mataji is compassion as it were. Every glance, every sentence and every action is a showering of grace and benevolence. She is beyond time and space. Mataji is a unique blend of the one and the many, of the part and the whole. The dynamic and the static mode of *Brahman* have merged in Ma. Mataji is the quintessence of Truth. She is the greatest friend of all who aspire to Truth—may they belong to any country or creed.

3. Sri Kali Prasanna was born three years later. He lived to be seven and was conscious till the very last moment. Uttering the words—"Ma I am leaving", he breathed his last.

4. Almost three years later Sri Durga Prasanna was born. He died at the age of about four and a half.

5. Sri Hari Prasanna, the next child, lived for only one month and a half. Surprisingly all these three brothers passed away within six months.
6. Then followed Sri Surabala. She is reported to have stated that she had come from the same place as her elder sister (Sri Sri Ma Anandamayi). She departed from this earth when she was seventeen. It is said that Mataji had thrice repeated the injunction to go before Sri Surabala's death. At first she refused to go, but when Mataji said that she would have to go, Surabala acquiesced. When Mataji asked her where she was going, she replied : "I shall merge myself in your lotus feet." With these words she departed from this world. After her death Mataji said that Surabala had gone to the *Urdhva-loka* that is the *Devi-loka*. Mataji added "In one sphere this body put a barrier round her but she broke through the barrier and went higher to the *Urdhva-loka*."
7. Sri Hemangini Devi was the next child. She was married and has been survived by her children. Sri Giriji herself initiated her into *sannyāsa* before she passed away at Kashi after a serious illness.
8. Sri Jadunath Bhattacharya is Didima's last child. He is known as Makhan or 'Mamu'. Mamu has constructed a house near Sri Sri Ma Anandamayi Ashrama, Kashi, and has installed *Sri Vipineśvara Mahadeva* therein. Mamu lived as a householder but now he observes the rules of *Vānaprastha*. He devotes his services to the Ashrama.

Giriji first received her initiation and a *mantra* in a dream. She used this *mantra* for her *japa* for many years. Later on in 1905, Giriji and Dada *Mahasaya* received initiation and *mantra* from their family Guru Sri Kali Krishna Vidyavinoda—a resident of Krishnapura-Sonargaon. Sri Giriji always keeps with her the photographs of both her *kulaguru* and the *sannyāsa* Gurus.

(*To be continued*)

———

"In all matters without fail depend wholly upon God, to whom you should submit your heart's yearnings and petitions."

— *Mata Anandamayi*

THE UPANISHADS AND THE LIFE DIVINE

(Synthesis of Science and Religion)

II

"Divya Darshi"

In view of the incredible progress of natural science and social philosophy and psychology, it is a pertinent question even for highly educated men, whether the eternal religion of the Upanishads can stand the test of time. Yes, it is emphatically affirmed that the religion of the Upanisads has nothing to fear from the tide of advance of science and society. If material conditions improve, superstition and ignorance are removed and man becomes rational in thinking and behaviour and enjoys perfect freedom to apply his mind to the unravelling of the mystery of his ephemeral existence on earth. If a materialistic philosophy is not imposed on him in the most unscientific way in the name of scientific progress, and man develops a habit of enquiry, free from any preconceived idea of God, it can be boldly and with emphasis declared that people in general will veer round to the religion of the Upanishads. They will meet here a perfect understanding of the unlimited dimension of human personality. A new horizon of enlarged consciousness will open for man. It is a strange experience to meet people who boast of their scientific outlook, yet are found most dogmatic when they talk about religion. Even most enlightened views on religion, as arrived at by the Upanishads, perfectly consistent with reason and rational investigation, do not provoke their interest, as they are afraid that the acceptance of those ideas will rob them of their agelong pleasing fancies of their own religion.

In fact science and religion are two great disciplines, which, when combined harmoniously can bring about an all round development of human genius. They can heartily embrace each other and work for the good of humanity without detriment to the cause for which each stands. In the Upanishads one comes across bold questions and a perfectly rational attitude to religion. After a thorough investigation into the real nature of man, the sages of the Upanisads made a fundamental discovery : Man in his essential nature is divine ; behind the finite man is the *Atman*, ever free, ever pure and perfect. The body, the mind and the ego are mere externals of the real man who is immortal and divine. This discovery led to the further discovery that the same divinity is the ground of the world as well. This they termed the *Brahman,* the totality of the self and not-self.

In the Muṇḍaka Upaniṣad (1. 1. 3.), we find the following question put by an earnest student to the Divine teacher: *Kasmin no Bhagavo vijñāte sarvam idam vigñatām bhavati.*" "What is the reality, oh Blessed-one, by knowing which we can know all there is in the universe?" Is there such a unique reality by knowing which we can understand all the manifestations of nature, internal as well as external? Is there a unity behind this diversity, a one behind the many? To this question the teacher gives a very signifiicant reply—"*Dve vidye veditavye iti ha sma yad Brahma-vid vadanti parā caiva* aparā." "Two are the types of knowledge to be acquired by man, so say the knowers of the *Brahman*: one is called *parā-vidyā*, higher or supreme knowledge; the other is called *aparā vidyā*, lower knowledge." Both must be investigated. Of these the lower or ordinary knowledge cansists of the sacred vedas, phonetics, the code of rituals, grammar, epistemology, prosody and astronomy. In fact it includes all the sacred books, literature, art, history and science.

Here we have a scientific mind of the highest order, impersonal, objective and detached. There is no desire to put forth a pet opinion; Truth alone is the motive power, even if that Truth goes against one's cherished attachments and aversions. The teacher says that even the Vedas, the sacred books belong to the category of lower knowledge. Who would dare to say that his sacred books are not of the highest knowledge except he who is of a detached and scientific frame of mind and is in search of Truth and not dogmatic—he who has no truth to hide, no opinion to uphold, no prejudices to defend, who just wants to find Truth and is prepared to sacrifice everything into the bargain. Suffused with the spirit of Truth, they declared:

सत्यमेव जयते नानृतम
सत्येन पन्थाा विततो देवेयान : (Mundaka Upsanishad)

"Truth alone triumphs, not untruth. The path to the highest excellence is spread out through Truth only."

In reality the teachers of the Upanishads had the detachment and boldness, proceeding from the love of Truth, to say that even the Vedas, held in such veneration by themselves and by their people, were secondary. All the sacred books and all the positive sciences and arts are but lower knowledge, *aparā vidya*. What then is left to be included in the category of higher knowledge, *parā vidyā*? The teacher proceeds to indicate this elusive theme. There is a tremendous field of knowledge still left, he thinks, but it belongs to a different order. So he says,

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

"That is *parā* by which Imperishable is realized." Science and all the rest deal only with things that change, that are perishable.

Science gives us knowledge of structural form and not knowledge of the content ; though we feel in the words of Eddington : "All through the physical universe runs that unknown content. If the positive sciences cannot get at it, there must be another discipline, another line of inquiry which is able to give us that knowledge." Herein we might have an idea of the broad outline of the trend of the modern scientific thinker's thought. The relationship between science and religion was not at all happy for the last two centuries. In the twentieth century, however, a new approach can be noticed and the representative thinkers among scientists and religious people are beginning to discern a close interrelation between these two branches of human knowledge. Although modern scientific thought does not yet have a recognised place for any spiritual reality or principle, several scientists of the twentieth century have endeavoured to soften the materialism of physical science and to find a place for spiritual experience in the scientific world picture. Science admits today that it deals only with the appearances of things and not with the reality behind those appearances. Some of the greatest modern physicists tell us that what science has revealed of the world around us is only the outer aspect of things. Behind this observable universe there is another unobservable universe. This is a great confession of the limitation of science and its methods. We find scientists like the late Sir James writing books on the scientific view of the universe with such titles as, "The Mysterious Universe." In spite of all the knowledge that he has gained, the scientist feels that he has only scratched the surface of nature, that he is yet far away from the heart of the problem of the universe. He is compelled to write a book on "The New Background of Science". This new background is nothing but the spiritual mystery of the universe. If the mystery of the universe has eluded the scientist so much, the mystery of man has eluded him even more.

Sir Arthur Eddington, the famous mathematician and physicist, concludes his book, "Space, Time and Gravitation", with a pointed reference to the predicament : "We have found a strange footprint on the shores of the unknown. We have devised profound theories, one after another to account for its origin. At last we have succeeded in reconstructing the creature that made the footprint. And lo, it is own. Man as thinker, man as observer, man as the Self, has left his footprints on the shores of the unknown."

It is time that science tried to unravel this remarkable mystery of man. Man is primarily a subject, man cannot be reduced to objective dimensions. He is essentially the seer, the knower the observer, he is the *drk* or *sākśin* or *kśetrajña* in the language of the Upanishads.

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाय नपुंसकः ।
यद यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स वक्ष्यते ।

"Man is neither male nor female nor neuter, but holds the form in which it is enveloped."

वालाग्रशतभागस्य शतधा साल्पतस्य च । भागो जीवः
स विशेयः । स चानन्त्याय कल्पते । (Swetaswetara Upanishad.)

"Though like a hundredth part of a hair, the conscious being appears on the earth, still it goes on for eternity and has the possibility of unlimited extension."

It is also curious to note that in the lecture on "The Evolutionary Vision", delivered in 1959 to commemorate the century of the publication of Darwin's "Origin of Species," Sir Julian Huxley, the noted biologist, gave a spiritual orientation for the evolutionary process :

"The evolutionary vision shows us mind as enthroned above matter, quantity subordinate to quality...In the light of our present knowledge man's most comprehensive aim is seen not as mere survival .. but as greater fulfilment – the fuller realisation of more possibilities by the human species and more of its component members individually." ("Evolution after Darwin".) He even suggests that the two books by Darwin" The Origin of Species" and "The Descent of Man" should have been properly named : "The Evolution of Organism" and "The Ascent of Man".

Man is moving towards greater possibility of Divinity ; he is ascending. In reality the whole of modern scientific thought is in the throes of a silent spiritual revolution with the emergence of mind and conciousness and the consequent need to develop what James Jeans calls "a new background of science." But the problem is who can correct those thinkers who based their philosophy on Darwin's "Origin of species" and became the votaries of triumphant materialistic philosophy ? They obliterated religion from the scheme of life and proclaimed : "Religion is a sort of spiritual bonze, the true source of humbugging mankind" (Lenin : "Socialism and Religion.") Had they been acquainted with the religion of the Upanishads, the whole picture would have been different. Whatever they severely criticised as religion, was the religion as revealed in the west, which has no possibility of any synthesis with science. It is also very gratifying to note that in the Communist Manifesto Marx lamented over the loss of heavenly ecstasies of religious fervour which was destroyed by the bourgeoisy, when he said : "It has drowned the most heavenly ecstasies of religious fervour." Religion which he encountered in Europe was unscientific and dogmatic. Even men like Bertrand Russel who claimed to be an out and out materialist, betrayed his mind when he said : "A purely personal religion, so long as it is content to avoid assertions which science can disprove may survive undisturbed in the most scientific age —" ("Science and Religion")

These men had glimpsed a religion which might move in consonance with the march of time ; but they did not come across such a religion in their land of birth. Men like the great German poets Goethe and Rilke, the high-souled Tolstoy were abundantly misunderstood and branded heretics and non-believers, because they could not reconcile their intellect and judgement with any personal God, although they had the deepest reverence for Christ and they were ardent seekers of divinity. In this respect we are fortunate to be born in the land of the Upanishads which always inspire man to transcend the personal limits and say about God :

न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महत् यशः ।

"He has no image. He is great and His greatness can be glorified and man be overwhelmed with his glory."

The religion of the Upanishads will be the resort of all rational men of the world if they do not develop any prejudice against it, as it may not be the religion in which they were born. If people do not lose their self in the glory of technology and social philosophy and develop a true scientific mind of rational investigation even in the field of religion (which is expected of rational men), the religion of the Upanishads will be the religion of the whole of mankind embracing all religions ; it will broaden the outlook of man and allow him a glimpse of the true religion even in the background of the totality of human experience. It is also astounding to observe that in the cosmology of the physical universe, the Upanishads reveal many points of context. The fundamental position in the cosmology of both is what the Upanishads say in the words of Swami Vivekananda : "The postulate of a self-evolving cause—i. e. the universe is evolving from a great cause, Upanishads call it Brahman, which is a universal spiritual principle."

The Taittiriya Upanishad (111-1) defines the Brahman in a majestic utterance, which will be welcomed by every scientific thinker and find immense scope of imagination to understand the mystery of man and its spiritual significance.

Yatovā imāni bhutāni jāyante, yena jātāni jivanti ; yat prayantabhi samviśanti ; Tad vijigñasasva ; Tad Brahmáti.

"Wherefrom all these beings are born ; by which, being born, they abide; into which at the time of dissolution they enter—seek to know That; That is Brahman."

Evolution has revealed that the mystery of existence stirs in man as the mystery of the Self. The mystery of the universe will ever remain a mystery until the mystery of the Self is cleared. Till then all our conclusions about the Truth of the universe proceeding from science and philosophy, theology or logic will be speculative ventures yielding mere postulates and conjectures. The mystery of the universe is finally resolved through the discovery of the solution of the mystery within man himself. The sages of the Upanishads discovered the centre of the universe in the heart of man. *Tat twam asi.* "That thou art" proclaims the Chāndogya Upanishad. It is the consciousness of the Supreme Soul that will unravel the mystery of existence and of the universe. The Brhadāranyaka Upanishad says :

यः सर्वेषु भूतेपु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो
यं सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूता यन्तशे
गमयति एप तु आत्मा अन्तर्यामी अमृतः।

"That which exists in all beings and which is within everything ; which is the body of all beings, which regulates and constructs the inner being, is immortal bliss, the supreme soul."

Herein, in the vast embrace of Upanishadic religion, science can have its full extension and still be churned of the Infinite Bliss. Referring to this spiritual kinship between modern science and Upanishads (Vedanta), Swami Vivekananda said in the Parliament of Religions held in Chicago in 1893 (and how prophetic was his statement.) —"Manifestation and not creation is the word of science today and the Hindu is only glad that what he has been cherishing in his bosom for ages (in the Upanishads) is going to be taught in more forcible language and with further light from the latest conclusions of science." (Complete works, vol I, p. 15).

The religion of the Upanishads is the religion of man in quest of the mystery of the universe and the mystery of science. Herein science and religion will live in perfect harmony and peaceful embrace.

(To be continued)

———

MĀTRI LĪLĀ

(January—March 1970)

In the last issue of Ananda Vārtā we had been obliged to give the sad news of Sri Haribabaji Maharaj leaving his mortal body on the 3rd of January in our Varanasi Ashram. His departure from this world was as beautiful and inspiring as every phase of his extraordinary life of immaculate saintliness. Mataji was sitting by his side since the evening, while on the veranda outside his room the girls of our Ashram were singing in beautiful modulations kirtan of *"Sri Ram, jai Ram, jai jai Ram."* Shortly before the end, the picture of his *Iṣta devatā*, Sri Gouranga Mahaprabhu, was taken from the wall and put near him. During the last few minutes Mataji stood up watching the *mahatma* intently. At 1.40 a.m. he suddenly opened his eyes, looked at Mataji and breathed his last. There can be no doubt that it was a passing into immortality, into life eternal. He had been determined to be in Mataji's physical presence at the time of leaving the body and so it was. It may not be by mere coincidence that another well-known *mahatma*, Dandi Swami Sri Somashram passed away the same day at Hardwar and that the great, very aged Swami Sri Krishnashram of Gangotri took *mahasamadhi* the same week.

During a quarter of a century, Sri Haribabaji Maharaj played a very special role in Mataji's *lila*. A saint of the highest order, he was utterly childlike and simple and there was not a trace of self-consciousness about the fact that thousands of disciples looked upon him as God-incarnate. He was obviously one of the very few who understood Mataji's real nature. Before Sri Haribabaji's advent, Mataji had been quite unaccountable, she would not commit herself to any time, place or programme. For the sake of Haribabaji she began to attend *satsangs* at regular hours. He made it a point to take part in Mataji's birthday celebrations and would usually spend the rest of the summer up to *Gurupurnima* with Ma. One could then be sure that Mataji would not leave the place during that period. Later he also sometimes attended our yearly *Samyam Vrata* and Mataji would be present at Sri Haribabaji's birthday celebrations at Holi wherever they were held. About four years ago, in January 1966, he had fallen seriously ill and Mataji hurried to Hoshiarpur from Varanasi. When she left Sri Haribabaji ten days later, his health and spirits had visibly improved and he was well on the way to recovery. When during the last few months his heart trouble recurred, Mataji went to Delhi several times to see the ailing *mahatma*. Before proceeding to Naimisharanya on December 7th, she said to him, "Baba, wait for twenty-five days !" Exactly twenty-six days later he left this world on a Saturday. He had been born on a Saturday and his birthday this last Holi also fell on a Saturday. On January 6th his body was given *samadhi* at Bundh.

Mataji remained at Varanasi until January 15th. A number of dignitaries came to visit Ma during that period. One day a group of about 15 German scholars had her *darsana*. They asked questions and were delighted with her simple and straightforward replies. On January 8th the new Vice-Chancellor of the Benares Hindu University, Dr. K.L. Srimali, spent about an hour with Mataji. On the 13th, the Vice-President of India, Sri G. S. Pathak, with his wife and grandson, paid a visit to the Mata Anandamayi Hospital. After being shown round and expressing his satisfaction and appreciation of the arrangements and activities of the hospital, he and his family met Mataji and had lunch at the Ashram.

On January 14th, *Makara Sankranti*, the anniversary of the *Savitri Mahayajna* that had been performed at the Ashram from 1947-1950, was celebrated in great style and with great joy, since, after a lapse of several years, Mataji was present for the occasion.

The next evening Mataji, accompanied by a few *sadhus* of our Ashram, left for Bundh to grace with her presence the religious functions held in honour of Sri Haribabaji. Reaching Anupshar on the 16th morning, she was carried from there to Bundh in a palanquin, as the road of several miles is very bad. The festivities had started on January 12th and were in full swing. Swami Krishnanand Avadhutji was in charge of the whole programme. *Raslīlā* and *Ramlīlā* were enacted in Mataji's presence. In the night of the 18th, between 1-2 a.m. *Śiva* and *Viṣṇu Abhiseka* were performed over Sri Haribabaji's *samādhi* which had been beautifully decorated with flowers and banana stems by men from Vrindaban : Fifty-six items of food were offered in *bhoga* to Sri Haribabaji. Sixty-four of the early Goswamis of the *Vaiṣṇava Math* were also worshipped. A sumptuous feast was given to the villagers of the whole district who flocked in their thousands and thousands to pay homage to Sri Haribabaji. They all came and did obeisance to Mataji, imploring her blessing and guidance since their Guru had left this world.

One evening Mataji related some of her reminiscenses in connection with Sri Haribabaji Maharaj. How he met Mataji for the first time in 1944 at the Sahasradhara near Dehradun. Sri Prabhudatt Brahmachariji had arranged for this meeting. How a year or two later Mataji took Sri Ḥaribabaji to Ḍacca and to all the places in East Bengal where she had lived (this was before the partition). How she toured the whole of South India together with Haribabaji and Avadhutji in the winter of 1952-53.

On January 20th Mataji again returned to Varanasi. On her way, she got down at Allahabad station to see the son of a devotee who was down with polio ; Mataji again boarded the same train at the next station. Remaining in Varanasi until February 7th, she usually gave *darsana* at about 5.30 p. m., but round midday also small groups of devotees would collect outside her room.

On February 7th Mataji left for Allahabad, spending two nights at the Satyagopal Ashram, which she visits once every year. The first evening she was in an excellent mood, talking animatedly until midnight to an intimate group in her room. The next day she was in a strange *bhāva.* She just did not move. She had to be carried downstairs in a chair to attend the satsang. Everybody was non-plussed and wondering what would happen to the *Saraswati pūja* that was to be celebrated on February 10th. Fortunately, on the 9th morning when moving to the residence of Sri G.S. Pathak, the Vice-President of India, where the *pūja* was held, Mataji walked and during the day became her normal self again.

Sri G. S. Pathak had come from New Delhi for three days for the occasion and on arrival had at once gone to see Mataji at the Satyagopal Ashram. His daughters had taken immense trouble over the preparations for Mataji's visit and the celebration of *Saraswati pūja.* At the house of Sri G S. Pathak there is a permanent room for Mataji with a separate entrance from the garden where she has stayed already on previous occasions. On the lawn a charming hut had been constructed for the *pūja,* into which a fine clay image of the goddess of art, learning and *Brahmavidya* (Supreme Knowledge) had been placed. A pandal served as a hall for the congregation and for *satsang.* Since *Vasant Panchami* is the birthday of Saraswati, a beautiful painting of the *Avataras* singing the praises of the goddess had been specially prepared by an artist and like a fresco covered part of the back wall of the hut, which was decorated with great skill and excellent taste. On the 10th morning the puja was celebrated with solemnity and deep feeling. Swamis Sri Sarananandaji of Vrindaban and Sri Krishnanandaji of Bombay were present and each of them delivered a talk. There was also a musical treat in the form of so-called *'Pala kirtana'* performed by the famous Bengali artist, Sri Ganesh babu.

108 articles of food were offered in *bhoga* to Saraswati and about 350 people, including a large number of security staff, partook of the *prasada.* Mataji was in a wonderful mood throughout.

On February 11th after lunch she motored to Vindhyachal where she could indulge in two days of comparative solitude and rest until February

13th when she returned to Varanasi. For three days she remained on the 2nd floor of the Kanyapith, occupying her tiny room with the large roof in front of it. People were allowed to go upstairs only if called and Mataji used this retreat to organize every conceivable detail in preparation of the *Bhagavata Parayana* that was held from February 21st to March 7th. For those three days Mataji gave *darśana* twice daily strolling up and down the roof for a little, while people were gazing up to her from the courtyard downstairs and from the Annapurna veranda. On February 16th Mataji descended and henceforth took up her abode in her tiny room on the first floor above the office. She would now give *darśana* on the veranda in front of Annapurna temple or in the hall of Ananda Jyoti Mandir. One evening the blind Swami Gangeshwaranandaji Maharaj delivered a short talk in the hall in Mataji's presence. Guests had began to arrive from far and near to listen to the exposition of the Srimad Bhagavata by Sri 1008 Swami Akhandanandaji Maharaj of Vrindaban. On the 20th late at night all preparations for the functions were completed.

The Sanskrit chanting of the *Srimad Bhagavata* took place every early morning in the sanctuary of Gopal Mandir, with Sri Agnishwatta Shastri (Batuda) officiating. At dawn on February 21st, Mataji and Swami Akhandanandaji were present at the inauguration of the Sanskrit reading, which was performed to the accompaniment of exquisite kirtan sung by the pupils of the *Kanyapith*. The *Srimad Bhagavata*, wrapped in silk and brocade and placed on an *āsana* of sandalwood, was then taken to the pandal in solemn procession. It is believed by the *Vaiṣṇavas* that Sri Krishna Himself entered the *Bhagavata* on leaving His body. This scripture is therefore worshipped as Sri Krishna Himself.

A spacious, very beautiful and solid pandal had been erected in the hospital grounds to serve as a *satsang* hall for Swami Akhandanandaji's talks. Walls and ceiling were covered completely with folded orange and white cloth. At the main entrance were placed two life-like clay models of *brahmacharis*, dressed in the ochre robe, inviting the audience, while high up on top of the gate Rishi Vyasa sat enthroned to bless everyone who entered. Inside the pandal there were two large platforms at right angles to one another. In the centre of one of them was a carefully decorated wooden couch with a desk for the *Bhagavata* and a cushioned seat for Swami Akhandanandaji. Mataji and Didima as well as several Mahatmas had their seats by the side of the lecturer. In the centre of the other platform, lovely sculptures of Sri Krishna and Sri Radha surrounded by coloured lights feasted the eyes. The rest of the platform was daily occupied to capacity by a large assembly of *sādhus* and *sannyāsis* who attended with great regularity. The whole function was a unique event. Last winter a similar function had been held for fifteen days at Naimisharanya which is still very fresh in the memory of all who had been present. But this occasion was of a greatly enhanced magnitude. Perhaps this is possible only in Kashi. Swami Akhandanandaji truly surpassed himself. Every day for five hours, namely from 8-30 to 11 a. m. and from 3-30 to 6 p. m. he sat in one posture giving a most brilliant exposition in lucid Hindi of every single chapter of the *Bhāgavata* explaining its symbolism and clearing up many doubts. The enormous congregation listened spell-bound day after day. Swami Akhandanandaji is not only a renowned exponent of the *Bhāgavata* and very learned, he also has a keen sense of humour and is a master of the art of mixing a funny story or an amusing allusion into very serious and profound teaching just at the right moment to provide relaxation and to keep the interest of his listeners alive.

Mataji was present in the pandal throughout the whole function and often Didima as well. On the first morning she saw Haribabaji in a subtle body sitting next to Swami Akhandanandaji. Sri Haribabaji had in fact planned to take part in this function. Swami Akhandanandaji thus felt that Haribabaji was sitting by his side day after day, which gave him additional impetus and inspiration. A sense of universal love and harmony pervaded the atmosphere. On the day when Sri Krishna's birth was described, there was special *bhoga* in Gopal Mandir and sweets and fruits were distributed to the enormous crowds who attended the talks. Mataji herself had arranged every detail of it and saw to everything in person.

On March 6th, *Sivarātri* was celebrated by four *pūjās* during the different phases of the night with kirtan in betwecn. Those who take active part in the *pūjā* have to fast without water for the whole preceding day. In spite of this fact, a record number of 215 people did *pūja*. They sat in circles round *Sivalinga* in different places of the Ashram, namely in the hall, on its gallery, on the large closed veranda outside of Mataji's room upstairs in Ananda Jyoti Mandir and on the veranda outside Annapurna Mandir. Amongst the participants were even devotees from Madras and Cochin. Mataji was present most of the night, moving from one place to the other at intervals. After midnight she sang with great inspiration, playing the cymbals all the while. Early morning she distributed *prasada* to all.

A few hours later everyone again gathered in the pandal for the last day of the function, while *havana* (fire sacrifice) was performed in the courtyard in front of the Kanyapith to mark the successful completion of an unforgettable religious festival.

* * * *

Guests were leaving gradually. Mataji was kept busy from early morning until late at night granting farewell *darśana* in her room to every single person before they left for their respective homes. In between she would come outside, either to Annapurna veranda or the hall to meet groups of people who kept on collecting, anxious for a glimpse of Mataji. One morning two Jain *śādhus* attended the *satsang* and Mataji had the *kheyāla* to disclose for the first time some interesting details of the Jain *sādhanā* she had practised amongst innumerable other *sādhanās* at the time of her *līlā* of *sādhanā* at Bajitpur from 1918-1924. Swami Akhandanandaji remained in Varanasi for three more days and on the 10th of March there was a charming farewell gathering for him in our hall in Mataji's presence for the best part of two hours.

A number of foreigners came to see Mataji at Varanasi. Mr. Robert Bosch from Germany with his wife and mother-in-law, devotees of several year's standing, had spent a delightful afternoon with Mataji at Vindhyachal and stayed in Varanasi for the first week of the *Bhāgavata.* Several newcomers had private talks with Mataji, amongst them an American journalist and a few French people. Two European Buddhist nuns also came from Sarnath.

On March 11th, Mataji with only three or four companions left by the night train for Lucknow, from where they were taken by car to Kanpur by Sir Padampat Singhania. Mataji remained for a few hours at his residence where *Maharudra Yajña* was being performed for a week. The whole family had requested Mataji to bless the function by her presence. Before proceeding to Naimisharanya the same afternoon, Mataji also visited the Ashram that the Singhanias had recently built for her use.*

After this followed three quiet days at Naimisharanya. Mataji stayed in her new room on the first floor and nobody was allowed to go upstairs unless called. On the 15th, Didima, Didi and a party of about fifteen persons arrived from Varanasi. Even at this secluded spot a French couple managed to find Mataji and the Indian Ambassador in Holland, Sri Dhamija and his wife paid a visit to Mataji there. One day Swami Naradanandaji came and gave a talk.

Holi was to be celebrated at Naimisharanya from March 21st to 23rd. All preparations had been completed, when all on a sudden on the 19th, one of Sri Haribabaji's disciples, sent by Swami Akhandanandaji, came to invite Mataji to Vrindaban for the celebrations of Sri Haribabaji's birthday. Mataji immediately cancelled all arrangements and proceeded to Vrindaban the next day. Trunk calls had to be put through to various places from where devotees were on the point of starting for Naimisharanya to spend Holi with Mataji. They all went to Vrindaban instead.

---

* **See Ananda Varta, January 1970, p. 42.**

On her way to Vrindaban Mataji spent a few restful hours at the residence of Sri Rameshwar Sahai at Lucknow on the 20th evening, reaching Vrindaban the next morning. The same evening there was a function in our Ashram to commemorate Sri Haribabaji's birthday. Mataji supervised decorations and arrangements. A large photo of the *mahātmā* was placed on a decorated armchair and *Pujā* and *Ārati* were performed. Sri Swamis Akhandanandaji, Sharananandaji, Sri Ramdas baba, Sri Chakrapaniji and Pd. Kapindraji spoke very beautifully on the extraordinary life and character of Sri Haribabaji. The next morning Mataji was present at the *Mahaprabhu Lila* enacted in the hall of Sri Uriababa Ashram. Everyone was moved to tears. As in previous years on similar occasions Mataji presented clothes to the actors and also to all sadhus and brahmacharis of Sri Haribabaji. That day about 500 *Vaishnavas* were given a feast in Sri Uriababa Ashram in honour of Sri Haribabaji Maharaj. For the first time *Vaisnava* feeding on such a large scale was undertaken by Sri Haribabaji's disciples.

On March 25th, Mataji again left for Varanasi, mainly to see Mm. Pd. Gopinath Kaviraj, who has been convalescing in our Ashram after the recent operation. We are happy to say that the great savant is gradually improving in health.

On March 29th Mataji motored to Vindyachal, returning to Varanasi after three nights. On April 4th, she boarded the train to Hardwar, alighting at Baghat House, Kharkhari the next morning. Didima and Didi with a few others who had gone to Kishenpur from Vrindaban joined Mataji at Hardwar the same evening. Mataji moved to our Ashram at Kankhal on the 8th. A newly built shrine for Siva was consecrated there on the 13th and Didima's *Sannyāsa Utsava* was solemnly celebrated the next day. Mataji left for Dehradun on the 15th by car.

On the 24th she is to grace with her presence the consecration of a new temple of Sri Luxmi Narayana at Patiala at the invitation of Rai Bahadur G.M. Modi. Mataji's 74th birth anniversary falls on 3rd May, but the main celebration will be held this year in our Ashram in Poona from 18th to 25th.

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	2.50
Sad Vāni „	1.00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I to XV	40.50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	3.00
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Sankirtan, Stav, Arati	0.50
Amar Vani	6.00

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1.50
Mātri Vāni	0.75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi :— Vol. I–XIII	33.50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1.50
Akhanda Mahāyajña „ „	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Suno Bali Maer Kotha—Sailesh Brahmachari	1.25
Mātri Lila Sankirtan	0.30
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Namavali „	0.50
Amar Vani	10.00

Gujrati

Matri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Sri Ma Anandamayi—Na—Sannnidhyama Vol. I—Containing Bhaiji's "Sad-Vani" and "Sri Ma Anandamayi Lila Katha" by Swami Bhagavatananda Giri	In Press
Sri Ma Anandamayi-Na-Sannidhyama—Vol. II —Swami Bhagavatananda Giri	2.00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2.00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1.50, Special edition 2.50
Words of Sri Anandamayee Ma	5.00
Mother as seen by Her Devotees	5·50, „ „ 6.50

Photos etc.

Photos—various sizes	0.50 to 15.00
Lockets	1.50
Album	2.50

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

ānanda
VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XVII July, 1970 No. 3

In Press :

From the Life of Sri Anandamayee Ma

Vol.—I

By

Km. Bithika Mukerji, M.A., D. Phil

—Deptt. of Philosophy, B.H.U.

Special Features :

- ★ Scholarly Foreword from the pen of Sri B. Sanjiva Rao.
- ★ Biographical details of Mataji containing many untold stories of her early life beginning from childhood to June, 1932, when Mataji finally left Dacca (East Pakistan) in the company of Sri Bholanath and Bhaiji.
- ★ The principal Chapters are : Childhood, With Ramani Mohan's family, Lila of Sadhana, Life at Shahbagh, Gathering of Devotees, Atmosphere of the miraculous, Beginning of ceaseless wanderings, Developing pattern of future life, Farewell to Dacca.

* *Neatly bound—Contains a number of excellent pictures* *

Page : 206

Price : Rs. 12,-

Publishers :

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
BHADAINI, VARANASI-1

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayee and with other religio-philosophical topics

LIBRARY
No.........*
Shree Shree Anandamayee Ashram
BANARAS

BOARD OF EDITORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt
Padma Vibhushan

Brahmachari Nirmalananda, M.A., Shastri.

Kumari Lalita Pathak, M. A.

Brahmacharini Atmananda.

Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

*

* *ANNUAL SUBSCRIPTION* *

India—(Postage free) Rs 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 10/50 or 15 shillings or $ 2·00
" (By Airmail)—Rs. 25/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
" —Rs. 35/- or $ 5.50 (North & South America.)

CONTENTS

English Section

1. Matri Vani 99
2. Sad Vani—Bhaiji 101
3. A Few Days with Mother—
Sri Madan Mohan Misra 110
4. Ya-Ta !—Ramanujam 114
5. Self-Surrender—Swami Paramananda Puri 116
6. For the Devotee who may have seen only
Photograps of Ma Anandamayi—
Elwood Decker 125
7. Sri Sri Muktananda Giri Maharaj—
Swami Bhagavatananda Giri 126
8. Sacred Places of Kashmir, Jammu & Ladakh—
A Devotee 133
9. The Last Days of Sri Hari Ram Joshi— ....
Sri B. D. Joshi 137
10. Matri Lila 141

LIBRARY
No.…………
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

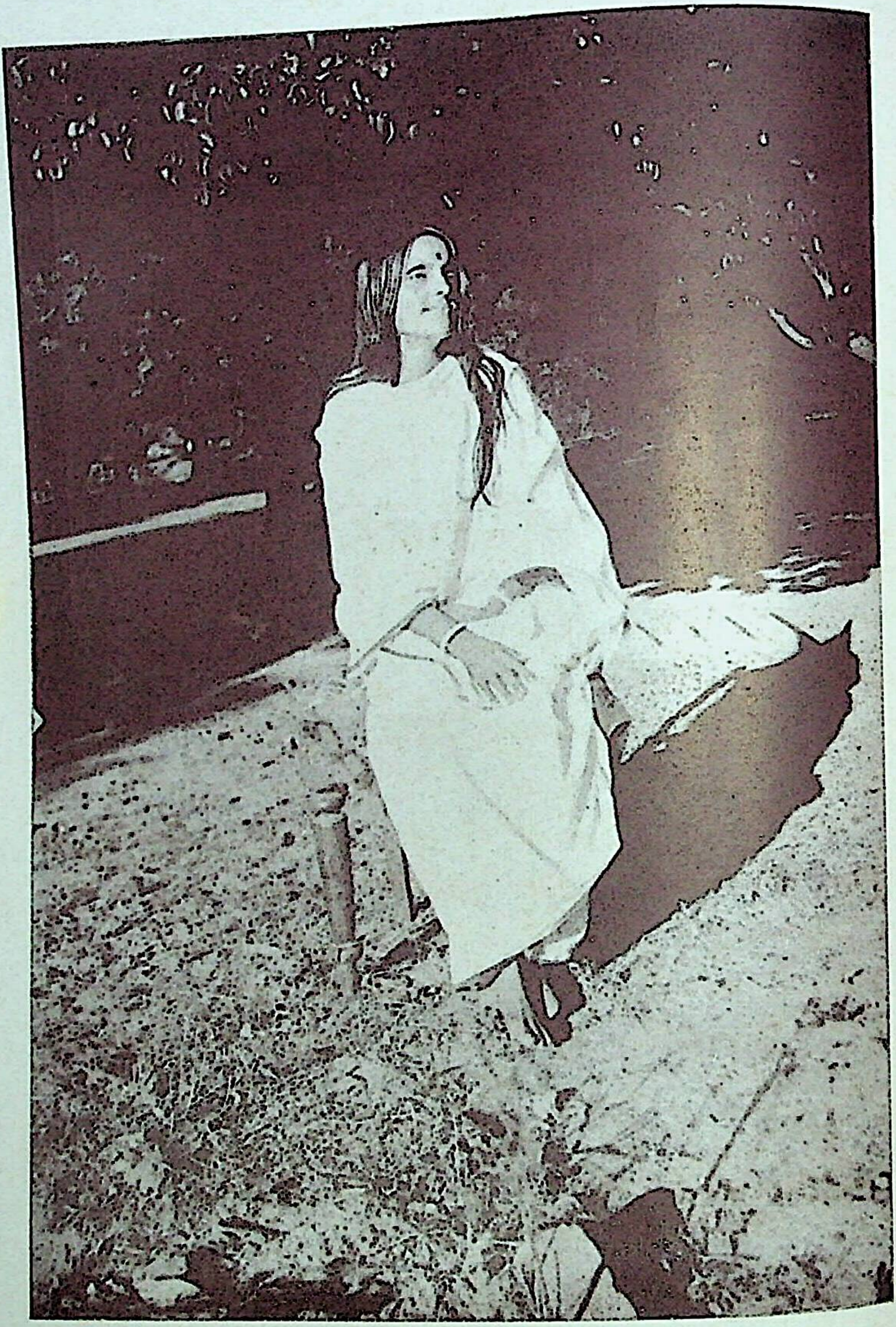

An unpublished picture of Mataji taken in 1936 in the grounds of the Yogoda School at Ranchi.

Courtesy : Sri Daya Mata, President, S R F.

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपनेमें आप।"

VOL. XVII] JULY, 1970 [NO. 3

—मातृवाणी—

माया में रहकर 'माया कहाँ से आती है' समझना कठिन है। उनको जानने की चेष्टा करना। अपने को जानने का अर्थ है उनको जानना। अपने को पा जाने से ही सब प्रश्नों का समाधान हो जाता है। माया के रहने से माया को जानना कठिन है।

× × × ×

गुरु ने जिस पथ का प्रदर्शन किया, उस मार्ग पर चलने की चेष्टा करना है। बैठकर रहना नहीं, चलने की चेष्टा करना है। फिर कर्म अगर अच्छा लगता है तो तद्बुद्धि होकर कर्म करना है। देश सेवा, गृहलक्ष्मी की सेवा, बाल गोपाल सेवा, पतिसेवा—वही सब रूप में हैं। केवल भोजन-शयन में समय न बिताना। अमूल्य मानव जीवन व्यर्थ चिन्तन में नष्ट करना नहीं। धर्मशाला में और न रहकर अपने घर में जाने की चेष्टा करो।

× × × ×

केवल ब्रह्मचर्य आश्रम के अभाव से ही अन्य सब आश्रमों के नियमों का पालन ठीक रूप से हो नहीं पाता। नींव पक्की न होंने पर मकान जैसे बन नहीं सकता। आश्रम का अर्थ है जहाँ श्रम नहीं। फिर भगवान् को छोड़ देने पर और सब तो श्रम ही श्रम है। तब विश्राम और कहाँ है ? गृहस्थ आश्रम में रहकर भी यदि तद्ज्ञान से सेवा चलती रहती है तो ठीक ठीक आश्रम में वास होता है।

× × × ×

इस संसार का मालिक न बनकर माली बनकर रहना चाहिए। मालिक बनने से ही सब गड़बड़ है। माली बनने से फिर और झगड़ा कहाँ ? बस, यह संसार अब भगवान् का

है—मैं तो एक सेवक मात्र हूँ, उन्हीं के निर्देश से मैं अब केवल सेवा करते हुए चलूंगा। सर्वदा इस प्रकार विचार मन में रखकर यदि गृहस्थ आश्रम में भी रहा जा सकता है तो और कोई नया बन्धन उत्पन्न नहीं होता। केवल प्रारब्ध का भोग कर जाना है। इस बात को मन में रखकर यदि संसार किया जा सकता है, तो फिर डर कहाँ ? वे ही सब ठीक कर देंगे।

× × × ×

भगवान् न मिलने तक दुःख दूर नहीं होता। उनको पाने के लिये केवल उनका नाम जप, उनका ध्यान, उनकी पूजा, उनका नाम कीर्तन करना है—इसके अलावा कल्याण का कोई मार्ग नहीं है। सत्संग, सद् ग्रन्थों का पाठ भी इस मार्ग के अनुकूल है। यह शरीर प्रायः एक बात बोलता है · विषय का अर्थ है विष। विषय के भोग से धीरे धीरे मृत्यु आती है। इसलिये यह शरीर सर्वदा बोलता है। जो जितना अधिक समय उनको लेकर रह सकता है उसी की चेष्टा करना है।

× × × ×

दुर्लभ मनुष्य जन्म पाये हो। एक क्षण भी व्यर्थ न होने दो। पेड़ पौधे पशु पक्षियां थोड़े दिन संसार में रहकर नये पेड़ पौधे पशु पक्षियाँ पैदा कर संसार से छुट्टी लेते हैं। अगर तुम लोग भी वैसा ही करते हो तो भिन्नता कहाँ रह गयी ? Return Ticket फिर से कटाना न पड़े उसके लिए चेष्टा करो।

LIBRARY
No..........
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

श्री श्री माँ आनन्दमयी की अमरवाणी

(ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथजी कविराज की व्याख्या के साथ

प्रश्न—दर्शनों में कौन सच्चा है और कौन झूठा है कैसे समझा जा सकता है ?

माँ—प्रत्येक दर्शन में एक चिह्न रख जाता है न, विशेष कर जब देवदर्शन होता है। दर्शन हुआ और मन में एक विशेष क्रिया हुई। स्वप्न में दर्शन हुआ—राम, कृष्ण या शिव—आनन्द हुआ। इससे भी निज इष्ट दर्शन का अभाव रह ही जाता है। इस प्रकार निज इष्ट के दर्शन से शायद कुछ अधिक आनन्द हुआ। इससे थोड़ा सा चिह्न लग जाता है। संसार के चक्कर में अगर यह बाहरी दृष्टि से मिट गया सा हो जाय तो भी समझनेवाला अगर कोई हो तो समझ सकता है। किसी भी अवस्था में दर्शन होने पर एक प्रकार क्रिया होती है। वैसा दर्शन जितना अधिक होने लगता है—जैसे पहले एक छेद हुआ, फिर गड्ढा हुआ, अन्त में सोता बन कर नदी में जाकर मिलता है। जितना दर्शन होगा उसकी ओर श्रद्धा बढ़ जाती है—उसकी ओर गति हो रही है।

दर्शन—यह पहले होगा फिर बाद में यह होगा ऐसी कोई बात नहीं है। कोई एक दर्शन हुआ, थोड़े समय के लिए बदल गया। किसी किसी का ऐसा भी होता है बराबर के लिये बदल दिया। जैसे संध्या करने बैठते ही स्मरण में आ जाता है। स्मरण की चेष्टा में भी स्मरण रहने के कारण ही चेष्टा होती है। जैसे भूख लगने से कहना नहीं पड़ता। सच्चा दर्शन है वह जिसमें दर्शन अदर्शन का प्रश्न नहीं है। जिस प्रकाश में विश्व ब्रह्माण्ड में अप्रकाश नाम का कुछ भी नहीं रहता। पहले वाले दर्शन हैं क्रम से और यह है सच्चा दर्शन। जिस दर्शन में—दर्शन क्या है—रूप क्या है, गुण क्या है—कोई भी प्रश्न नहीं रहता—वही दर्शन है।

कैसे समझा जा सकता है सच्चा दर्शन है या नहीं। जिस दर्शन में समझा जाता है मैं कितना बदला, मेरी भीतरी विषय-वासना कितना हिल उठी और मेरे दुःख अहंकार में कितनी समता आयी है तन्मय होकर। यह अपने को जानने समझने की दिशा की ओर।

मन है तो बुद्धि का खेल भी है। अगर जगत् बोलो, जीव बोलो—मन है। मन न रहने पर जगत् का खेल हो नहीं सकता। आत्म अभिमान में कितनी चोट सहन कर सकते हो—अहंकार की ओर से, क्रिया की ओर से अपने को जितना स्थिर रख सकते हो। मनको जितना उनकी ओर रख सकोगे, शुद्ध, शान्त, क्षमा, दीन आदि भाव आवेंगे। एक रोदन है

अहंकार का–मुझे यह नहीं मिला इसलिये क्रन्दन। और एक है दीनता से। इष्ट देवता का स्मरण मन में उठा–यह भक्ति से आया या अहंकार से समझना कठिन है। यह जो अहंकार है यह अहं है किसका समझना कठिन है। आध्यात्मिक मार्ग में चलते समय जो आघात-घात नहीं हनन नहीं–यह समझ में आता है कि नहीं, अगर अपने व्यक्तित्व को अहंकार से घेर रखते हो, तो इससे छुटकारा न मिलने पर कुछ नहीं हुआ। अहंकार को धर रखने के लिए उनकी ओर से धर कर रखना होगा। सब अहंकार अपने पूजा-पाठ ध्यान जप में धर रखेंगे।

जागतिक दृष्टि से कोई कुछ कहा, किसी किसी का जैसे होता है विषाद योग। किसी प्रकार के आघात से जीवन की धारा ही बदल जाती है। ऐसा हो तो अलग बात है। लेकिन अगर यह विषाद योग न होकर विषाद भोग हो सकता है–मन में इसे दबाकर रख लिया। जब तक तीसरा व्यक्ति न हो सकते हो तुम्हारा द्वन्द्व रह ही जाता है। अगर तृतीय व्यक्ति बन सकते हो–तब शिथिल होने की दिशा की ओर। फिर तृतीय व्यक्ति होने की चेष्टा में जिस ओर पलड़ा भारी है, झुक जाओगे।

ऐसा भी होता है–तृतीय व्यक्ति होने की चेष्टा में विचार उठता है दूसरे की बात मान कर। अहंकार शिथिल हो रहा है–दूसरे की बात मान सकते हैं। प्रथम अवस्था में रहता है तुम और मैं, सत्य या मिथ्या किसी भी उपाय से अपनी स्थिति को ही धर रखने की चेष्टा हो रही है। बाद में दुःख से यह आया–जो अच्छा समझते हो करो। यह भी अहंकार की ओर ही चलना है। इसकें बाद–ठीक है, मुझे भी रहने की जरूरत नहीं, तुम्हें भी नहीं–सम हो गया। ऐसा सबका ही होता है।

यह जो पलड़ा के भारीपन की बात हुई, उसके बाद तृतीय व्यक्ति हो जाने पर त्याग की ओर गति आती है–ठीक है, तुम जो कुछ कहते हो वही ठीक है। यहाँ कुछ मात्रा में समता है–पहले जैसे था अब भी वैसा ही। भविष्य में इस प्रकार बात उठने पर कोई क्रिया नहीं होगी। लेकिन अगर कोई त्रुटि रह जाती है, फिर योगायोग हुआ, ऐसा आघात आया तब हाहाकार–क्यों ऐसा किया। वह जो विष और यह जो डंक–यह था। यह जगत है जीव का स्वभाव, क्या करोगे जो जहाँ स्थित है।

तृतीय व्यक्ति होकर जब त्याग की ओर गति आयी, तब उनकी ओर झुक गया–वह मानो मेरा मित्र है, उसकी ओर से बातें करते हो। अपना अहंकार उसका अनुकूल हुआ। जब प्रतिद्वन्द्वी था तब अनुराग, द्वेष अहंकार से। तृतीय व्यक्ति होकर अपना हिस्सा बाँट लिया। उस समय अपनी ओर झुकना छोड़कर उनकी ओर झुकना अच्छा लगता है–ठीक है तुम जो कुछ कहते हो।

ऐसा एक समय आ जाता है कि उनकी ओर झुकेंगे या मेरी ओर, क्या विचार

करेंगे—समझा नहीं जाता। अहं है किसका इसका प्रकाश होना प्रारम्भ हो गया है न। उसके पक्ष में न्याय होने से जैसा लगता है; न्याय अपने पक्ष में होने पर भी वैसा ही लग रहा है—समता आ रही है। त्याग की ओर चल रहा है यानी अपने लिए प्रार्थना न करने की ओर जा रहा है। क्रिया भी हो रही है—अब विष भी और नहीं है। इस स्थिति में जो भी हो जाता है खुशी की बात है। यह आसानी से नहीं होता है—किसी-किसी दर्शन से यह स्थिति आती है। क्रम से भगवान् की ओर यात्रा हो रही है। अब क्षमा दया तितिक्षा ये सब आने लगते हैं। ऐसा हुआ कि संसार में रहकर भी मन लगाया नहीं जा सकता।

जब ये सब होते हैं—अलग होकर देखने की शक्ति नहीं रहती—वह स्वयं वही बन जाता है न। जैसे नित्यकाम। मैं जिस स्वरूप में रहता है वहाँ वह ही है। जो जिस स्टेज (Stage) में है वहाँ पूर्णांगीण रूप से ही है। भगवान् मिल नहीं रहा है—भिखारी भिखारी ही है। पूर्णांगीण रूप में यह रहेगा। तत् स्वरूप है न—अलग नहीं समझता है जैसे कहीं-कहीं दान का प्रकाश के विचार से दान करने का नहीं रहता है।

व्याख्या

१. वास्तविक दर्शन

वास्तविक दर्शन क्या है इसके सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा सबकी नहीं है। माँ ने जिस दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन के सम्बन्ध में अपने ख्याल से जिस भाव को प्रकाशित किया, उस दिशा से देखने पर वास्तविक दर्शन वहाँ ही सम्भव है जहाँ दर्शन अदर्शन का कोई भी प्रश्न उठ नहीं सकता—वह है परमस्थिति। खण्ड दृष्टि से दर्शन की आलोचना करने पर दर्शन में अदर्शन जटित रहता ही है। जिस दर्शन से दर्शन की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है वही वास्तविक दर्शन है। खण्ड दृष्टि से दर्शन अदर्शन के बारे में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं, लेकिन वास्तविक स्वरूप की ओर दृष्टि डालने पर समझ में आ जाता है कि उसमें कोई भेदभाव नहीं रहता है और दर्शन अदर्शन का रहस्य बराबर के लिये समाहित हो जाता है। वास्तविक दर्शन एक ही है। वही एक दर्शन खण्डित रूप से दर्शन-अदर्शन रूप में विभक्त होकर अनन्त रूप में प्रकाशित हो रहा है।

व्यावहारिक जगत् में सच्चा दर्शन और अप्रकृत दर्शनों की आलोचना होती है। वास्तविक दर्शन जीवन पर प्रभाव डालता है, क्योंकि सत्य का जो प्रभाव है उसे कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता है। प्रकृत दर्शन का प्रभाव ही उसकी सत्यता का एकमात्र निदर्शन है। मनुष्य जीवन की धारा या गति प्रकृत दर्शन के प्रभाव से अवश्यम्भावी रूप से परिवर्तित होती है। दर्शन अदर्शन की सत्यता के सम्बन्ध में दार्शनिकों का विचार

जटिल हो सकता है, लेकिन प्रकृत सत्य अतीव सरल है। इसलिये मनुष्य जीवन के ऊपर प्रकृत दर्शन का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। सत्य के स्पर्शमात्र से जीवन की गति परिवर्तित हो जाती है। वहाँ लौकिक विचार की आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रकृत सत्य हो तो उसका प्रभाव जीवन के ऊपर पड़ना जरूरी है।

मनुष्य का जीवन माया के राज्य में घूम रहा है, उसके फलस्वरूप सत्य का आभास तक वह साधारण स्थिति में नहीं पाता है। जागतिक तर्क के जाल में सत्य का मार्ग अवरुद्ध है, लेकिन इतना कहा जा सकता है कि वास्तविक सत्य का प्रभाव मनुष्य के जीवन में अवश्य ही पड़ता है। दार्शनिक तर्क और विचार के रास्ते से सत्य का निर्णय करना सर्वदा सबके लिये सम्भव नहीं है, लेकिन यह बात सत्य है कि प्रकृत सत्य के आभास पाने पर मनुष्य दीर्घकाल तक माया के राज्य में बद्ध नहीं रह सकता। सत्य का प्रभाव उसके जीवन के ऊपर कार्य करता है। ठीक या बेठीक विचार जागतिक दृष्टिकोण से नाना प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन इस प्रकार विचार से जीवनधारा का कोई परिवर्तन नहीं होता। जीवनधारा के परिवर्तन न होने पर समझना होगा कि वह विचार प्रकृत सत्य से दूर है। संक्षिप्त भाषा में यही सत्य का निर्णायक है। वास्तविकतया जो सत्य का स्वरूप है वह तर्क या विचारों से परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

२. तटस्थ दृष्टि

जागतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करते समय साधारण मनुष्यों के मन में यथार्थ पथ अपनाने की कोई सुविधा साधारणतया नहीं मिलती। इसलिये पक्ष-विपक्ष छोड़कर तटस्थ दृष्टि अवलम्बन करना आवश्यक है। तटस्थ दृष्टि रहने पर अपना अच्छा-बुरा लगना आदि सत्य के निर्णय में बाधा नहीं डालते। मनुष्य साधारणतया राग या द्वेष लेकर रहता है। अज्ञात रूप से भी इस राग या द्वेष के खेल से वह अपने को अलग नहीं रख सकता। तटस्थ दृष्टि अवलम्बन कर सकने पर मनुष्य राग-द्वेष के हाथों से मुक्त हो सकता है। लेकिन तटस्थ दृष्टि अवलम्बन करना अतीव कठिन है। जिसका कोई पूर्व पक्ष या पराया पक्ष नहीं है वही तटस्थ दृष्टि है। तटस्थ दृष्टि ही सत्यलाभ का एकमात्र उपाय है। लेकिन गुप्त रूप से भी राग या द्वेष का स्पर्श आकर लगता है तो तटस्थ दृष्टि रखना असम्भव हो जाता है—उसकी रक्षा नहीं की जा सकती है। उस समय किसी एक का पक्ष लेकर पक्षपात करना ही पड़ता है। इसीलिये माँ कोई भी पक्ष न अपना कर तटस्थ होने का उपदेश करती हैं। माँ ने इसी को ही 'तृतीय व्यक्ति' बनने के रूप में कहा। यह तृतीय व्यक्ति होने पर अहंकार निर्मूल होता है और उसके फलस्वरूप माँ की भाषा में—"उनकी ओर झुक गया, और उसी समय त्याग की दिशा आयी।"

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

(पंचम खंड)

श्री अमूल्य कुमार दत्तगुप्त, एम-ए०, बी-एल०

संध्या के बाद सायं सन्ध्या समाप्त कर श्री श्री माँ को भजनालय में बुला लाये—वहाँ अखण्ड महायोग के सम्बन्ध में आलोचना होगी। इस विषय में मैं ही अधिक आग्रह रखता था। अखंड महायोग क्या है पहले भी इस विषय में एक बार चर्चा हुई थी। इस योग का परिणाम है जगत् का आमूल परिवर्तन। अनादिकाल से आज तक आध्यात्मिक जगत् में जिस की जो कुछ भी प्रगति हुई वह व्यक्तिगत रूप में हुई। व्यक्तिगत रूप में बहुतों ने पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति और पूर्ण तृप्ति लाभ किया लेकिन उस प्राप्ति से संसार का चिरन्तन हाहाकार दूर नहीं हुआ। इन महात्माओं में से किसी किसी ने कृपावश होकर कुछ लोगों को त्रिताप ज्वाला से मुक्त भी कर दिया। लेकिन इन मुक्त लोगों की संख्या संसार के अगणित जनों की अपेक्षा कितना नगण्य है। गोपीनाथजी जिस महायोग की चर्चा कर रहे हैं, जिस दिन वह सम्पन्न होगा उस दिन समस्त मानव समाज ही अमरत्व प्राप्त करेगा

जो भी हो, माँ को बुलाकर हम लोग गोपीनाथजी के कमरे में जाकर बैठे। माँ ने गोपीबाबू से कहा "बाबा, अखंड-महायोग के सम्बन्ध में जो कुछ बातें सब के सम्मुख बता नहीं सकते अब वह बताओ" गोपीबाबू ने प्रायः दो घंटे तक इस प्रसंग में बहुत सी बातें कहीं, अनेक अलौकिक घटनाओं का भी उल्लेख किया।

माघ १२, मंगलवार (२५।१।४९)। आज सुबह भी अखंड महायोग की तत्त्व व्याख्या हुई। गोपीबाबू ने आज जो कुछ कहा उसका एक भी शब्द मेरी समझ में नहीं आया। संध्या के बाद आज भी माँ को लेकर गोपीबाबू के कमरे में जा बैठा। आज भी दो घंटे तक गोपीबाबू ने साधना की बातें कीं। इन सब बातों को प्रकाश करना अनुचित मालूम हो रहा है।

माघ १३, बुधवार (२६।१।४९)। आज दोपहर के भोजन के उपरान्त माँ के पास गया। गोपीबाबू ने कहा था कि माँ के साथ जब उनकी सभी बातें हो चुकी हैं, तो आज ही शाम को वे काशी लौटना चाहते हैं, मैं माँ से ऐसा निवेदन कर उनके जाने की अनुमति ले लूं। माँ से इस बात का उल्लेख करने पर माँ ने आज के लिये गोपीबाबू को वहाँ ठहर जाने को कहा।

अशरीरी मूर्ति का दर्शन

माघ १४, बृहस्पतिवार (२७।१।४९) आज गोपीबाबू और सदानन्द बाबू काशी के लिये रवाना हुए। गंगा स्नान के बाद आकर मैं माँ के कमरे में बैठा। वहाँ डा० पन्नालाल, स्वामी शंकरानन्द, डुंगा के जमीन्दार शेर सिंह, श्रीयुत अमल सेन, श्रीयुत विनय सेन आदि बैठे थे। श्रीयुत अमल सेन खुकुनी दीदी लिखित "श्री श्री माँ आनन्दमयी" पंचम भाग पढ़ रहे थे। उस पुस्तक के प्रथम अंश में माँ की कैलासयात्रा का विवरण है। उस पुस्तक में जिन स्थानों का उल्लेख है माँ उन सब स्थानों का विशद वर्णन दे रही थीं। इस प्रकार पाठ व बात एक साथ चल रहे थे।

बातों बात माँ ने पिछली रात को जिन तीन मूर्तियों को देखा था उसकी बात कही। माँ ने कहा–पिछली रात को करीव १½ बजा होगा, देखा कि तीन मूर्तियाँ आयीं। एक था पशु का आकार, उसकी आँखों के चारों ओर सफेद बारडर (border) है, एक मूर्ति की दो आँखें देखने में सुन्दर हैं। तीसरी मूर्ति अति विकट, उसके लाल रंग के मुख तथा ललाट से खून झर रहा था। उन्हें देखकर बीथुको कहा–"तुम लोगों को सावधानी से चलना फिरना चाहिए।" उसने पूछा क्या वह नीचे जाकर इन बातों को सबसे कह देगी या नहीं। माँ ने कहा—कोई जरूरत नहीं। कभी कभी ऐसा दीख पड़ता है। एक बार महाराणी (गाय का नाम) जब यहाँ थी, उस समय भी एक मूर्ति दिखाई पड़ी थी। खुकुनी को मैंने बतायी थी। बाद में महाराणी को चेचक निकला डाक्टर को दिखलाकर उसका इलाज हुआ और उसे ठीक कर दिया गया।"

माँ की चण्ड मूर्ति

फिर पुस्तक का पाठ आरम्भ हुआ। अलमोड़े से कैलास रवाना होने से पहले श्री श्री माँ ने कैसे भोलानाथ का क्रोध शान्त किया था इन बातों का उल्लेख पुस्तक के जिस अंश में था, पढ़ा जा रहा था। श्री श्री माँ की उस समय की मूर्ति देखकर वहुतों को भय हो गया था। इन वातों को सुनकर माँ ने मुस्कराकर कहा "विन्ध्याचल में भी एक बार ऐसा हुआ था। उस समय यतीश (गुह) वावा की माँ और शंकरानन्द वावा भी वहाँ थे।

भोलानाथ ने मरणी को मछली खिलाने की जिद्द की। मैं जितना भी इतराज करती गयी उसकी जिद्द उतना ही बढ़ती गयी। तब मैंने अचानक यतीश की माँ के पास जाकर कहा कि मेरे क्रोध की मूर्ति देखकर वे लोग डरें न, भोलानाथ को शान्त करने के लिये ऐसा किया जायगा। यह कहकर भोलानाथ के सम्मुख आकर मैंने कहा, "मछली खिलाओगे? तब अभी खिलाओ।" मेरी मूर्ति और भाव देखकर सभी भयभीत हो गये। शंकर बाबा

मेरे और भोलानाथ की बीच आकर मुझे शान्त होने के लिए प्रार्थना करने लगा। भोलानाथ ने भी भयभीत होकर मछली खिलाने में साहस नहीं किया। यह जो क्रोध की मूर्ति की बात कही गयी वह वास्तविक क्रोध की मूर्ति नहीं या विकट कोई मूर्ति भी नहीं, लेकिन शरीर का ऐसा एक विशेष प्रकाश है जिसे देखकर लोग डरते हैं। और उसका प्रकाश जब होता है तब मैं भी शान्त रूप से उसका दर्शन करती रहती हूँ।"

इस प्रकार वार्तालाप के अनन्तर माँ को भोजन कराने के लिये नीचे लाया गया। हम लोग भी नीचे उतर आये।

माघ १५, शुक्रवार (२८।१।४९)। आज दिन ११ बजे मुझे काशी के लिये प्रस्थान करना है। हम लोगों ने शीघ्रता से भोजन समाप्त कर लिया। माँ षष्ठीतला की वेदी पर भक्तगणों से परिवृत बैठी थीं। प्रस्थान के पूर्व माँ को प्रणाम करने पर माँ ने हँसते हुए कहा--"जाना नहीं है--जाना नहीं है, फिर आना।" एक-एक करके सब कोई के प्रणाम करने के बाद माँ ने कहा-- 'पहले विन्ध्याचल के यात्री थे, अब काशी के यात्री हुए। तुम लोग रेल लाइन से जाओ, मैं यहाँ से देखूंगी।"

हम लोग धीरे-धीरे पहाड़ से नीचे उतर आये। बाद में रेल लाइन पकड़कर स्टेशन पहुँचे।

माघ २०, बुधवार (२।२।४९) आज संध्या को माँ विन्ध्याचल से बस से लौट आयी हैं। साथ सोलन के राजा, शेरसिंह, श्रीयुत अमलसेन आदि ३० आदमी आये। मित्र मनोमोहन विन्ध्याचल ही में हैं। थोड़े दिन के लिये माँ ने उन्हें वहीं रख दिया। श्री श्री माँ को प्रणाम करने पर माँ ने कुशल मंगल पूछा। माँ के कमरे में कई महिलाएँ थीं, माँ ने उन्हें दिखाकर कहा--यह शरीर जब मातुल के घर था तब ये लोग इस शरीर के साथी थे। एक महिला को दिखलाकर कहा--"इनका नाम गिरिवाला है।" माँ बहुत थकी मालूम पड़ीं। सुनने में आया आज दो दिन से माँ को दोपहर के समय ज्वर हो रहा है। कुछ समय तक माँ के पास खड़े रहकर चले आये।

माघ २१, बृहस्पतिवार (३।२।४९)। आज आश्रम में सरस्वती का पूजन है। १० बजे आश्रम जाकर देखा माँ हाल में बैठी हैं। वहाँ पूजन का आयोजन हुआ। सरस्वती की मूर्ति बड़ी है और देखने में सुन्दर है। माँ ने मूर्ति को डा० पन्नालाल को दिखलाकर कहा--"बाबाजी, देखो सरस्वती की मूर्ति कैसी सुन्दर है। सब श्वेत है, अपने भीतर ऐसा श्वेत होने पर अपनी आत्मा की ज्योति का दर्शन होता है। बंगाल में इस पूजन में बड़ी धूमधाम होती है।" कन्यापीठ की बालिकाएँ गीत गायीं। इस प्रकार ११'३० तक चला। इसके बाद माँ पूजा के स्थान से चली गयीं। मैं भी घर चला आया। संध्या के

बाद आरती होने के अनन्तर कुछ समय तक कीर्तन हुआ, उसके बाद माँ ने कमलाकान्त से कहा, "कमलाकान्त सरस्वती पूजन हुआ, तुम लोग इस विषय में कुछ आलोचन करो। सरस्वती पूजन के बारे में तुम ही कुछ बोलो।" यह सुनकर मैंने सोचा माँ कमलाकान्त को लेकर शायद कौतुक करेंगी, इसी बीच में किसी ने कहा, "कमलादादा ने सरस्वती के सम्बन्ध में एक कविता बनायी है।" यह सुनकर माँ ने कहा—"क्या सच है? तो तुम अपनी कविता पढ़कर सुनाओ।" अब समझ में आया माँ ने क्यों कमलादादा को सरस्वती के पूजन के सम्बन्ध में कुछ बोलने के लिए कहा। हम लोगों की वासना हृदय के अन्तस्तल में छिपी रहने पर भी श्री श्री माँ के निकट वह दिन के प्रकाश के समान स्वच्छ है। कमला दादा की आन्तरिक वासना पूरी करने का सुयोग माँ ने कर दिया। कमलादादा भी उत्साह के साथ उस कविता की आवृत्ति करने लगा और उसका अर्थ बताते समय नाद, बिन्दु, कला आदि की आलोचना भी करते गये। इसके बाद श्रीमान् भूपेन ने हिन्दी में भाषण दिया। कालिदास मूर्ख होते हुए भी सरस्वती के वरदान से संसार का श्रेष्ठ कवि बना उस कहानी का भी उल्लेख हुआ। रात १० बजते देखकर माँ उठ गयीं, हम लोग भी घर चले आये।

"भगवान् की दिशा से ही मनुष्य को शान्तिकी आशा है। संसार का रूप ऐसा ही है। संसार में शान्ति की आशा करना व्यर्थ है।"

—श्री श्री माँ

'मैं'—'अहम्'

कु० ऊर्मिला शर्मा

अकारादि हकारान्त वर्णावलि की सीमाओं के व्याज से निखिल विश्व को अपने भीतर समेटे, प्राणि-मात्र द्वारा अनवरत अनुभूयमान यह 'अहं' शब्द वस्तुतः किस अर्थ का अभिव्यञ्जक है यह विषय अवश्य ही चिन्तन का आकर्षक है; जन-साधारण की प्रतीति में तो अपना दृश्यमान स्थूल शरीर या अधिक विचारपूर्वक कहा जाय तो चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही 'मैं' शब्द का अभिप्राय है। इस 'चैतन्य' का भी सामान्यजन की धारणा में सङ्कल्प-विकल्प, चिन्तन-निर्णय आदि के आश्रय-स्थान 'चित्त' से आगे कोई अर्थ नहीं है। किन्तु सफल तत्त्व-चिन्तकों का अनुभव व वाणी इसी अहं के क्रोड में सचराचर प्रपञ्च व उससे भी परे की सनातनी सत्ता को सहज ही समेट कर 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इत्यादि रूपों में स्फुट होती है।

'मैं क्या हूँ ?'—प्रश्न के उत्तर में लौकिक व तत्त्ववेत्ता की 'मैं देह या चित्त हूँ' तथा 'मैं ब्रह्म हूँ'—अनुभूतियाँ किसी लम्बी रेखा के आरम्भक व समापक बिन्दुओं के समान हैं। इन दोनों बिन्दुओं का मध्यवर्ती सुदीर्घ अन्तराल अवश्य ही चिन्तनरसिकों व तत्त्वानुसन्धित्सुओं को अपनी-अपनी प्रवृत्ति व सामर्थ्य का यथाकाम यथारुचि प्रयोग कर देखने के लिए आह्वान सा देता हुआ प्रसृत क्षेत्र है। इस ऋजुकोण के एक छोर से दूसरे तक पहुँचने में ही अशेष चिन्तन का साफल्य है, निखिल सृष्टि का पर्यवसान है, 'एक' व 'अनेक' की दुर्बोध प्रहेलिका का सुसमञ्जस समाधान है।

यह दृश्यमान जगत् (जिसका नाम ही उसकी प्रवाहरूपता का सूचक है) असंख्य बिन्दुओं से समवेत किसी रेखा अथवा अजस्र धारा के समान है, जिसके मूल में अनिवार्यतः किसी एक अक्षय बिन्दु की कल्पना करनी पड़ती है, इसीलिए इसके 'अनादि'-त्व की घोषणा करते रहने पर भी विचारक 'इदमेक एवाग्र आसीत्' कहे बिना नहीं रह सके हैं। किन्तु उस एक का परिचय देते समय वे उसे 'अव्यपदेश्य' कहकर 'मौन' में ही पर्यवसित होते हैं। किसी प्रकार उसे व्यवहारभूमि में समझाने का प्रयत्न करने पर देखा कि वह 'भूमा' 'सत्य' 'प्रज्ञान' 'आनन्द'—स्वभाव 'ब्रह्म' शब्द से संज्ञात हो सकता है, तथा और भी स्पष्ट स्वच्छ रूप से कहना हो तो वह 'आत्मा' (अपना आप, स्वयंमात्र) है। 'सत्ता' (होना) व 'चैतन्य' शब्द केवल-मात्र उसी का बोध कराते हुए सार्थक हैं, अर्थात् उससे भिन्न जो कुछ भी प्रतीयमान या संभावित है, वह सत्य भी नहीं, चेतन भी नहीं, अर्थात् असत्य है, जड़ है,

उस 'एक' 'अद्वितीय' 'सत्य' के रहते तद्विपरीत स्वभाववाली किसी अन्य वस्तु का 'रहना' तो 'एक' की 'एकता' का विरोधी है, और 'न रहना' प्रत्यक्षसिद्ध जगत्-प्रतीति का विरोधी है। ऐसी स्थिति में, जब 'चेतन' वस्तु वह एक ही है तो ये असंख्य 'मैं' किसके बोधक हैं ?

विश्लेषण करने पर विचारकों ने पाया कि वह मूलभूत एक चैतन्य ही कदाचित् अनेक होने की कामना करता है। यहीं पर उसके अभ्यन्तर ही स्थित किसी अघटन-घटना-पटीयसी वस्तु के प्रथम उन्मेष की सूचना मिलती है, और वह 'एक' 'अहं' शब्द से ही अपना प्रथम उल्लेख करता हुआ सोचता है—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'। अर्थात् प्रशान्त चित्-उदधि में उठी प्रथम ऊर्मि 'अहं' आकार में ही स्फुट हुई। उस सत्यैक-विग्रह की इस कामना को 'सत्य' करने के लिए वही अतर्क्य-वैचित्र्यमयी शक्ति अपने आश्रय द्वारा ही अनुप्राणित हुई युगपत् द्विविध कार्य करती है, एक ओर अपने 'विक्षेप'-पक्ष से विराट् से लेकर स्थूल तृण पर्यन्त जगत् की सृष्टि करती है, और दूसरी ओर उस कामयिता (कामना करने वाले) को स्वयं एक विचित्र आवरण-रूपा बनकर ढक लेती है। यह शक्ति सत्त्व-रजस्-तमस्-गुणमयी है, अतः इसके प्रत्येक कार्य में ये तीनों घुले-मिले रहते हैं, जिनमें से कभी एक प्रधान होता है, कभी दूसरा, कभी तीसरा। इसे माया, अविद्या या अज्ञान नाम दिये गये हैं। आव्रियमाण चिदात्मा (आवरण के ही प्रभाव से) इस आवरण से पृथक् स्वयं का स्वरूप नहीं जान पाता और इसी में तदात्मभाव को प्राप्त होकर इसी के धर्मों को अपना धर्म समझता है। इस आवरण में युगपत् व्यष्टि व समष्टि-भाव भी विद्यमान है। फलतः वह विभु 'एक', जिसमें 'प्रत्यक्त्व' तथा 'पराक्'-त्व (आभ्यन्तर व बाह्य) के उन्मेष के सूचक 'अहं'भाव का उदय हुआ है, समष्टि माया से उपहित (= सामीप्य की भावना वाला) होकर ईश्वरभाव धारण करता है, तब तीनों गुणों के क्रमिक प्राधान्य के अनुसार 'स्रष्टा' 'पालयिता' 'संहर्त्ता' रूपों में अभिमान करता है (स्वयं को इन रूपों से अभिन्न समझता है) और व्यष्टि अविद्या से उपहित दशा में अन्तःकरण से स्वयं को पृथक् न जानते हुए नाना अन्तःकरणों में अपना पृथक्-पृथक् तादात्म्य करके नाना 'अहं'-रूपों में प्रकाशित होता है। इस प्रकार अनेक 'अहं' उदित होने पर स्वभावतः एक ही 'पुरुष' न रह कर 'त्वं' तथा 'सः' तथा इन तीनों के भी पृथक्-पृथक् नानात्व के बोधक वयं' 'यूयम्' 'ते' आदि ('प्रथम मध्यम व उत्तम पुरुषों') का उदय हो जाता है।

माया के विक्षेप-पक्ष द्वारा प्रस्तुत सचराचर जड़ प्रपञ्च समष्टि रूप में, ईश्वर-भाव-युक्त 'अहं' के प्रति, 'इदं' है। और उसी प्रपञ्च में अविद्या के 'अन्तःकरण'-अंश की जहाँ तक गति है। वहाँ तक व्यष्टि-अभिमानी अहं को 'इदं'ज्ञान होता है। इन 'अहं' व 'इदं'

के मध्य परस्पर सम्पर्क स्थापित करानेवाला 'मम' 'तव' 'अस्य'-ज्ञान उदित होता है। इसी दशा में हमारा अनुभूयमान व्यवहार चल रहा है।

'एक' 'अद्वितीय' 'अव्यपदेश्य' सत्-चित्-आनन्दघन वस्तु के असंख्य व्यवहार्य 'अहम्' आदि रूपों में अनुभूयमान दशा तक अवतरण का रहस्य अतीव दुर्गम है। इसकी समस्त दुर्बोध्यता व उसके कारण उदित निर्युक्तिकता के समाहार के रूप में एक माया नामक (मिथ्या–) पदार्थ को प्रस्तुत करके और उसे अनादि कहकर अद्वैत-साधक आचार्य तत्त्वानुसन्धित्सु की अशेष प्रश्नावली का मुँह बन्द कर देते हैं। सभी प्रकार की अनुपपत्तियों के प्रति सहिष्णु यह माया ही एक से लेकर असंख्य तक के 'अहम्' अनुभव की एकमात्र प्रयोजिका है यह तो अब स्पष्ट ही समझा जा सकता है। 'स्वयं' की वास्तविकता से भिन्न ही किसी वस्तु में अपना तादात्म्य कर लेने की प्रवृत्ति का मूल भी माया का पर्याय रूप अज्ञान ही है। यही अज्ञान अधिक घन दशा में 'देह ही मैं हूँ'—प्रतीति का कारण होता है, और अपेक्षाकृत सत्त्व-बाहुल्य दशा में 'चित्त ही मैं हूँ' प्रतीति का। किन्तु यह प्रतीति भी सत्य की अनुसन्धात्री नहीं प्रतीत होती, क्योंकि हम देखते हैं कि समस्त जागतिक व्यवहार-वृत्त का केन्द्र-बिन्दु यह 'मैं' ही है। वह निसर्गतः सुखान्वेषी है। उस सुख की खोज में ही उसने संसार का कण-कण छान लिया, अनगिनत जोड़-तोड़ किये, स्थूल में तृप्ति न होने पर वह सूक्ष्म की ओर बढ़ा, उसकी यह अन्वेष्ट्री प्रवृत्ति ही 'दर्शन' की इतनी धाराओं का उत्स बनी—यह सब कुछ क्या जड़ चित्त का ही प्रपञ्च है, क्या चित्त ही स्वयं को किन्हीं सीमाओं में बँधा पाकर निस्सीम होने के लिए छटपटाता है? ऐसा होना तो तभी सम्भव है, यदि 'चित्त' कोई व्यापक वस्तु हो और उससे भिन्न कोई 'बन्धन' या सीमित प्रकोष्ठ हो जिसके द्वारा आच्छन्न या घिरा होने की दशा (वह सत्य हो या मिथ्या) उक्त प्रतीति को उन्नत करती हो। किन्तु चित्त-तत्त्व के दार्शनिक विश्लेषण से तो इसकी पुष्टि होती नहीं, क्योंकि चित्त तो पूर्व-प्रतिपादित अज्ञान या माया के सत्त्वप्रधान पक्ष का एक कार्यविशेष है, अतः स्वयं बन्धनरूप ही है न कि बन्धन का विषय है। अतएव मुक्ति व उसके उपायों की महती परिचर्या का विषय चित्त नहीं हो सकता। किन्तु मनःतत्त्व का सुसम्यक् विश्लेषण करते हुए योगवासिष्ठकार ने यही सिद्धान्तित किया है कि संसृति व मुक्ति वस्तुतः चित्त-विषयक ही है।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः।
(३।९।१४)

तथा उसी मन से तादात्म्य-बोध को प्राप्त हुआ चिन्मात्र ब्रह्म 'जीव' संज्ञक बनता है और—

जीवः सङ्कल्पमात्रात्मा यत्सङ्कल्पोऽवतिष्ठते ।
हृदि भूत्वा स एवाशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ॥
(६ । २२ । ३७)

उस मन (या उसके पूर्वरूप माया) से उपहित ब्रह्म में ही 'अहन्त्व' का उदय होने पर निखिल सृष्टि का उद्भव होता है—

विश्वबीजमहंत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जठरपादपः ॥
(६ । ७ । ११)

तथा च—

अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमयः ॥
(३ । ११० । ४६)

तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥
(३ । ४ । ७९)

जब एक अद्वितीय वस्तु ब्रह्म से इतर जितना जो कुछ जिस किसी प्रकार से सम्भाव्य है, वह चित्त का ही खेल है तो 'मैं चित्त ही हूँ' अनुभूति यथार्थ ही होनी चाहिये, और उस दशा में 'मैं ब्रह्म हूँ' अनुभूति को अप्रामाणिक होना होगा। इसके अतिरिक्त आत्मा में किसी भी प्रकार की विषयता (किसी भी इन्द्रिय या उनके कारण की वृत्ति का विषय होना) के अभाव का खण्डन करते हुए आचार्य शङ्कर आत्मा को 'अस्मत्प्रत्यय' का विषय कहते हैं—

'अस्मत्-प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके ।'
(शारीरक-अध्यासभाव)

इतना ही नहीं—

'अहंशब्देन विख्यात एक एव स्थितः परः' ॥ ३१ ॥
'अहं द्रष्टृतया सिद्धो देहो दृश्यतया तथा' ॥ ३२ ॥

किन्तु 'मैं'–बोध यदि वस्तुतः आत्मा का अवबोधक हो तो पुनः संशय या असङ्गति उठ खड़ी होती है कि जब 'मैं'–बोध प्राणि-मात्र को सदा रहता है (क्योंकि 'मैं हूँ या नहीं हूँ' ऐसा संशय किसी को नहीं होता) तो इस रूप में आत्मा का ज्ञान सर्वदा बना ही रहने की स्थिति में, बहुल-आयास-साध्य, वेदान्त आदि सभी दर्शनों के वास्तविक उद्देश्य-भूत

मोक्ष की ओर किसी की भी प्रवृत्ति क्यों होगी ? अथवा 'मैं' रूप से आत्मा का ही ज्ञान हो जाने पर सभी 'मैं'–अनुभविताओं का एक ही क्षण में मोक्ष क्यों नहीं हो गया ? ऐसा नहीं हुआ है, अतः अवश्य ही 'अहम्' के अर्थ में कोई विशेष बात है । यह समस्या भी अद्वैत-मतानुयायी आचार्यों द्वारा अवश्य ही उठाई गई है––

> न चाहंप्रत्ययात् सिद्धिरात्मनः स्यात्कदाचन ।
> बोधानुभवसंवित्तिवित्तयो ह्यात्मवाचिनः ।।
> —बृहदारण्यभाष्यवार्त्तिक श्लो० १०५७ ।।

आनन्दगिरि का कथन है कि 'अहम्' बुद्धि आत्मा द्वारा ग्राह्य है ही । आत्मा की ग्राहिका नहीं । जैसे घटज्ञान-रूपिणी अन्तःकरण वृत्ति जड़ होने के कारण स्वतः असिद्ध है, इसलिए अनुभव-रूप आत्मा के द्वारा ही सिद्ध (ख्यात) होती है, उसी प्रकार अहंप्रत्यय भी वैसा ही जड़ होने के कारण अनुभवरूप आत्मा द्वारा ही स्फुरित होता है । बृहदारण्यकभाष्य-वार्त्तिक में ही कहा है—'आत्मनोऽहंधियः सिद्धिः....' 'अहंधीरात्मनः कार्यं कारणेनाप्यते सदा...' ।

'अहम्' के अर्थ के विषय में प्राप्त उक्त समस्या का कुछ समाधान शारीरिक भाष्य की रत्नप्रभाटीका में कहा गया है कि 'अस्मत्' (उत्तम पुरुष-बोधक सर्वनाम) शब्द का 'अर्थ' तो है चित्स्वरूप आत्मा, और जहाँ पर वह चिदात्मा प्रतिबिम्बित होकर प्रतीत (=ज्ञानगोचर) होता है, वह अस्मत्-प्रत्यय ('मैं' का बोध) अहङ्कार ('मैं'–अनुभूति का आश्रय तत्त्व) है । तात्त्विक वस्तुस्थिति की दृष्टि से यही समीचीन प्रतीत होता है । क्योंकि वस्तुतः उत्तम) पुरुष वही है जिससे भिन्न कोई 'है' (सत्) ही नहीं । 'द्वितीय' व इन दोनों से पृथक् असंख्य 'अन्य' पुरुषों की सम्भावना व प्रतीति तो तत्त्वतः काल्पनिक ही है । तथा च 'पुरुष' शब्द की सार्थकता तभी होती है जब वह असीम अखण्ड सत्-चित्-आनन्द-घन वस्तु (आत्मा) किसी 'पुरी' (माया) के सम्पर्क में आती है, (पुरि शयः = पुरी में सोया हुआ = पुरुषः) ।—'पुरुष'-त्व के उदय के साथ ही उसमें 'अहं'-त्व का भी उन्मेष होता है । इस प्रकार माया की प्रथम वृत्ति इस 'अहं' प्रतीति के रूप में स्फुट होती है, और तभी उसके 'एक'-त्व का भी बोध आकार धारण करता है । किन्तु इस 'अहं'-प्रतीति का मायावृत्ति होना और आत्मा का उत्तम पुरुष होना—ये तथ्य इतने सङ्कीर्ण हैं कि इन्हें पृथक् कर पाना अत्यन्त कठिन है । वही दुरूहत्व आत्मा व अनात्मा के अन्योन्याध्यास का हेतु है । व्यावहारिक दशा में कभी भी 'अहम्' से पृथक् आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, न ही अपने आप (आत्मा) में अन्यत्व की प्रतीति होती है, इससे सिद्ध है कि 'मैं' में हमारा 'स्वयं' (आत्मा) तथा ऊपर व्याख्यात माया—दोनों सम्पृक्त या मिले-जुले होकर भासते हैं । 'मैं' प्रतीति का

विषय केवल आत्मा नहीं, बल्कि अध्यासयुक्त आत्मा ही है, (अध्यास शब्द की व्युत्पत्ति है–अधि + आस् + घञ् = ऊपर बैठना; फलतः जो माया में आसीन या प्रतिबिम्बित, या जिस पर माया आसीत = आश्रित है- –वही साध्यास आत्मा है) इसीलिए 'मैं' प्रतीति से आत्मा का ही अवबोध होने पर भी मोक्ष नहीं प्रसक्त होता। (क्योंकि वह तो शुद्ध-केवल आत्मा के ज्ञान से ही सम्भव है)।

'अहम्' प्रतीति प्रथम अध्यास है, जिसमें आत्मा पर अनात्मा के तादात्म्यारोप का प्रथम निदर्शन दिखाई देता है। इस प्रकार अहं-प्रतीति में दो अंश हैं––एक चित् (चेतन) अंश दूसरा अचित् (अचेतन) अंश। पञ्चपादिका में कहा है––'अस्मत्प्रत्ययत्वाभिमतोऽहङ्कारः। स चेदमनिदंरूपवस्तुगर्भः सर्वलोकसाक्षिकः।'

पञ्चपादिका विवरण में 'अहम्' के प्रत्यय व अर्थ का तत्त्व विवेचित करते हुए कहा गया है कि अनादि अविद्या का (इसके) परमेश्वर में अधिष्ठित होने से प्राप्त परिणाम-विशेष अहङ्कार है, जो कि विज्ञान व क्रिया दोनों शक्तियों का आश्रय है, कर्तृत्व व भोक्तृत्व का एक आधार है, कूटस्थ चैतन्य के संवलन (सम्मिश्रण) से ज्योतित है, इसके स्फुरण के लिये किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अतः स्वयं प्रकाशमान तथा सदा अपरोक्ष अनुभूति का विषय है ('मैं' के ज्ञान के लिए कभी अनुमान आदि करने की आवश्यकता नहीं पड़ती)।

इस अहङ्कार से सम्भिन्न (अत्यन्त सम्पृक्त) होने के कारण कूटस्थ चैतन्य जो अनिदं-अंश ('इदं' = 'यह' शब्द से ज्ञान के विषय का बोध होता है; जो 'इद' नहीं—किसी का विषय नहीं) आत्मा है, वह भोक्ता रूप से प्रसिद्ध होता है। उस परिणाम-विशेष को चिदात्मा से पृथक् करके वेदान्तवादी—अन्तःकरण मन या बुद्धि या अहंप्रत्ययी नाम देते हैं। इसलिए 'अहं' अनुभूति के विषय के रूप में आत्मा को समझना अन्तःकरण के उपराग (घनिष्ठ सम्बन्ध) के कारण होता है, जैसे कि जपाकुसुम के सम्बन्ध से स्फटिकमणि को लाल समझना। वहाँ तो फिर भी स्फटिक की लालिमा को मिथ्या समझने का प्रचुर अवकाश रहता है, क्योंकि इन दोनों को पृथक्-पृथक् देखना और दोनों को साथ रखा देखना सम्भव है। किन्तु अन्तःकरण व चिदात्मा को तो व्यवहार-दशा (मोक्ष से पूर्व तक की स्थिति) में कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। सुषुप्ति अवस्था में (किसी किसी वेदान्ती के मत से) ये पृथक् होते भी हैं तो उस समय ज्ञान के सभी करणों के अभिभूत या संस्कार-मात्र रूप से अवस्थित (फलतः निष्क्रिय) रहने के कारण उस पार्थक्य का बोध होता नहीं, और सुषुप्ति से स्वप्न में उतरने के साथ ही साथ वह संवलन पुनः यथापूर्व हो जाता है।

चित् व अचित् की इस घनिष्ठता को वेदान्ताचार्यों ने 'चिदचिद्ग्रन्थि' शब्द से अभि-

व्यक्त करते हुए इसी को 'अहम्' का अर्थ कहा है। दो या उससे अधिक वस्तुओं को गाँठ देकर एकत्र करने को ग्रन्थि कहते हैं, इससे एकाधिक वस्तुएं आपाततः एकता के सूत्र में ग्रथित होती हैं। एवं उन्हें सहसा अलग नहीं किया जा सकता। वही स्थिति मनुष्य की देहावच्छिन्न प्रकृति का विश्लेषण करने पर दिखाई देती है, क्योंकि इसके मूल में भी दो परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली वस्तुओं (चित् व अचित्) का अकाट्य मिलन है, जो तत्त्वतः कल्पित तादात्म्य-भर है।

इस प्रकार से 'मैं'–अनुभूति के अर्थ की समस्या सुलझ जाने पर भी इतनी अनुपपत्ति रह ही जाती है कि यह भ्रम मिटते समय, अर्थात् व्यवहार दशा के संक्रमण के समय 'मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार का ज्ञान (वेदान्त की भाषा में अखण्डाकारा चित्तवृत्ति) होता है, और सामान्य लौकिक व्यवहार में 'मैं संसारी जीव हूँ" ज्ञान होता है। तब इन दोनों अनुभूतियो के 'मैं' के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं क्या ? इसका सम्यक् समाधान पञ्चदशीकार ने तीन प्रकार का अहमर्थ बताते हुए किया है। जीव जब अपने अधिष्ठान-अंश से युक्त भ्रम अंश को लेता है तब 'मैं संसारी हूँ" ऐसा समझता है, जब भ्रम-अंश को छोड़ कर अधिष्ठान अंश की ही प्रधानता रहती है, तब 'मैं असङ्ग चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा ज्ञान होता हैं। 'अहं' के अर्थ तीन हैं, जिनमें एक मुख्य (शब्द की शक्ति से प्राप्त) है, दो अमुख्य (गौण)। (१) जन-साधारण चिदात्मा व चित्प्रतिबिम्ब के परस्पर अध्यास से प्रतीत होते हुए एकाकार स्वरूप में (चैतन्य + अविद्या = मिश्रवस्तु में) 'अहं' या 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह चिदचिद्ग्रन्थि ही 'मैं' का मुख्य अर्थ है। तत्त्व-चिन्तक इन दोनों अंशों के पार्थक्य को समझते हुए लौकिक व्यवहार व शास्त्र-मीमांसा करते समय प्रसङ्ग के अनुरूप 'मैं' शब्द का प्रयोग क्रमशः (२) जीव (सीमाबद्ध आत्मा) तथा (३) असीम चिदात्मा के लिए करते हैं। ये दोनों 'अहं' के अमुख्य अर्थ हैं। द्वितीय शास्त्रचर्चित मोक्ष का अधिकारी है एवं तृतीय 'अहं ब्रह्म'–बोध का अहमर्थ है।

२०वाँ संयम सप्ताह महाव्रत

श्री चरणकमलाश्रिता

श्री धाम वृन्दावन की पुण्य भूमि–पवित्र वातावरण–जङ्गम तीर्थ, असीम कृपालु महात्माओं का सांनिध्य–भगवत् कथारूपी अमृत वृष्टि–पाठकगण स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं व्रतियों के उत्साह-वर्धन में कितने सहायक हुए होंगे तथा सर्व साधारण को भी कितना आनन्द प्राप्त हुआ होगा। तिस पर परम कृपामयी श्री माँ के शुभ दर्शनों का सौभाग्य ! ७ दिन कैसे व्यतीत हो गए पता ही नहीं चला।

यह महाव्रत १७ नवम्बर को आरम्भ हुआ तथा २३ ता० तक महान् आनन्द के साथ चला। २४ ता० की सुबह पूर्णाहुति के साथ यह महायज्ञ समाप्त हुआ। इसके कार्य्यक्रम तथा नियमादिकों से तो सभी भाई बहिन भली भाँति परिचित होंगे। अतः उनका यहाँ उल्लेख न करके, परम पूज्य महात्माओं के श्री मुख से निःसृत सुधामयी पावनी धारा को जो जहाँ तहाँ से बटोरने का मैंने प्रयत्न किया है, उसको लिपिवद्ध करती हूँ। इस प्रयास में यदि कोई त्रुटि रह गई है तो वह मेरे ही ठीक रूप से ग्रहण न कर सकने के कारण है और यदि इससे पाठकगण कुछ लाभ उठा सकें तो वह महात्माओं की कृपा।

पूज्य श्री स्वामी अखण्डानन्द जी प्रातःकाल को कठोपनिषद् पर प्रवचन करते थे। उसका जो अंश मैं जमा कर सकी वह यहाँ देती हूँ :—

"उपनिषद् के शुरू में शान्ति पाठ चलता है। शान्ति पाठ में ५ बातें कही गई हैं। हम सबकी रक्षा हो, (दोष दुर्गुणों से)। जो बाधाएँ साधन में, चिन्तन में, बाधक हैं उनसे हमारी रक्षा करो। साथ साथ हमारा पालन हो। सद्गुणों की खुराक से हमारा पालन-पोषण हों। रक्षा दूसरी वस्तु है और पालन दूसरी। गाय को कसाई से बचाना उसकी रक्षा है व उसकी सेवा करना, खाने पीने को देना यह पालन है। हम अपना पौरुष अपना प्रयत्न साथ साथ करें, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। (एक साथ मिलकर जोर लगाएं जैसे कोई भारी पत्थर या लकड़ी उठाना होता है तो सव एक साथ मिलकर जोर लगाते हैं।) हमारी प्रज्ञा हमारी शक्ति एक साथ भगवत्-चिन्तन में लगे। हम लोग जो अध्ययन करें वह प्रज्वलित हो, (हम सुनें वोलें तो बहुत पर उससे हमारे अज्ञान की निवृत्ति न हो तो वेकार है।) जो कुछ सोचें करें तेजस्वी हो। हम लोग आपस में द्वेष न करें। हमारे हृदय एक हों। प्रेम भाव से एक साथ मिलकर तेजस्वी ज्ञान प्राप्त करें जो हमारे

दुर्गुणों को भस्म कर दे। परस्पर एक दूसरे के प्रति सहिष्णु हों। दिन रात दोनों में हमारी शान्ति बनी रहे।

सब यह मानते हैं कि मृत्यु के अनन्तर हमारी आत्मा का अस्तित्व रहता है। पर आत्मा का ज्ञान प्राप्त कैसे हो ? सभी सम्प्रदायों में कुछ न कुछ उपाय बताया हुआ है। हम लोगों का कुछ अलग है। हम लोग ज्ञान के स्वरूप का निरूपण करते हैं।..समाधि के पहले भी मैं था। सुषुप्ति के पहले भी मैं था। पहले ज्ञान होगा तब व्यवहार होगा। नास्तिक कहते हैं पहले जड़ था तब ज्ञान हुआ। आस्तिक लोग कहते हैं पहले पहले ज्ञान पीछे व्यवहार। सारी सृष्टि के मूल में परमेश्वर विद्यमान है। डॉक्टर रोग की औषधि (नई औषधि) देता है व जब दवा से ९० प्रतिशत लाभ होता है तब कहते हैं यह औषधि इस रोग की है। ....सबके मूल में जो विज्ञान रहता है वह हमारा आत्मा है। ज्ञान पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता बल्कि पुरुष का स्वरूप है। वेद में उस ज्ञान का निरूपण है। जिससे सृष्टि संहार, जीव ईश्वर, मालूम पड़ते हैं उसको ज्ञान कहते हैं। देश काल की पवित्रता से ज्ञान पवित्र नहीं होता। ज्ञान की पवित्रता से देशकाल पवित्र होता है। वेद उस वस्तु का प्रतिपादन करता है जो देश काल से परे है। किसी सन् या संवत् में वेद प्रकट हुआ ऐसा नहीं है। ज्ञान सदैव से था। वेद ईश्वर से सिद्ध होता है या वेद ईश्वर को सिद्ध करता है ? वेद ईश्वर के सम्बन्ध में प्रमाण है, जिस ज्ञान से ईश्वर, जीव, जगत् की सिद्धि होती है। जहाँ हमारी आँख, नाक, जीभ, मन, ध्यान, नहीं पहुँचता वह बात वेद के द्वारा मालूम पड़ती है। वेद को वेद क्यों कहते हैं ? जो बात प्रत्यक्ष मालूम नहीं पड़ती वेद के बताने के बाद धर्म और ईश्वर का निरूपण होता है। वेद साक्षात ईश्वर है—साक्षात नारायण है। इसके बारे में अनेक महापुरुषों का मत है जब साधक साधना करते-करते एक विशेष स्थिति में पहुँचता है तो उसको वेदों के मंत्र स्वयं सुनाई देने लगते हैं।

इन वेदों में ११३१ शाखाएँ हैं। यानी इतने ही उपनिषद् होने चाहिये पर आजकल २०० के लगभग ही उपनिषद् प्राप्त हुए हैं। हम कठोपनिषद् की चर्चा करने जा रहे हैं। तैत्तिरीयारण्यक के काठकारैण्यक, महाभारत के अनुशासन पर्व में भी नचिकेता व यमराज की चर्चा आती है। महर्षि पतञ्जलि के समय में गाँव-गाँव, घर-घर में इनका प्रचार था। ब्रह्मसूत्र में भी कठोपनिषद् को स्वीकार किया हुआ है। शैव और शाक्त भी कठोपनिषद् को प्रामाणिक रूप से मानते हैं। एक कठ नाम के महर्षि थे उन्होंने इसका प्रवचन किया। इसके कर्ता का उल्लेख नहीं मिलता। कब बना, कहाँ बना, किसने बनाया इससे मतलब नहीं पर इसमें जो सार बात है उसका हम साक्षात्कार व रसास्वादन करने वाले हैं।

नचिकेता के पिता ने सर्ववेद यज्ञ किया। बड़ा पवित्र यज्ञ है। इसमें न केवल अपना

सर्वस्व ही दिया जाता है…………आत्मा को परम चेतन में विलीन कर दिया तो सर्ववेद यज्ञ है। स्थूल रूप से यज्ञ करने में करनेवाले से जो त्रुटि होती है वह श्रद्धा की कमी से होती है। आप जैसा पहनते हैं वैसा देवता को चढ़ाते हैं या जैसे फालतू कपड़े बने होते हैं वह चढ़ाते हैं? बाजार जाते हैं तो दूकानदार से कहते हैं सुपारी चाहिये तो वह पूजा के लिये चाहिये सुनकर पुरानी सड़ी सुपारी दे देता है। इसमें श्रद्धा की न्यूनता है। श्रद्धा की जरूरत है।

जब उन्होंने यह यज्ञ किया तो सबके हिस्से, (भाई, बेटे आदि के) अलग-अलग कर दिये। उन्होंने अच्छी-अच्छी गौयें तथा वस्तुएँ पुत्र नचिकेता के हिस्से में रख दीं व बूढ़ी गाएँ तथा रद्दी चीजें अपने हिस्से में रखीं व उनको दान कर दिया। यदि तुम लोग दिखावे व अपनी कीर्ति के लिये दान करते हो तो उसका फल आगे क्या होगा? बेटे के हृदय में श्रद्धा आई। जैसे माँ बच्चे की रक्षा करती है वैसे ही श्रद्धा हमारी रक्षा करती है। असली माता श्रद्धा ही है। श्रद्धा आस्तिकता को भी कहते हैं। नचिकेता के मन में आया कि उत्तम प्रकार से पूजा करनी चाहिये, उत्तम वस्तु देना चाहिये, अधम नहीं। नचिकेता न्याय, शास्त्र, धर्म, व सत्य, का प्रेमी था। उसने सोचा पिता का अहित नहीं होना चाहिये। मन में सोचा मेरा मोह ही पिता को भ्रष्ट कर रहा है। उन्होंने कहा मेरा दान आप किसको करेंगे। नचिकेता ने कई बार यह पूछा तो उन्होंने खीज कर कह दिया तुझे यम को दान करता हूँ।

२४ घण्टों में एक बार प्रत्येक की वाणी पर सत्य का निवास होता है इसलिये बोलने के समय बहुत सावधान रहना चाहिये यदि उसी समय सत्य का निवास हो तो वैसा ही हो जायगा। गाँव में कहते हैं, "पांड़ाइन शुभ बोला।" हमारे मुँह से हमेशा शुभ बात ही निकले। मनुष्य जब क्रोध के वश में हो जाता है तो अशुभ भी बोलने लगता है। ऐसे ही नचिकेता के पिता ने भी कहा, "मैं तुम्हें यम को देता हूँ।" नचिकेता ने कहा—पिताजी, आपने मुझे मृत्यु को दान कर दिया है तो मैं अब वहाँ जाता हूँ। नचिकेता गए। ३ दिन बिना भोजन यम के द्वार पर पड़े रहे, (भोजन के समय आए हुए अतिथि को निराश नहीं भेजना चाहिये) यमराज लौटकर आए तो नचिकेता से कहा—तुम ३ दिन से बिना भोजन मेरे द्वार पर रहे तो तुम ३ वरदान माँग लो।

इन्द्र माने यज्ञ का प्रेरक। इन्द्र हाथ के देवता हैं उनका निवास हाथ में है। वाणी में भी इन्द्र हैं।…………परमेश्वर हमारे हृदय में बैठकर प्रेरणा देता है; करता भी वही है। एक देवता ऐसा है जिसका नाम है विश्वम्। सम्पूर्ण विश्व को घेरकर सबसे बड़ा जो बैठा है वह चलने में बड़ा तेज है, तीन पैर में उन्होंने बलि का सब राज, (उन सहित) नाप लिया! संसार में तरह-तरह की जो गति है यह सब देने की सामर्थ्य उन्हीं में है।

और सम्प्रदायों में धर्मग्रन्थ का दिया हुआ मानते हैं और हमारे सम्प्रदाय में ईश्वर को देनेवाला मानते हैं। परोक्ष व अपरोक्ष के सम्बन्ध में वेद प्रमाण हैं, अनुभव में वही आता है जो वेद बताता है। कोई यदि कहे बाहर जाओगे तो सड़क मिलेगी कोई कहे अंध-विश्वास नहीं करते वह तो कहेगा 'तो मत जाओ।" पर जाने से सड़क मिल सकती है। महाभारत में कठोपनिषद् की पूरी कथा है। नचिकेता सत्य, न्याय, धर्म्म का प्रेमी था। अपने हिस्से को त्यागकर भी पिता से सहमत नहीं हुआ। आपके मन में अधिक महत्त्व किसका है तो आप कहेंगे जब सत्य से काम नहीं चलेगा तो असत्य से काम लेना पड़ेगा तो इसमें प्रवल कौन हुआ।

यदि आपका प्रेम असत्य से है तो सत्य नहीं प्राप्त हो सकता। जिसको ईश्वर पर विश्वास है उसको पिता की सम्पत्ति की कामना नहीं। जैसे पुत्र पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है वैसे ही हम को भी ईश्वर की सम्पत्ति पर अधिकार है? प्रारब्ध पर या पौरुष पर विश्वास है तो पिता की सम्पत्ति का क्या करना। नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आवेश हुआ, उसने कह दिया यह बढ़िया-बढ़िया गउएँ आदि मुझे नहीं चाहिए, मैं भी आपका हूँ आप चाहें तो मुझे भी दान कर सकते हैं (दाढ़ी सफेद होने से कोई बड़ा नहीं होता, जिसकी बुद्धि बड़ी होती है वही बड़ा)। नचिकेता ने कहा—आपके मुँह से निकल गया कि यम को देता हूँ तो मुझे उसका पालन करना चाहिए। आपने शरीर दिया तो आप को मृत्यु देने का अधिकार भी है।

एक महात्मा ने बताया, "जवानी में मैं व्यभिचारी था। जिस व्यभिचारिणी स्त्री से मेरा सम्बन्ध था उसका पहले का एक पुत्र था। जब लड़का जरा बड़ा हुआ तो वह समझने लगा कि मेरा व उसकी माँ का अनुचित सम्बन्ध है। हम दोनों ने मिलकर उसको जहर देने का विचार किया। माँ ने जहर घोलकर दिया कि लड़के को पिला दो। मैं जब गिलास उसे देने लगा तो मेरा हाथ काँपने लगा। लड़के ने पूछा क्या बात है? मेरे मुँह से सहसा निकल गया तुम्हारी माँ ने जहर भेजा है। उसने लपक कर मेरे हाथ से गिलास ले लिया व गटगट सब पी गया। उसकी मृत्यु हो गयी तो मुझे बहुत दुःख हुआ व घरबार छोड़कर साधु हो गया।" सम्भव है लड़के ने सोचा हो कि जिस माँ ने जन्म दिया, दुग्धामृत पान कराया, तो उसका भेजा विष भी पी लूँ।

एक बार चन्द्रभागा को पार करके मैं श्री केशवानन्द जी महाराज के दर्शन को गया। वे दिन भर धूप में खड़े रहते थे—शरीर काला पड़ गया था- आँखें लाल-लाल थीं। मैं चन्द्रभागा का Current तेज होने से डरा हुआ था फिर उसकी लाल-लाल आँखें देखकर डरा तो उन्होंने आश्वासन देकर मुझसे एक बात कही, "अगर तुम्हारी मुट्ठी में धूल भरी है—या गिलास में मिट्टी है तो अगर कोई अच्छी चीज उसमें डाल देंगे तो वह

खराब हो जायगी। इसलिये पहले वर्तन को साफ कर लो।" केवल दिल खाली भर करने की देर है—उसमें ईश्वर स्वयं भर जाता है--प्रकट हो जाता है। संयम में भी परित्याग है।

जब हम मृत्यु को वरण करते हैं तो वह हमारी मित्र बन जाती है और जब हम उससे डरते हैं तो शत्रु बन जाती है। मृत्यु भी भगवान् का स्वरूप है। यम स्वरूप भी भगवान् ही हैं।

जब मनुष्य को रोग होता है या बुखार आता है वह भी एक तप है। जो समझदार है वह उसको ईश्वर की प्रसन्नता का साधन बना लेता है व दूसरा पाप का फल मानकर हाय-हाय करता है।

एक मेरे परिचित सेठ थे उनका दीवाला निकलने लगा तो महात्मा के पास गए 'बचाओ'। उन्होंने पूछा तुमने कुछ रुपया छिपा कर रखा है तो बोले हाँ, डेढ़ लाख रखा है। महात्मा ने कहा उसको दान कर दे। दूसरे दिन सेठ के पास कोई ऐसा व्यक्ति आया कि जिसने इतना रुपया दिया कि सब कर्ज चुक जाय व सब ठीक हो जाय। बाद में सेठ ने यह नियम बना लिया कि जो कोई भी आवे खाली न जावे। उनके घर में फिर धन-धान्य भर गया, तुम्हारे घर में जो पकता है उसका अधिकारी संन्यासी भी है।

यमराज ने जब नचिकेता से वर माँगने का अनुरोध किया तो उन्होंने पहला वर तो यह माँगा कि हमारे पिता जी का मन शुद्ध, पवित्र, स्वस्थ हो जाय और दूसरा जब मैं लौटकर जाऊँ तो उनको विश्वास हो जाय कि मैं आप के पास आया था और मेरे प्रति उनका सद्भाव बना रहे। (एक महात्मा कहा करते थे अपना दिल बचाओ। अर्थात् बुराइयों से बचाओ।) अग्नि सबको जला देती है पर आत्मा को नहीं जला सकती। चील चाहे जितनी ऊँची उड़े बाद में वह मांस पर ही गिरती है। हम लोग चाहे कितनी ऊँची-ऊँची बातें करें पर बाद में शरीर पर लौट आते हैं। हम लोगों के अन्तर में जो अग्नि है वह बुझ गई है—धुआँ ही धुआँ भर गया है! अग्नि को प्रज्वलित करने की चेष्टा करो।) नचिकेता ने तीसरा वर माँगा कि आत्मवस्तु क्या है? यमराज ने पहले टालना चाहा—अनेक प्रलोभन दिये—बाद में उनका सच्चा वैराग्य देखकर समाधान करने को राजी हो गए।

नचिकेता का तीसरा प्रश्न यह था कि कोई कहते हैं मरने के बाद आत्मा है कोई कहते हैं नहीं है। कृपा करके वास्तव में क्या है यह मुझे ठीक से समझाइये। बिना 'अस्ति' के 'नास्ति' की प्राप्ति नहीं होती और बिना नास्ति के अस्ति का अस्तित्व नहीं। इसलिये परमात्मा का साक्षात्कार अस्ति भाव से, (सद् भाव से) करना। जो अस्तिरूप से परमात्मा

की आराधना करता है उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। नेति नेति करने के बाद, निषेध का कोई अन्त कहीं न कहीं होता है, और जहाँ अन्त होता है वहीं परमात्मा बैठा हुआ है ! इसलिये अस्ति नेति दोनों ही प्रकार से परमात्मा को पाया जाता है। जैसे चतुर व्यवहारी दोनों पक्ष को लड़ाकर दोनों का माल हड़प लेता है। अस्ति की प्रेरणा भी वही देता है और नास्ति को भी घुमाता है। अस्ति नास्ति का विवाद सारे लोक व्यवहार में है।

'मैं कौन हूँ—कब से हूँ—कब तक रहूँगा', यह प्रश्न किसी के मन में नहीं उठता। शरीर को लेकर ही मस्त। पड़ोसी के घर की बात जानते हैं अपने घर की नहीं ! आत्मा को जानना सुगम नहीं है—यह कोई आम नहीं है जो चूस लिया। यह सब का धारक है। आपको ईश्वर के बारे में एक बात बताता हूँ। चेतन आत्मा के होने पर ही अपने और पराये का भान होता है। एक साइन्टिस्ट ने कहा कि कण कण की नियमित गति है। इस विश्व का सञ्चालन देखकर मानना पड़ेगा कि इसका सञ्चालन करनेवाला कोई है।

कठिनाई तो यह है कि हमारी इन्द्रियाँ बाहर की ओर जाती हैं....हम यह सोचकर कि हम तो हैं ही उसे भूल जाते हैं और दूसरों को देखने लगते हैं। आपके घर में इतना सुख भरा हुआ है आप दूसरे के घर में सुख लेने के लिये जाते हैं। हिंसा पराई नहीं होती। जब हम किसी पर क्रोध करते हैं तो यह देखते हैं कि हम दूसरे से बदला ले रहे हैं, पर यह नहीं देखते कि हम जल रहे हैं—हमारी हानि हो रही है।

यमराज ने कहा इस प्रश्न का आग्रह मत करो दूसरा वर माँगो। नचिकेता ने कहा—— आप कहते हैं बड़े बड़े देवताओं ने भी आत्मा की खोज की है। जो इस आत्मा का प्रवचन करता है वह भी आश्चर्य है और जो पाता है वह भी आश्चर्य्य है। जो साक्षात् अपरोक्ष है वह अप्राप्त कहाँ है। केवल भूल है। अविद्या से है। यमराज कहते हैं——सुगम नहीं है इसको समझना कठिन है। नचिकेता ने कहा——तब तो आप जैसा बताने वाला मिल गया है— आप मुझे अवश्य बताने की कृपा करें। यदि वस्तु अपरोक्ष है तो वाक्य के द्वारा कोई ज्ञान करा दे तो तुरन्त हो जायगा। अपने बारे में जो ज्ञान होता है उसके बाद और कुछ है ही नहीं। गुरु के पास जब कोई जिज्ञासु जाय तो केवल आत्म ज्ञान के लिये ही जाय। यह नहीं कि थोड़ा धन, थोड़ा मान, बेटा दे देना और साथ ही आत्म ज्ञान दे देना ! गुरु के पास बिना गए आत्मज्ञान नहीं होता। इसलिये अवश्य जाय। नचिकेता ने कहा था कि आप के समान वक्ता नहीं मिलेगा।

गुरु के हृदय में जो विद्या, ज्ञान है वह यदि शिष्य को बोलकर या बिना बोले, ज्ञान करा दे तो वही समर्थ गुरु है। बिना ज्ञान के न कर्म्म है न उपासना और न योग है। जैसे

गंगा जी के किनारे हिन्दू मुसलमान दोनों खड़े हों। हिन्दू समझेगा मैं भगवान् के चरणामृत में स्नान कर रहा हूँ और मुसलमान समझेगा दरिया है।

यमराज ने कहा --तुम दीर्घ-आयु, धन, वैभव, अप्सराएँ आदि सब ले लो पर यह मत पूछो कि मरने के बाद क्या होता है।

नचिकेता ने कहा, महाराज यह आप क्या कह रहे हैं। आप मुझे यह संसार की क्षणभंगुर वस्तुएँ देना चाह रहे हैं। मैं यह सब कुछ नहीं चाहता।

यमराज ने कहा —तुम धन्य हो जो परमार्थ ज्ञान में तुम्हारी इतनी रुचि है।

संयम सप्ताह महाव्रत के शुभ अवसर पर दिये गए अन्य पूज्य महात्माओं के प्रवचन आनन्दवार्ता के आगामी अङ्कों में निकलेंगे।

— —

“भगवान् जब जहाँ जिस प्रकार रखते हैं सभी मंगल के लिये ही होता है। उनके ऊपर निर्भर रह कर सदा चलने की चेष्टा करनी चाहिये। वे चालक, पालक और सर्वस्व हैं।

—श्री श्री माँ

श्री हरिबाबाजी महाराज

(२)

पु० पा० स्वामी श्रीअखण्डानन्द महाराजश्री
अध्यक्ष, भारत साधु-समाज

उनका सब ठीक है

एक वार श्री उड़ियाबाबाजी महाराज से किसीने कहा—'श्री हरिबाबाजी को यह काम करने से मना कर दीजिये।' महाराजने कहा—'बाबा साक्षात् परमेश्वर हैं, वे जों कुछ करते हैं, वही ठीक है। मैं क्यों मना करूँ? तुम्हें उनकी कोई बात नहीं जँचती है तो स्वयं जाकर मना करो।' एक बार किसी भक्तने महाराजजी से कहा—'इस सम्बन्ध में श्री हरिबाबाजीने यह निर्णय दिया है, आप क्या कहते हैं?' वे बोले—'बाबा ने जो कह दिया, वही वेदवाक्य है। उनके कह देने के बाद मुझसे क्यों पूछने आये हो?' महाराजजीके सम्बन्ध में बाबा भी प्रायः ऐसी ही बात कहते थे। असलमें दोनों एक ही थे। और परस्पर एक-दूसरे की बात को अपनी ही बात मानते थे।

विक्षेप भी रामलीला है

दिल्ली में प्रतिवर्ष विशाल रामलीला का आयोजन होता है। उसमें दस-दस लाखतक जन-सम्मर्द होता है। विदेशी राजदूत आते हैं। हमारे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री भी आते हैं। कोलाहल की पराकाष्ठा होती है। भक्त लोग बाबाको भी रामलीला में ले गये। साथमें सेवकके रूप में वैकुण्ठदास भी थे। उन्होंने कहा—'बाबा! यहाँ बड़ी भीड़ है, कोलाहल है, विक्षेप है, अशान्ति है।' बाबा हँसने लगे, बोले—'बावरे! तू यहाँ बानर-राक्षसों का युद्ध देखने आया है या एकान्त-शान्त, समाधिका आनन्द लेने? यह शोर-गुल तो युद्ध-भूमिका है। यहाँ विक्षेपको ही भगवानकी लीला अनुभव करने का है। अपना मन मत देखो, भगवान् की लीला देखो।' क्या अजब और गजब निष्ठा थी उनकी। कच्चे वेदान्ती या योगी उनको कैसे समझ सकते हैं?

नियम पालन के लिये

वैसे देखें तो बाबा के द्वारा बहुत बड़ा प्रचार कार्य हुआ। उत्तर भारत में ऐसा कोई विरला ही नगर होगा, जहाँ उन्होंने पावन नाम के उद्घोषसे वातावरण को पवित्र न बनाया हो। कोई अभागा ही आध्यात्मिक पुरुष होगा जिसके कानोंमें उनके आदर्श चरित्र और

प्रेममय नामकी ध्वनि न पहुँची हो। इतना होने पर भी वे प्रचारके भावसे कितने मुक्त थे--इसका एक उदाहरण देखिये--वृन्दावन के श्री उड़ियाबाबाजी महाराज के आश्रम में वे श्रीधरी के अनुसार गीता पर कुछ उपदेश कर रहे थे। एक अजनबी आदमी बीचमें बोल उठा--'महाराज ! जरा जोरसे बोलिये, सुन नहीं पड़ता।' बाबाने कहा--'भैया ! हम अपना नित्यनियम पूरा करने के लिए गीताका पाठ करते हैं। तुम्हें नहीं सुन पड़ता तो अपना मन और एकाग्र करो, पास आ जाओ। सन्तोष न हो तो चले जाओ। हम भगवान् को सुनाने के लिए पाठ-कीर्तन करते हैं, मनुष्य को सुनाने के लिए नहीं।'

दूसरे को परेशानी से बचाना

किसी प्रेमी भक्तके आग्रह से उसके घर भोजन करने के लिए चले गये। संयोगवश उसकी पत्नी छू गयी। भक्तने स्वयं अपने हाथसे भोजन बनाया। जब बाबा भोजन के लिए बैठे तो देखा कि आलूकी सब्जी एरण्डीके तेलमें बनी है। बाबाने भक्तको यह बात नहीं बतलायी। 'बहुत बढ़िया बनी है'--कह कर धीरे-धीरे सब खा गये। आश्रम पर आनेके बाद दस्त लगने लगे। सेवकोंके पूछने पर बोले--'आज जुलाब ले लिया है।' खिलानेवाले भक्तको मनमें परेशानी न हो, इसके लिए उन्होंने स्वयं परेशानी उठा ली। इतना संकोची स्वभाव था उनका कि श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे आमने-सामने बात भी नहीं करते थे। साथ बैठे रहने पर भी कोई बात पूछनी होती तो दूसरों से पुछवाते। बाबाका हृदय बहुत ही कोमल था।

केवल गुणदर्शन

श्री वृन्दावन धाममें एक विद्वान्के घर कथा सुननेके लिए जाया करते थे। प्रवचनकार भक्ति रसके अच्छे जानकार थे। बाबा जाकर सबसे पीछे बैठ जाते। नजर नीची रखते। कथा समाप्त होने पर चुपचाप उठ आते। साथके सेवकने एक दिन निवेदन किया कि 'भगवन् ! ये सज्जन कथा उच्च कोटि की कहते हैं। परन्तु रहते बड़े ठाट-बाट से हैं। बैठककी एक-एक खूंटीपर अलग-अलग शाल-दुशाले टँगे रहते हैं। यह क्या बात है ?' बाबा ने अपने सेवक को डाँट दिया और कहा--'तुम कथा सुनने जाते हो या इधर-उधर शाल-दुशाले देखने। अपने हृदयको भगवन्मय बनाओ। संसारमें एक ईश्वर ही निर्दोष है।'

परोपकार कैसे ?

बात पुरानी है, पर बाबा ने स्वयं सुनायी थी। जब वे काशीके पास गंगा-तट पर विरक्त-भाव से विचरण करते और भिक्षा माँग-कर खाते, तब उनके पास जन्मभूमिका कोई पूर्व परिचित व्यक्ति आया। उसने अपना कष्ट बताया कि 'मेरे पास घर जानेके लिए रेल-

किराया नहीं है। तुम प्रबन्ध कर दो।' बाबा ने उसे 'न' नहीं किया। अपने मनमें यह संकल्प किया कि प्रत्येक घरसे एक पैसा लेंगे। एक झोली बनाया और उसमें घर-घर एक-एक पैसा माँगने लगे। कोई देता कोई नहीं देता, कहीं अपमान मिलता। वस्तुतः अपमान सहन ही भिक्षाका तत्त्व है। जब अनुमानसे चौदह-पन्द्रह रुपये हो गये, तब उन्होंने वह झोली ही उसको सम्भला दिया। हाथसे पैसा नहीं छूआ। बाबाका यह प्रेम, तप, त्याग, सहिष्णुता और सुशीलता देखकर वह व्यक्ति सदाके लिए बाबाके प्रति निछावर हो गया और आजीवन उन्हींका होकर रहा।

समता और स्वच्छता

बाबाके परिकरमें सभी जातिके लोग सम्मिलित होते थे। उनके पास वर्ण, आश्रम, मजहब, पन्थ आदिका कोई भेद नहीं था। उनके निकट परिकरमें विद्वान् अग्रज, भोले अन्त्यज, मुसलमान एवं ईसाई भी सम्मिलित थे। सिक्खोंकी तो एक बड़ी संख्या थी। वे किसीके पाँव छूनेमें हिच-किचाते नहीं थे। सबको हृदयसे लगा लेते थे और सबको प्यार करते थे। उन्हें सफाई सबसे अधिक पसन्द थी। बाँधपर गोबरसे लीपना और मिट्टी डालना हमेशा चलता रहता था। दिन भर गिरते हुए पत्तोंको झाड़नेके लिए लोग लगे रहते थे। यदि वे कहीं नयी जगह भी जाते तो क्या ब्राह्मण, पण्डित, क्या राजा-रईस, क्या शूद्र सबको सफाईके काममें लगा देते थे। एक बार हम लोग सिद्ध सन्त श्री त्रिवेणीपुरीजी महाराजके उत्सवमें खन्ना गये थे। वहाँके रास्ते गन्दे थे—नागफनी और सेंहुड़से घिरे हुए थे। बाबाने बाँधके लोगोंको सफाईके काममें लगा दिया। मैं उधरसे निकला। पण्डित छविकृष्ण दीक्षित और ठाकुर साहब बहादुर सिंह फावड़े से कूड़ा-कचरा हटा रहे थे। उन्होंने मुझे प्रणाम करकें कहा—'स्वामीजी! हमारी तो जात पहचानी गयी। कहते हैं कि चमार जहाँ जाता है वहाँ उसे चामका ही काम करना पड़ता है। हम बाँधके लोग जहाँ जाते हैं, यह टोकरी और फावड़ा हम लोगोंके पीछे-पीछे जाता है।' ये लोग आजीवन जान हथेलीपर रखकर बाबाकी सेवामें रहे। बाबा पाँच-पाँच सात-सात मील तककी सफाई करवाते थे और कहते थे—'सफाई ही खुदाई है।'

पण्डित जी, दण्डवत्!

बाबाकें साथ एक रसिक विद्वान् श्री सुन्दरलाल जी रहा करते थे। वे रोम-रोमसे बाबाके प्रति प्रेम करते थे। मुँह लगे इतने थे कि सामने ही खरी-खोटी सुना देते। भरी सभामें भी अनाप-शनाप बोल देते। कहते— इतनी भीड़, इतना काम, इतना प्रपञ्च इकट्ठा करनेकी क्या आवश्यकता है।' सचमुच उनका जीवन त्यागमय था। एक दिन

बाबा और वे—दोनों स्नानके लिए गंगाजीमें उतरे। तैरनेकी कलामें दोनों ही पारंगत थे। सब लोग किनारे पर रह गये और वे दोनों आगे बढ़ते गये। धीरे-धीरे गंगा पार पहुँच गये। बाबाने कहा—'पण्डित जी! आओ अब यहींसे हरिद्वार चलें।' पण्डितजी ने कहा—'न लोटा, न धोती, यहीं से कैसे चलें?' बाबा ने कहा—'अच्छा, पण्डितजी! अब आप जाइये, लोटा-धोती सँभालिये। मैं चला, दण्डवत्।' वे अकेले चल पड़े। पण्डितजी लौट गये! बाबा कई दिनों तक गुप्त रहे। भक्तोंने उन्हें उत्तरकाशीमें पकड़ा। वहाँ भी उन्होंने किसीको अपना परिचय नहीं दिया। एक प्रसिद्ध संन्यास-आश्रमके अधिकारियोंने उन्हें उदासी समझकर निकाल दिया। उन्होंने पूछनेपर साफ कह दिया था कि 'मैं संन्यासी-उदासीका भेद नहीं जानता।' असलमें उन्होंने भेदभावको जड़से उखाड़ फेंका था और निस्पृहता का आभूषण धारण कर रक्खा था।

विविध पक्षों में समता

उनके कार्यक्रमकी एक असाधारण प्रणाली यह थी कि जब भक्तोंमें यह मतभेद हो जाता, तब विभिन्न पक्षोंको कागजके विभिन्न टुकड़ों पर लिखवाकर ठाकुरजीके सामने रखवा देते और प्रार्थना-कीर्तन करके किसी अनभिज्ञ बालकसे उठवाते। जो लिखा हुआ निकलता, उसके अनुसार व्यवहार करते। सामान्य रूपसे यह बात बुद्धिमानोंको ठीक नहीं जँचती थी। किसी भी युक्तिसंगत और उचित पक्षको संयोग पर छोड़ देना भला कौन पसन्द करेगा? मैंने इस पर विचार किया और मुझे ऐसा लगा कि यह उनकी समताका लक्षण था। वे संसारके विविध विवादास्पद विषयों, व्यक्तियों, स्थानों एवं कर्त्तव्योंको समताकी दृष्टिसे ही देखते थे। इसलिए चाहे जो भी होगा, उसमें जीवोंका हित ही होगा। उनकी यह दृढ़ निष्ठा थी। उन्हें सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होता था या ईश्वर-दर्शन—यह एक अलग प्रश्न है; परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि सृष्टिके विभिन्न पक्षोंमें उन्हें सम एवं अनुकूल परमार्थका ही दर्शन होता था।*

---

*'चिन्तामणि से साभार पुनर्मुद्रित

श्री माता का मन्दिर

(३)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज

त्रिकोण के अन्तर्गत योगी के लिए विशेष रूप से अनुसंधान के चार विषय हैं—प्रथम पीठ, द्वितीय लिंग, तृतीय वर्ण और चतुर्थ अवस्था। यह जो चार शक्तियाँ प्रकाश और विमर्श के अंशरूप अम्बिकादि और शान्तादि नाम से ज्ञात हैं, ये ही पहले त्रिकोण रूप धारण करती हैं। इसके बाद उस त्रिकोण में पीठादि का उदय होता है। स्मरण रखना होगा कि शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व ही नामरूपात्मक हैं। यह सब स्वरूप में, बीज रूप में और बाहर सृष्टि रूप में भासमान होता है। ये चारों शक्तियाँ क्रमश: सामरस्य प्राप्त करते हुए चार पीठों में प्रकट होती हैं। प्रथम पीठ कामरूप, द्वितीय पूर्णगिरि, तृतीय जालन्धर और चतुर्थ ओड्यान पीठ। इन चारों शक्तियों का सामरस्य अवस्था पीठ के नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी पीठों के स्थान मानव देह के भिन्न-भिन्न प्रदेश में है, इसे जानना पड़ेगा। कामरूप पीठ का स्थान सुषम्ना के मूल में स्थित कन्दभूमि में है। कन्दस्थित पिण्ड कुण्डलिनी नाम्नी शक्ति में लक्षित होता है। यही कुण्डलिनी शक्ति ज्ञान और क्रिया दोनों रूपों में है। इसे साक्षात् परमेश्वरी कहा जाता है। यह प्रसुप्त भुजंगम की तरह रूप-विशिष्ट है। यह मातृकारूपिणी है। साधक वायु का कन्दमूल में सञ्चालन करते हैं। कन्द के पश्चात् द्वितीय स्थान का नाम है—पद। इसका नामान्तर हंस है। यह द्वितीय पीठ है। तृतीय पीठ का नाम रूप अथवा बिन्दु है। चतुर्थ पीठ का नाम रूपातीत है। यही निरंजन तत्त्व का वाचक है। रूपातीत वास्तव में चिन्मय सत्ता का ही स्वरूप है। इन चारों पीठों का स्थान भी चार हैं। पिण्ड का स्थान मूलाधार, पद का स्थान हृदय, रूप का स्थान भ्रू-मध्य और रूपातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में है। पीठों के आकार भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम पृथ्वी रूप में, द्वितीय जल रूप में, तृतीय वायु रूप में एवं चतुर्थ तेजोरूप है। प्रथम पीठ भूतत्त्व है। आगम मत से भूतत्त्व चतुरस्र है, इसे स्मरण रखना होगा। द्वितीय पीठ छः बिन्दुओं से युक्त वायु-मण्डल है। यही पूर्णगिरि है। वायु मण्डल में छः आवर्त्त हैं। तृतीय पीठ अर्द्धचन्द्राकार है। जालन्धर इस पीठ का नाम है। यह जल तत्त्व का मण्डल है। जलतत्व अर्द्धचन्द्राकार है, यह बात प्रसिद्ध है। चतुर्थ पीठ ओड्यान। इसका आकार त्रिकोण है। यह अग्नि मण्डल का स्वरूप है। ये चारों पीठ प्रकारान्तर से चार भूतों के वाचक हैं। आकाश तत्व का रूप नहीं

है, इसलिए उसका उल्लेख नहीं किया गया। पीठों का वर्ण क्रमशः पीत, धूम्र, श्वेत और रक्त है। पीठों का यह क्रम आम्नाय सम्मत है। प्रत्येक पीठ में एक-एक लिंग है। पीठ भेदानुसार लिंगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। कामरूप के लिंग का नाम स्वयंभू, पूर्णगिरि के लिंग का बाण, जालन्धर के लिंग का इतर और ओडयान पीठ के लिंग का नाम परलिंग है। स्वयंभू लिंग का वर्णसुवर्ण की भाँति है, बाण लिंग का वर्ण रक्त की भाँति है, इतर लिंग का वर्ण पुष्प की तरह और परलिंग का वर्ण शुभ्र है।

लिंग शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न के उत्तर में आगम का कहना है कि जो लीन सत्ता को प्रकट करते हैं (लीनं गमयति) वही लिंग है। अर्थात् वाह्य इन्द्रियों के लिए अगोचर पदार्थों को अभिव्यक्त करनेवाले को लिंग कहा जाता है। कामरूपादि पीठ चित् की स्फुरता का आधार है, इसलिए उपासना का प्रकृष्ट स्थान है। ये पीठ देहदृष्टि से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों अन्तःकरण के चार रूप हैं। इनमें लिंग रूप में चित्सत्ता की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति होती है और ये स्वयंभू इत्यादि के नाम से वर्णित होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

अब हम स्थूल दृष्टि से श्रीचक्र के स्तरों का वर्णन करेंगे। पहली बात तो यह है कि यह चक्र बिन्दु चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह शिव भाव का द्योतक है। भैरवयामल में लिखा है कि यहीं परमेश्वरी सर्वातीता होने पर भी शिवसम्पृक्त होकर बैन्दव अवस्था में विराजमान हैं। बिन्दु को शिवशक्ति की घनीभूत अवस्था मान लेना पड़ेगा। इसके बाद त्रिकोणचक्र का स्थान है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना होगा कि अर्थरूपा जागतिक सृष्टि शब्दमूलक है। प्रलयकाल में समग्र सृष्टि शब्द-ब्रह्मरूप परावाक् में आकर विलीन हो जाता है। इसी परावाक् या मूल-बिन्दु से पश्यन्त्यादि तीन वाकों का उद्भव होता है। तृतीय चक्र अष्टार के नाम से प्रसिद्ध है। किसी-किसी का ख्याल है कि शिव चतुरस्र और जीव चतुरस्र के मिलन से अष्टकोण उद्भूत होता है। शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिवतत्त्व ये चारों एक साथ शिवचतुरस्र नाम से प्रसिद्ध हैं। तद्रूप माया, माया से उद्भूत तीन अन्तःकरण एक साथ मिलकर जीवचतुरस्र नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इन दोनों के मिलने से अष्टकोण या अष्टार उद्भूत होता है। यही शिव जीव भाव के सम्पादक हैं। अर्थसृष्टि की ओर से यह कहा गया। किन्तु अर्थ का वाचक शब्द सृष्टि का भी तो है। तदनुसार य वर्ग अर्थात् य र ल व यह जीव चतुरस्र एवं श वर्ग अर्थात् श ष स ह ये चारों शिव चतुरस्र हैं। इस स्थान पर 'आठ योनि' अभिव्यक्त होता है। इनमें चार शिव भाव के और चार जीव भाव के व्यंजक हैं। अष्टार की आठ योनि और मूल त्रिकोण की एक योनि एक साथ नव-योनि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके साथ मध्य बिन्दु का योग होने पर कुल संख्या दस हो

जाती है। यह अत्यन्त गुह्य तत्व है, कारण यहाँ शिव और जीव का चतुरस्र है, मध्य त्रिकोणरूप एक योनि है, साथ में मध्यबिन्दु युक्त है। इसीलिए प्रधान देवता की पूजा अष्टार में करने की विधि है। इसकी मुख्य देवता महात्रिपुरसुन्दरी हैं—शिव और जीव दोनों ही उनके अंग हैं।

विन्दु, त्रिकोण और अष्टार ये तीनों चक्र एक साथ प्रमातृपुर, स्वप्नवासना और अग्निखण्ड के नाम से परिचित हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से ये तीनों चक्र सृष्टिचक्र हैं। इनमें विन्दु चक्र सृष्टि-सृष्टि, अर्थात् इच्छारूप, त्रिकोण चक्र सृष्टि-स्थिति या ज्ञानरूप, और अष्टार चक्र सृष्टि-संहार अथवा क्रियारूप है। इन तीनों चक्रों के नाम सदानन्दमय, सर्वसिद्धिप्रदायक और सर्वरक्षाकर हैं। यहाँ आश्रय हुए कामेश्वर और आश्रयी हुई कामेश्वरी। दोनों के मिलने से चार आयुध उत्पन्न होकर अष्टार में अवस्थान करते हैं। चारों आयुध हैं—पाश, अंकुश, धनुष और बाण। वामादित्रय और इच्छादित्रय तीन प्रकारों में विभक्त होकर दो वह्नि और एक शक्ति के संयोग में अष्टार चक्र की रचना करते हैं। इस अष्टार चक्र में वह्नि और शक्ति रूप में नवचक्रात्मक रूप होता है। कामेश्वर और कामेश्वरी के तेज अपने सूक्ष्म पुर्यष्टक में विभक्त होते हुए वशिनी प्रभृति अष्टार के देवता रूप धारण करते हैं।

अब तक की गयी चर्चा से क्या समझा गया? यह समझा गया कि शिव शिवतत्वादि घटक शुद्ध विद्यादि चारों तत्वों एवं जीवभाव का सम्पादक मायादि कंचुकमूल दस तत्व और मूल अक्षर दस य र ल व श ष स ह क्ष और म का प्रादुर्भाव होता है। इन सभी चर्चाओं का सारांश यह है कि श्रीचक्र का इसी अंश के कारण शरीर की सृष्ठि रहस्य है। अब लिंग शरीर को सृष्टि को समझना चाहिए।

अब अन्तर्दशार और बहिर्दशार इन दोनों चक्रों की चर्चा की जा रही है। ऊपर शिव और शक्ति रूप जो दोनों तेज वशिनी प्रभृति रूप में या पुर्यष्टक रूप में स्थित रहे, वही तेज इस समय अन्तर्दशार के इन्द्रिय रूप में विभक्त हुए। इनकी पूजा होती है सर्वज्ञादि दस देवता के रूप में। यह सर्व रक्षाकर चक्र है, क्योंकि दस इन्द्रियों का रक्षाकारक हैं।

यह हुआ बहिर्दशार का उक्त दस इन्द्रियों का दस विषय—गन्धरसादि और वचन आदानादि लेकर यह चक्र सर्वार्थसाधक चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ सर्वसिद्धप्रद देवता की पूजा होती है। यह पूर्वोक्त दोनों तेजों का नाम मात्र है। इस बहिर्दशार के चारों विदिक् कोणों में चार मर्मस्थान हैं। इनमें चार त्रिकोणों की भावना होती है। इन चारों त्रिकोणों के द्वारा घटित एक चतुरस्र कल्पित होता है जिसके चारों कोणों में प्रकृति अहंकार, बुद्धि और मन कल्पित होते हैं। इनकी वाचक चार मातृकाएँ प फ ब भ। भकार जीव रूप त्रिकोण के साथ संश्लिष्ट है। अन्तर्दशार के वाचक वर्णों के नाम टवर्ग और तवर्ग अर्थात् (ट ठ ड

ढ ण, त थ द ध न), बहिर्दशार के वाचक मन्त्र कवर्ग और चवर्ग—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ है। यही हैं दो दशारों के बीस कोणों में रहनेवाले। चतुरस्र के चार बीज कुल चौबीस बीज होते हैं। इन चौबीस वर्णों में दो-दो वर्णों के संयोग से एक ओर होता है ग्राह्य एवं दूसरी ओर ग्राहक।

इस तरह सूर्य की द्वादश कलाएँ व्यक्त होती हैं। प+फ=प्रकृति, ब+म=मन। ये सब चतुरस्र की प्रधान कलाएँ हैं। यही चतुरस्र है विश्व चक्र। शेष दस कलाएँ हैं—इन्द्रिय। तन्मात्र रूप अवयव कला है। इसलिए दो दशार और चतुरस्र मिलकर सौरखण्ड बने। यह है प्रमाणपुर और जागरात्मक।

जब तक अन्तर्दशार के तत्व या विषय बहिर्दशार के या इन्द्रिय के तत्त्वों को अपनी व्याप्ति द्वारा आच्छन्न नहीं कर लेते अर्थात् जब विषय अपने-अपने अभ्यन्तर रूप में विलीन रहते हैं तब दसों इन्द्रिय और शब्दस्पर्शादि पांच और पाँच अदृष्ट इसके बाद मन और पुरुष इन सतरहों तत्त्वों से लिंग शरीर की रचना होती है।

मूल कारण रूप सूक्ष्मविन्दु अव्यक्त क्रमशः बाह्य रूप में विकसित होकर इन्द्रियादि भाव ग्रहण करता है और लिंग शरीर की रचना होती है। इसी तरह अन्त्यावयवी तक की रचना होती है एवं बाह्य रूप में परिणत होकर स्थूल शरीर की रचना होती है। इन सभी अवस्थाओं की सूचना चतुरस्रगर्भित दो दशारों में दृष्ट होती है। स्थूल शरीर के द्वारा जगत् व्यवहार के सम्पादक सूर्य हैं, कारण इसमें जड़ और अजड़ दोनों का समावेश है।

जड़ से मतलब है चन्द्रकला एवं अजड़ का मतलब है वह्निकला। जाग्रत पुरुष उक्त प्रकार त्रिचक्र, इन्द्रिय और विषय (चेतन और जड़) दोनों का सम्मिश्रण है। यह हुआ दोनों दशारों का परिवेश।

इसके बाद शिवशक्ति युगल तेज चौदह शक्ति रूपों में परिणत होता है। इसका नाम होता है संक्षोभिनी आदि। ये शक्ति समूह चतुर्दशार के चतुर्दश कोणों में अवस्थित हैं। उसी स्थान पर इनकी पूजा होती हैं। ये चौदहों तेज पिण्डाण्ड की दस इन्द्रियाँ हैं एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। इन चतुर्दशार के चान्द्रखण्ड और जड़ हैं। इसका नाम है सुषुप्तिपुर। चन्द्र की सोलह कलाएं प्रसिद्ध हैं। उनमें अ से औ तक चौदह वर्ण चौदह कलाएँ हैं। अं एवं अः इन दोनों का संयोग होने पर षोड़श पूर्ण होता है। इसी को षोड़श कलाएं कहते हैं। बिन्दु से चतुर्दशार तक श्रीचक्र मुख्य हैं।

अब अष्टदल, षोड़शदल और भूपुर की बातें बता रहा हूँ। इस सम्बन्ध में स्मरण रखना होगा कि समस्त चक्र बिन्दु रूप में है। बिन्दु से ही शक्ति के प्रभाव में चतुर्दशार तक कल्पित होता है। त्रिकोण से चतुर्दशार तक शक्ति चक्र हैं—इन सभी के गर्भ में शिवचक्र

भी है। चतुर्दशार के बाहर है कमल, उसमें आठ देवियों की पूजा होती है। वस्तुतः ये आठ देवियाँ शिव शक्ति का अष्टधा विभक्त रूप है। यह सर्वसंक्षोमक चक्र है। क्षोम सृष्टिकारक है, यह स्मरण रखना होगा। यह अष्टदल कमल के अन्तर्गत है, इसलिए अग्निखण्ड और प्रमातृपुर है। बिन्दुरूप एक ही वह्नि की आठ कलाएँ हैं। विसर्ग या चतुर्दशार के बाहर स्थित बिन्दु अष्टदल के अष्टार चक्र में अन्तर्भुक्त है, इसलिए चतुर्दशार का मध्यस्थ हो जाता है। भैरवयामल में कहा गया है कि चार शिवचक्र और शक्ति चक्र द्वारा श्रीचक्र की रचना होती है। यथार्थं श्रीचक्र शिवशक्ति का सम्पुट है। चतुर्दशार तक नवचक्रों का अन्तर्भाव समझना चाहिए। नवचक्रों में शक्तिचक्र पाँच अर्थात् त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुरस्र। शिवचक्र चार हैं—बिन्दु, अष्टदल, षोड़शदल और चतुरस्र। त्रिकोण में बिन्दु, अष्टार में अष्टदल, दो दशारों में षोड़शार एवं चतुर्दशार में चतुरस्र अन्तर्भुक्त हैं। सर्वत्र ही शिवशक्ति का अविनाभाव स्पष्ट है। जो इसे जानता है, वह वास्तव में चक्रज्ञ है। इसीलिए कोई-कोई सोचता है कि शिवचक्र को चतुर्दशार के बाहर लिखना विड़म्बना मात्र है।

——

"यदि चिन्तन करना हो तो उन्हीं का चिन्तन, काम करना हो तो उन्हीं की सेवा।"

—श्री श्री माँ

माँ का प्रथम दर्शन

"जनैक भक्त"

कौन थी वह शुभ घड़ी,
जब दर्शन माँ के पाए थे।
जन्मान्तर के पुण्य ही मानो,
सिमट के सन्मुख आए थे ॥

या अहैतुकी कृपा से अपनी,
उन ही ने अपनाया था।
कर ले धन्य इस जीवन को,
शरण में अपनी बुलाया था ॥

माता पिता सत्संगी थे,
सन्तों का दरश तो पाया था।
पर दर्शन ऐसा तो मन में,
सपने हू नहीं आया था ॥

दर्शन पा मैं तो हुई अवाक,
क्या ऐसा भी कोई जग में है।
खोज रहा था मन जिसको,
क्या वही यहां इस रूप में है ॥

इस छोटे से मन में सदा,
एक अभाव खटकता था।
मन ढूँढ़ता था कुछ खोया सा,
उसको कहीं न मिलता था ॥

पाकर उनके दिव्य दरश,
उस अभाव का अभाव हुआ।
मिला मानो सब एक सङ्ग,
ऐसा कुछ प्रभाव हुआ ॥

जा तो बैठी सन्मुख उनके,
पर बात कही नहीं जाती थी।
अन्तरयामिनी माँ सब मन की,
बात जाननी जाती थी।।

प्रथम भेंट में ही कुछ माँ की,
अलौकिकता का ज्ञान हुआ।
और उनकी ही कृपा से उनकी,
सर्वज्ञता का भान हुआ।।

चलने का जब समय हुआ,
तब मन बड़ा उद्विग्न हुआ।
बह निकली चक्षुओं से धारा,
चित्त बड़ा ही खिन्न हुआ।।

सोचा साथ के लोग हँसेगें,
यदि उन्होंने देख लिया।
चुपके से झटपट उनको फिर,
अञ्चल से तो पोंछ लिया।।

कैसा अद्‌भुत दर्शन उनका,
कैसा अद्‌भुत आकर्षण।
कैसी अद्‌भुत लीला उनकी,
कैसा अद्‌भुत कृपा वर्षण।।

घर को लौटी पर अब मन में,
धुन कुछ यही समाई थी।
कब दर्शन फिर होंगे माँ के,
ऐसी एक छटपटी आई थी।।

हिमाचल के अंचल में

(२)

कुमारी गीता बनर्जी

ज्येष्ठ २८, मंगलवार। इस दिन हमें केवल १० ही मील जीप में जाना था। अभी ऊषारानी अपने सुकोमल शरीर पर नवविकसित लालकमल की कली की तरह मनोहर प्रातःकालीन अंगराग लगाने में तत्पर ही थी कि हम यहाँ से चल पड़े। करीब साढ़े आठ बजे हम कूटनौर पहुँचे। यहाँ से यमुनोत्री का पैदल मार्ग प्रारम्भ होता है। यहाँ हमारे सामानों को तौला गया। ऐजेण्ट से चार कुली लिए गये। हमने भी अपने-अपने थैलों को पीठ पर लाद लिया, धूप के चश्मे पहन लिये तथा हाथ में छड़ियाँ ले लीं। हमारी एक सहयात्री ने हम सबकी तसवीरें खींची। अब यमुना मैया की तथा श्री श्री माँ की जय देते हुए चलना प्रारम्भ किया। आगे आगे कुली लोग जा रहे थे। कूटनौर में चलते समय पहले ही एक खड़ी चढ़ाई पड़ती है। पहले हम बड़े उत्साह से जल्दी-जल्दी चले। दृश्य तो रमणीय था ही। हमारे दोनों ओर गगनचुम्बी पर्वत, सामने तुषाराच्छादित हिमाद्रि के उत्तुङ्ग शिखर, और नीचे नीलाभ वस्त्रावृता यमुनामाता बहती हुई चली जा रही थीं। कहीं तो वह कुछ शान्त दिखाई दे रही थीं, और कहीं वह भीषण रूप धारण कर लेती थीं। यमुनाजी की इस अपूर्व छटा को देखकर मुझे एक बंगला गीत याद आया——

ओरे नील यमुनार जल
बल् रे मोरे बल्
कोथाय घनश्याम, (आमार) कृष्णघन-श्याम।
आमि बहु आशाय बुक बेंधे जे एलाम—
एलाम व्रजधाम।
तोर कोन कूले कोन वनेर माझे
कानुर वेनु वाजे, वेनु वाजे,
आमि कोथाय गेले सुनते पाव,
'राधा' 'राधा' नाम॥ इत्यादि।

हम कुछ क्षण में ही यमुना चट्टी पहुंच गये। हमें यहाँ एक पंजाबी यात्रीदल मिला। वे केवल गंगोत्री-यमुनोत्री की यात्रा कर लौट जायेंगे। यहाँ से सयाना चट्टा तक

३ मील खड़ी चढ़ाई है। धूप चढ़ी हुई थी। अतः चलने में कुछ कठिनाई हो रही थी। पर श्री श्री माँ की कृपा से हम दोपहर तक सयाना चट्टी पहुँच गये। यहाँ हमने विश्राम तथा भोजन कर लिया। अब मार्ग कुछ समतल था। पर मध्याह्न गगन में भगवान् भास्कर अपनी प्रखर किरणों से सबको भस्मीभूत से करते हुए चमक रहे थे। हमने साथ में बोतलों में उबला हुआ पानी भर लिया था। उसे ही थोड़ा-थोड़ा पान करते जा रहे थे। रास्ते में एक यात्री बड़े प्यासे मिले, मैंने अपनी बोतल से उन्हें थोड़ा जल पिला दिया। हम सब चलते-चलते थक गये थे। कहीं-कहीं अतिकष्टदायक उतराई थी। कहीं-कहीं पथ बहुत संकीर्ण तथा विपज्जनक था। नीचे गम्भीर खाई। थोड़ी-सी असावधानी होने से ही अतल गम्भीर अन्धकारमय खाई में विलीन हो सकते हैं। सभी के पैर में कुछ-कुछ दर्द होने लगा। मेरी बोतल का पानी भी समाप्त हो चुका था। हमने सुन रक्खा था कि पहाड़ी झरने के पानी से पेट खराब हो जाता है। इसीलिये हमने उबला हुआ जल साथ में ले लिया था। पर तृष्णातुर होकर मैंने एक झरने से पानी पी लिया। पथ का अन्त नहीं, कष्ट का भी अन्त नहीं ऐसा ही लगता था। हमारी एक साथी ने कण्डी कर ली। पर धीरे-धीरे सन्ध्या-देवी का आगमन हुआ। सूर्य भगवान् अस्ताचल को ढल गये। तुषारमण्डित हिमाद्रि के उन्नत शिखर पर सूर्य की अरुण किरणें प्रतिफलित होने से कनकमय सौध की तरह वह हिमकिरीट शोभित होने लगा। रंग-विरंगी विचित्र पहाड़ी पक्षियाँ अपने घोंसले को उड़ती हुई चली जा रही थीं। हम सब भी धीरे-धीरे अपने गम्यस्थल की ओर अग्रसर हो रहे थे। दूर से एक सुमिष्ट कण्ठस्वर में गीत की ध्वनि सुनाई दे रही थी। पर पद समझ में नहीं आ रहा था। शायद कोई पहाड़ी बालक गायों को चरा कर घर लौटते समय अकेला गाता हुआ चला जा रहा था। अब इस शान्त गम्भीर तथा स्निग्ध वातावरण में हमारा सम्पूर्ण श्रम दूर हो गया। अन्त में हम सन्ध्या तक हनुमान चट्टी पहुँच गये। आज हम १० मील चले। किसी-किसी के पैर में फफोले पड़ गये थे। अतः सब अपनी-अपनी पदसेवा कर यथा समय भोजनादि समाप्त कर निद्रादेवी की शरण में पहुँचे।

ज्येष्ठ २६, बुधवार। इस दिन हमें ९ मील दुर्गम पार्वत्य पथ का अतिक्रमण कर यमुनोत्री पहुँचना था। ऊषाकाल के अस्पष्ट प्रकाश में ही हम लोग निकल पड़े। रास्ता बिल्कुल सुनसान, हमारे चारों ओर देवदार वृक्षों से आच्छादित उच्च पर्वतशृङ्ग विराजमान थे। मुझे क्षण भर के लिये ऐसा प्रतीत हुआ कि आज से हजारों वर्ष पहले जो ऋषि-महर्षि यहाँ निवास करते थे वे ही मानों ब्रह्मानन्द में मग्न होकर ये देवदारु तरुराजी के रूप में स्तब्ध हो खड़े हैं। वहाँ के प्रत्येक वृक्ष के रूप में ही उस प्राचीनकाल के ब्रह्मज्ञ मन्त्र-द्रष्टा-त्रिकालदर्शी ऋषि-महर्षि मानों आज भी विराज रहे हैं। और हम यात्रियों को

मूक आशीर्वाद देकर धन्य कर रहे हैं। सुबह ठण्डक में चलने से थकान कम होती है। प्रायः छायाशीतल तीन मील पथ का अतिक्रमण करने के बाद वन के अन्तिम प्रान्त से बहुत दूर विस्तृत हिमाद्रि के चिरतुषारमण्डित उत्तुङ्ग शिखर देखकर हम लोग मन्त्रमुग्ध हो गये। शुभ्र हिमानी सूर्य-किरण-सम्पात से हेमवर्ण-रंजित है। देखते-देखते हृदय की अतृप्त वासना बढ़ती जा रही थी। नेत्र और भी देखना चाहते थे उस विमल शोभा को,——इस प्रकार हम फूलचट्टी पहुँचे। यहाँ हमारे सहयात्री कुछ पीछे रह गये थे अतः मैं उनकी प्रतीक्षा में क्षण भर रुकी थी। यहाँ हमें एक महिला मिली। वह तीन बार गंगोत्री-यमुनोत्री कर चुकी थी। अब चौथी बार जा रही थीं। उन्होंने कहा कि आगे मार्ग अच्छा है। पर भैरवघाटी से यमुनोत्री तक खड़ी चढ़ाई है। हम धीरे-धीरे चल रहे थे। स्थान-स्थान में पहाड़ी गुलाबों की बड़ी ही आनन्ददायक सुगन्ध आ रही थी। इस मार्ग में विचित्र फूलों का दृश्य अति रमणीय है। कैसे स्निग्ध और कमनीय दृश्य! यह तो फूलों का राज्य है। जहाँ तक दृष्टि जाती है सुमनों का उद्यान ही दिखाई देता है। प्रकृति देवी ने मानों परम देवता की पूजा के लिये इस विशाल फूलों के टोकड़े को यत्न से सजा रक्खा है। जिनके इशारे से इस प्रकार सुन्दरता की सृष्टि हुई है, उस चिरसुन्दर के चरणों में सिर अपने आप झुक गया। हमारी एक साथी इन फूलों को एकत्रित करने में तत्पर थी। हम जानकी चट्टी में पहुँच गये। यहाँ से दो मील दूर पर भैरवघाटी है। वहाँ से यमुनोत्री तक ढाई मील खड़ी चढ़ाई है। हम जानकी चट्टी में भोजन तथा विश्राम कर चल पड़े। आज पर्जन्यदेव भी हम पर कुछ रुष्ट से जान पड़े। वे क्षण-क्षण में बरसने लगे। हमने भी उनसे लोहा लेने के लिये बरसाती पहन लिया। यात्री लोग कोई ऊपर से आ रहे थे। कोई जा रहे थे। यात्रियों में अधिकतर राजस्थानी और पहाड़ी थे। अन्य जातियाँ भी थीं। हमें दो बंगाली भाई भी मिले। वे बता रहे थे कि कल यमुनोत्री में खूब वर्षा हुई थी। पर आज कुछ बन्द है। वहाँ रात्रिवास के लिये कालीकमलीवाले की चट्टी तथा एक डाकबंगला है। यात्रियों में अधिकांश लोग ही जिस दिन जाते हैं. उसी दिन दर्शन कर वहाँ से नीचे उतरकर फूल चट्टी या जानकी चट्टी में ठहरते हैं। पर हमारा विचार था वहाँ रात्रिवास का। यात्रा के इतने कष्ट होते हुए भी सभी यात्री प्रसन्न दीख रहे थे । वे "जय यमुना मैया की" यह ध्वनि देते हुए चले जा रहे थे। भैरवघाटी के मार्ग में मैं कुछ आगे बढ़ गई थी। अतः सहयात्रियों की प्रतीक्षा में मैं एक चट्टान के ऊपर बैठ गई। इतने में ऊपर से एक वृद्ध सज्जन आकर मेरे सामने खड़े हो गये। वे या तो मुझे मद्रासी या ईसाई धर्मावलम्बी समझे होंगे। चेहरे से वे भी कुछ अधिक प्रलापी लग रहे थे। कुछ देर बाद उन्होंने मुझसे अंग्रेजी में पूछा "बहन जी! क्या आपके साथी लोग कहीं रास्ता भूल गये हैं? क्या उन्हें मार्ग नहीं

मिल रहा है ?' मैंने भी उसी भाषा में कहा "नहीं ! नहीं ! वे पीछे आ ही रहे होंगे । वे कुछ पीछे रह गये हैं ।" यह सुनकर वह सज्जन कुछ आगे बढ़ गये । पर फिर वे वापस आकर अंग्रेजी में ही मुझसे पूछने लगे 'आप ऊपर जा रहे हैं ? या नीचे ?" मैंने संक्षिप्त जवाब दिया "ऊपर" । यह सुनकर वे कुछ सहम कर चले गये । शायद उन्होंने सोचा था कि उनको अपना प्रलाप सुनाने के लिये एक साथी मिल जायेगी । भैरवघाटी से यमुनोत्री तक खड़ी चढ़ाई है । इस दुर्गम पथ को देखकर मैंने विचार किया कि आज से हजारों वर्ष पहले जब कोई भी यानवाहन का आविष्कार नहीं हुआ था तब हमारे पूर्वज कितने कष्टों को झेलते हुए इस दुर्गम पथ से चले होंगे । अवश्य ही उनमें मनोबल, तेजोबल हमसे कहीं अधिक रहा होगा । उनकी भक्ति श्रद्धा भी अपूर्व थी । मुझे कभी-कभी यह सोचकर गर्व हो रहा था कि सभ्यता की उस शैशवावस्था में जब संसार के सभी देश अज्ञानरूपी अन्धकारमय कूप में मग्न थे वे जानते भी नहीं थे कि सभ्यता किस चिड़िया का नाम है, उसी समय हमारे देशवासी गम्भीर तथा सूक्ष्म चिन्तन द्वारा आत्मा तथा परमात्मा के ऐक्य के सिद्धान्त पर पहुँच चुके थे । उन्होंने अपने ज्ञानरवि के प्रकाशमय किरणों द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारमय कूप में पतित संसार को प्रकाशित किया है । इसका एकमात्र कारण हमारा यही नगरज गिरिराज हिमालय है । उस प्राचीनकाल में सिद्ध ऋषि-महर्षि लोक-कोलाहल से दूर रहकर लोक-कल्याण के लिए इस निर्जन, शान्त तथा गम्भीर गिरि गह्वर में परमार्थ चिन्तन में मग्न रहे । यही कारण है कि हमारे वेद, पुराण तथा अधिकांश दर्शन शास्त्रों का सृजन इन्हीं गिरि-कन्दराओं में ही हुआ है । अभी भी वहाँ के कण-कण में मानों प्राचीन ऋषियों की वेद-ध्वनि ध्वनित हो रही है । वहाँ की मृदुमन्द वायु मानों प्राचीनकाल के उस पवित्र सन्देश को हमारे कर्णों तक पहुँचा रहा है । हम धीरे-धीरे चढ़ाई कर रहे थे । सभी का अब एक ही लक्ष्य था यमुनोत्री की प्राप्ति । एक चढ़ाई समाप्त करके यही प्रतीत होता था कि यमुनोत्री आ गई है । पर सामने और एक चढ़ाई उपस्थित हो जाती थी । चढ़ाई के बाद चढ़ाई । शाश्वत अनन्त चढ़ाई । सभी अपने-अपने ध्यान में मग्न थे । संसार के सारे दायित्वों से मुक्त होकर मानों निर्वाण के पथ पर हम लोग चल रहे थे । ऐसा ज्ञात होता था मानों सभी सांसारिक विचित्रताओं को पीछे छोड़कर उस अज्ञेय वस्तु के सन्धान में हम अग्रसर हो रहे हों । अपनी इस गति के पीछे एक परम आह्वान—एक दुर्निवार आकर्षण था । अन्त में श्री श्री माँ की कृपा से शाम तक हम यमुनोत्री पहुँच ही गये । सबके समवेत कण्ठ की "जय यमुना मैया की" ध्वनि आकाश में झंकृत हो उठी । हमें नीलाम्बरी यमुनाजी का उद्गम स्थान दिखाई दिया । दूर पहाड़ के ऊपर एक छोटा सा मन्दिर चित्रार्पित की तरह शोभित हो रहा था । यमुनाजी

की शोभा देखते ही बनती थी। यमुनाजी का अवलोकन कर मैंने मन ही मन शंकराचार्यजी की इस स्तुति का पाठ किया—

नवजलदद्युतिकोटिलसत्तनुहेममयाभररञ्जितके
तडिदवहेलिपदाञ्चलचञ्चलशोभितपीतसुचैलधरे ।
मणिमयभूषणचित्रपटासनरञ्जितगुञ्जितभानुकरे
जय यमुने जय भीतिनिवारिणि संकटनाशिनि पालय माम् ॥

हमें तो मानों एक अभिनव संगम का ही दर्शन हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों मातृकृपाधारारूपी एक सरिता भी विपरीत मार्ग से प्रवाहित होती हुई यमुनाजी से मिल रही है। श्रीश्री माँ की असीम कृपा से ही हम इस दुर्गम पथ को लाँघकर यमुनोत्री पहुँच सके। अब मुझे व्यासजी के निम्नलिखित श्लोक की यथार्थता का अनुभव हुआ—

"मूकं करोति वाचालं पङ्गु लङ्घयते गिरिम् ।"

मातृ कृपाधारा के पवित्र सलिल में अवगाहन कर हमने अपने श्रम को दूर कर लिया। हमारे सामने तुषाराच्छादित हिमाद्रि के उत्तुङ्ग शिखर विराज रहे थे। उसके पीछे २३००० फीट ऊँचा तुषारमण्डित दुर्गम बन्दरपूँछ का शिखर दिखाई दे रहा था। हमने यह भी लक्ष्य किया कि जहाँ से यमुनाजी उतर रही हैं उस स्थान का बरफ भी कुछ नीलाभ है। हमारी एक सहयात्री इस अपूर्व शोभा की तसवीर लेने में तत्पर थी। हमारे पास दूरबीन भी थी। हम उसका भी उपयोग कर रहे थे। यमुनाजी की अपूर्व शोभा तथा हिमालय के शान्त, गम्भीर तथा विराट रूप को देखकर कुछ क्षण के लिए भी लोग इनके स्रष्टा उस विराटपुरुष के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। यहाँ आते ही लोगों के हृदय में एक अनिर्वचनीय भाव का उदय होता है। इस स्थान का एक अद्भुत आकर्षण है। मानव जीवन को वह अपनी ओर खींचता रहता है। तभी तो युग-युग से मानव इतने कष्टों को स्वीकार करते हुए जीवन में एकबार के लिये भी वहाँ पदार्पण करते हैं। उस निर्जन तथा शान्त वातावरण में जाकर भवानलदग्ध भला किस मानव का हृदय शान्त न होगा ? इस स्थान में आने से मानव स्वतः ही परमार्थ की ओर झुक जाते हैं। हम इस प्रकार अपूर्व दृश्यों का अवलोकन करते हुए डाकबंगले में पहुँचे। हम १०८०० फीट के ऊपर थे अतः यहाँ काफी सर्दी थी। हम सबने गरम कपड़े पहन लिये। सन्ध्या हो चुकी थी। हममें से किसी ने सन्ध्या-आरती देखने के लिये मन्दिर चलने का विचार किया। पर मेघमालानगरी की रानियाँ भी अपने कर्त्तव्य में संलग्न थीं। अवश्य ही उनके स्वजन उन्हें त्याग कर दूर देश में चले गये होंगे। अतः उनके विरह मे वे क्रन्दनरता थीं। पर उनके लिए हम भी कैसे अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हों। इतने समीप में मन्दिर है। अन्त में वर्षा कुछ कम होने पर हम तीन यात्री, (बाकी

तीन कुछ अस्वस्थ थे) पराडे महाराज के साथ चल पड़े । वे हमें जल्दी के लिये पगडण्डी से ले जा रहे थे । कहीं-कहीं पथ बहुत संकीर्ण था । अन्धेरे में पैर फिसल जाने से ही यमुनाजी में सलिल समाधि की सम्भावना थी । अन्त में हम किसी तरह से मन्दिर पहुँचे । मन्दिर छोटा था, पर यमुनाजी की मूर्ति बड़ी सुन्दर थी । उनकी भावाभिव्यक्ति देखते ही बनती थी । हमने मंगल आरति का दर्शन किया । आते समय हमने पंडेजी से कहा कि हमें सीधे रास्ते से ही ले चलें । कारण हममें से कोई भी यमुनाजी में तब अपने देह विसर्जन करने में इच्छुक नहीं था । रात को खटमल और पिस्सुओं के लगातार काटते रहने से अच्छी नींद नहीं हो सकी । हम बीच-बीच में टार्च जलाकर खटमल-पिस्सू-हिंसायज्ञ में व्यस्त थे । एक साथी ने कहा "शरीर का चमड़ा गेंडे की तरह मोटा न होने से इस रास्ते में चलना सम्भव नहीं है । रोयें भी यदि कुछ घने और मोटे होते तो अच्छा होता ।" खैर हम यमुनोत्री तो पहुंच ही गये थे ।

ज्येष्ठ ३०, वृहस्पतिवार । इस दिन हमने प्रातः चार बजे शय्या-त्याग कर प्रातःकालीन तथा सन्ध्यावन्दनादि का समापन किया । सभा का मन बड़ा प्रसन्न था । हम एक अनिर्वचनीय आनन्द में विभोर होकर पूजा की सामग्री लेकर तप्तकुंड में पहुँचे । इस अनन्त हिमशृङ्ग में इस प्रकार उष्णजल की प्राप्ति आशातीत थी । भगवान की अजस्र कृपा धारा निरन्तर प्राणियों के ऊपर इस प्रकार प्रवाहित होती है, पर फिर भी हम अज्ञ जीव इसे नहीं समझते हैं । हमने यहाँ उष्णजल में खूब स्नान किया । जल कुछ अधिक गरम था । अतः पंडेजी ने हमें सिर डुबाने के लिये मना किया । पर हमने तीन डुबकियाँ तो लगा ही लीं । यह तप्तकुंड मन्दिर से कुछ नीचे है । इसके बाद हमने यमुनाजी की शीतल जल धारा में स्नान किया । यहाँ भी एक ओर से एक उष्ण जलधारा प्रवाहित हो रही थी । यहाँ कुछ ऊपर एक छोटा-सा ऊष्णकुंड है । इसे यमुनाजी का मुखारविन्दु कहा जाता है । इसका जल बहुत ही गरम है । हमने जल का स्पर्श किया तथा पंडेजी के कथनानुसार यहाँ पूजा कर यमुनाजी के स्तोत्र का पाठ किया । यहाँ एक और तप्तकुंड है इसमें चावल, दाल, आटा तथा आलू आदि छोड़ देने से ३० या ४० मिनट के अन्दर पक जाता है । इसके चारों ओर सब साधु लोग बैठे हुए थे । वे हमारे सामने ही चावल, दालों को पका रहे थे । पंडे लोग बता रहे थे कि यहाँ गौतम ऋषि ध्यान कर रहे हैं । यहाँ नीचे से कुछ 'खच' 'खच' आवाज आ रही थी पर यह आवाज कहाँ से आ रही थी कुछ पता नहीं चला । अनन्तर हम मन्दिर पहुँचे । यहाँ आते ही मुझे कल रात की एक बात याद आई । कल रात को जब हम यहाँ आरती देखने आये थे तो मैंने लक्ष्य किया कि पुजारीजी आरती करते-करते प्रदीप में स्थित घी-बत्तियों को हाथ से बार-बार ठीक करके झुककर कुछ

देख रहे थे । मैं कोने में खड़ी थी, मुड़कर देखा कि वे हाथ में लगे हुए घी को अपने पैरों में बड़ी सावधानी से मलते जा रहे थे, और चारों ओर बड़े गौर से देख रहे थे ताकि ऐसा करते हुए उन्हें कोई देख न ले । उनकी दृष्टि मेरे ऊपर नहीं पड़ी । यह देखकर मुझे बड़ी हँसी आई । भक्तवत्सला यमुना माता अपने भक्त के पादस्पर्शित हाथों से ही आरती ले रही थीं । इन बेचारों को भी अपने हाथ-पैरों में मलने के लिये यह घी के अतिरिक्त और क्या उबटन मिल सकता है ? मन्दिर में हमारी पूजा आरती बड़ी सुन्दरता से हो गई । अनन्तर हम मन्दिर की परिक्रमा तथा चूड़ा-कलस का दर्शन कर बंगले में पहुँचे । हमने प्रसाद भी साथ ले लिया था । उस दिन हमें पुनः हनुमान चट्टी पहुँचना था । यमुनोत्री में लोगों का आवास नहीं है । तीर्थयात्री लोग जिस दिन आते हैं उसी दिन चले जाते हैं । यहाँ केवल एक डाकबंगला तथा एक चट्टी है । सरकार की ओर से एक 'पंडानिवास' बन रहा है । मन्दिर के रास्ते में दो छोटी-छोटी दूकानें हैं । इसमें अधिकतर पूजा की चीजें, मन्दिर की तथा यमुना मैया की तसवीरें मिलती हैं । यहाँ एक दूकान में चावल, दाल, आटा तथा आलू मिल जाता है । दूकान के आस-पास दो-तीन छोटे-छोटे मकान दिखाई दिये । यहाँ के निवासी पहाड़ी हैं । शीतकाल में सभी लोग नीचे चले जाते हैं । यहाँ हमें एक बाबाजी मिले, ज्ञात हुआ कि आप चौदह वर्ष से यहीं १२ महीने रहते हैं । वे एकान्त में साधन-भजन करते हैं । हम धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे । हमारे सामने उतराई भी थी और चढ़ाई भी । फूल चट्टी में भोजन विश्रामादि कर फिर चल पड़े । हमारे सामने तुषार-मण्डित हिम किरीट थे । दाहिनी ओर घना देवदारु का जंगल, दूसरे तीर पर अभ्रभेदी पर्वतमाला तथा नीचे प्रखर-सूर्य-किरण-प्रतिफलित निर्मल नील जलप्रवाह अविराम गति से दौड़ता चला जा रहा था । पथ सुनसान था, जल के निरन्तर कल्लोल से वह नीरव भाव और भी गंभीर हो रहा था । कहीं-कहीं शष्पों से परिपूर्ण श्यामल भूखण्ड भी पहाड़ के क्रोड़ में बहुत रमणीय दीख रहे थे । यहाँ चावल, दाल, आलू आदि अधिक होता है । पहाड़ी रमणियाँ खेती के कार्य में तत्पर थीं । यहाँ की स्त्रियाँ अधिक परिश्रमी होती हैं । वे अपने गृह-कार्य को करके खेती आदि के काम भी करती हैं । ये कद में कुछ छोटी हैं पर रंग गोरा तथा इनके चेहरे सुन्दर हैं । धीरे-धीरे संध्या हो आई । सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये । हम भी हनुमान चट्टी पहुँच गये । हमारे साथी सब थके हुए थे । अतः भोजनादि किसी तरह समाप्त कर झटपट सब लोग सो गये ।

ज्येष्ठ ३१, शुक्रवार । तड़के ही हम लोग निकल पड़े । आकाश मेघाच्छन्न था । ऊषा की रागिनी की तरह पक्षियों का कूजन सुनाई पड़ रहा था । निस्तब्ध जंगलों के भीतर से उतराई का पथ । वायु मृदु मन्द और शीतल थी । हम बहुत आराम से ही नीचे उतरने लगे । धीरे-धीरे सूर्यदेव हमें दृष्टिगोचर हुए । उस दिन सूर्यदेव तथा इन्द्रदेव में मानों प्रतियोगिता

चली थी कि कौन श्रेष्ठ है ? अतः कभी-कभी वर्षारानी अपने आञ्चल से वर्षाकुसुमों को बरसाती जा रही थीं। हम दोपहर तक सयाना चट्टी पहुंच गये। अन्त में सूर्यदेव की ही जीत हुई। मध्याह्न गगन में भास्करदेव प्रखर किरणों से युक्त होकर खूब चमकने लगे। यहाँ से यमुनाचट्टी तक खड़ी उतराई तथा चढ़ाई है। हम धीरे-धीरे चलने लगे। धूप कड़ी थी। सभी थके हुए थे। जाते समय जो उत्साह था वह भी अब नहीं रह गया था। सूर्यदेव मानों अग्नि-वृष्टि कर रहे थे। हमारे साथ जो जल था वह भी समाप्त हो चुका था। अतः प्यास से गला सूखने लगा। इस रास्ते में कोई झरना भी नहीं दिखाई दिया। मानों इस प्राणान्तकारी पथ का कहीं अन्त नहीं है। अन्त में हम किसी तरह से यमुना चट्टी पहुंच गये। मैं यहाँ पहुँचते ही यमुनाजी का जलपान कर छाया में जाकर बैठ गई। सबके आ जाने पर हम फिर चलने लगे। अन्त में १० मील की चढ़ाई-उतराई के बाद लगभग दो बजे श्रीश्री माँ की कृपा से हम कूटनौर पहुँचे। बस यमुनोत्री के पदव्रज-मार्ग की समाप्ति हो गई। अन्य गाड़ियों के साथ हमारी जीप भी खड़ी थी। कुलियों को बिदा दी गई। हम अपने चरणयुगलों को धन्यवाद देकर जीप में बैठे। कारण इन चरणों के द्वारा ही हम यहाँ से यमुनोत्री पदार्पण कर फिर वापस यहाँ पहुँच सके थे। हम मार्ग की अपूर्व दृश्यावलियों का अवलोकन करते हुए शाम तक बड़कोट पहुँच गये। हम यहाँ पुराने बंगले में ही ठहरे, यहाँ हमने सब मैले कपड़े धो डाले। हमने यहाँ से दूरबीन के द्वारा तुषाराच्छादित हिमाद्रि के शुभ्र उत्तुङ्ग शिखरों को देखा। अस्ताचल गमनोद्यत भगवान् सूर्य मानों उस उन्नत धवलगिरि के मस्तक पर अपने अरुण किरणरूपी कणों से आशीर्वाद दे रहे थे। इतने में एक काले बादल ने सम्पूर्ण आकाश को घेर लिया। परन्तु वह रजतगिरि अभी भी सूर्यकिरण प्रतिफलित होकर सूर्यकान्तमणि की भाँति चमक रहा था। इधर वर्षा शुरू हो गई। कैसा नयनाभिराम दृश्य था। एक ओर तो मलिन मेघाच्छन्न आकाश, घनघोर वर्षा, दूसरी ओर हेमरंजित शिखरयुक्त अट्टालिकाओं से परिपूर्ण वह रहस्यमय पुरी ! अपूर्व समन्वय था। भगवान् मानों युगपत् अपने भीषण तथा सुन्दर दोनों रूप जगत् को दिखाना चाहते थे। हमारी एक सहयात्री भींगती हुई भी उस रमणीय कनक सौध की तसवीर खींचने में व्यस्त थी। वर्षा के कारण हम सब भीतर चले आये। सायंकालीन संध्यावन्दन तथा कीर्तनादि समाप्त कर हम भोजन बनाने में लग गये। रात को खिचड़ी बनाई गई। आज प्रतियोगिता चली कि कौन ज्यादा खा सकती है ? इस प्रतियोगिता में मस्त होकर सभी ने कुछ ज्यादा खा लिया। दूसरे दिन प्रातः पुनः अपने बिस्तरों में बासी कपड़ों को घुसाकर बिस्तरों को बाँधकर चलना था। अन्तर यही था कि उस दिन पैदल चलना नहीं था। किसी ने कहा कि "कहीं हम बनारस में भी पहुँचकर इसी प्रकार सुबह उठते ही बासी कपड़े बिस्तरों में घुसा कर बिस्तरा न बाँध लें।" यह सुनकर

सब हंस पड़े। रात को मैंने एक अपूर्व स्वप्न देखा। दूसरे दिन बहुत देर तक उस स्वप्न की मधुर-स्मृति मेरे मन में जागृत रही।

आषाढ़ १, शनिवार। इस दिन हम उत्तरकाशी पहुँचे। उत्तरकाशी एक बड़ा शहर है। आजकल यह जिला बन गया है। यहाँ सरकारी कचहरी, कलक्टरी, जिलाबोर्ड का अस्पताल, सरकारी कॉलेज, डाकघर, तारघर, बड़ा-बाजार सब कुछ है। हरद्वार की तरह यहाँ भी पंजाबियों का जमघट है। पंजाबी व्यापार में बहुत उन्नत हैं। यहाँ आते ही मुझे देहरादून की बात याद आई। लगभग दोपहर को १२ बजे हम आश्रम पहुँचे। यहाँ हमारा बहुत पुराना आश्रम है जो यहाँ "काली मन्दिर" के नाम से प्रसिद्ध है। हमारी जीप जर्जर हो चुकी थी। अब उसके पुनर्जीवन की आवश्यकता थी। सब लोग तो यह देखकर आश्चर्यान्वित हो गये कि ऐसी गाड़ी से हमने किस प्रकार इस सुदीर्घ दुर्गम पार्वत्य पथ का अतिक्रमण किया है? ऐसी स्थिति में तो कभी भी दुर्घटना की सम्भावना थी। पर निर्विघ्न रूप से हमें उत्तरकाशी में पहुँचाकर ही जीप भग्नावस्था में पहुँची। यह सब श्रीश्री माँ की असीम कृपा से ही हुआ। हिमालय के क्रोड़ में इस रमणीय स्थान में गंगातट पर हमारा आश्रम बड़ा ही सुन्दर है। आश्रम छोटा है पर सभी जगह बड़ा स्वच्छ है। मन्दिर के सामने छोटा-सा रमणीय उद्यान भी है। मन्दिर में कालीमाता की, राधाकृष्णजी की, गणेशजी की मूर्तियाँ तथा एक शिवलिंग है। श्रीश्री माँ तथा बाबा भोलानाथजी की तसवीरें हैं। भोलानाथजी ने आज से ४० वर्ष पहले यहाँ इस आश्रम की प्रतिष्ठा की थी। इस उपलक्ष्य पर श्री श्री माँ अपनी भक्तमण्डली के साथ इस दुर्गम पार्वत्य मार्ग से यहाँ पधारीं थीं। यहाँ एक ब्रह्मचारी रहते हैं। वे ही पूजा तथा आश्रम के सम्पूर्ण कार्य करते हैं। हम सब मन्दिर में प्रणाम कर गंगाजी का दर्शन करने गये। यहाँ गंगाजी बड़े वेग से बहती हैं। हमने भोजनादि समाप्त कर थोड़ा विश्राम कर लिया। हमारी जीप पूर्णरूप से बिगड़ गई थी। दूसरे दिन गंगोत्री जाने का विचार था। पर शाम तक समाचार मिला कि जीप कल तक ठीक नहीं होगी। अतः कल अर्थात् आषाढ़ २ रविवार की यात्रा स्थगित कर दी गई। हमारी जीप का गियर-बक्स खराब हो गया था, जो उत्तरकाशी में नहीं मिल रहा था। ड्राइवर साहेब टेहरी चले गये। हरद्वार में भी फोन किया गया। सभी चिन्तित थे। शाम को हम स्थानीय विश्वनाथ मन्दिर का दर्शन कर आये। मन्दिर बड़ा प्राचीन, पर सुन्दर है। सन्ध्या हो चुकी थी अतः हमने काली माता के सामने खूब कीर्तन किया।

आषाढ़ २, रविवार। इस दिन सभी उदासीन थे। पास में कोई काम भी नहीं था। कालीमाता का पञ्चव्यञ्जन से खूब भोग लगाया गया। यहाँ काफी गर्मी है। उत्तरकाशी की ऊँचाई ३५०० फीट है। दोपहर को घनघोर वर्षा हुई। हमारी एक साथी हमें श्री श्री माँ की

तथा भोलानाथजी की लीलाकथा सुना रही थी। कोई कोई निद्रादेवी की आराधना में भी तत्पर थी। आज शाम को ज्ञात हुआ कि कल भी हमारी यात्रा स्थगित कर दी गई हैं। अब तो हम चिन्तित हो गये। हमने विचार किया कि अवश्य ही हम पर गंगामाता रुष्ट हो गई हैं। किसी ने कहा "हमने चलते समय हरद्वार में ब्रह्मकुंड में स्नान नहीं किया है इसी से गंगाजी हम पर कुपित हो गई हैं। अतः रुष्ट गंगामाता को तुष्ट करने के लिये हम अवश्य ही जाते समय ब्रह्मकुण्ड में स्नान करेंगे।" हमें गंगोत्री जाने के लिये विशेष आज्ञापत्र लेना था वह भी नहीं मिल रहा था। सुना कि गंगोत्री से चार मील दूरी पर नीलंगपास है, जहाँ चीनी सेना आसन जमाये बैठी है। अतः इधर यात्रियों की भारत-सरकार की ओर कड़ी जाँच की जाती है। कैमरा, दूरवीन आदि भी नहीं ले जा सकते हैं। आषाढ़ ३, सोमवार की शाम को हमें सूचना मिली कि हमारी जीप ठीक हो चुकी है। कल अर्थात् आषाढ़ ४, मंगलवार को हम रवाना होंगे। यह सुनते ही सब आनन्द से पुलकित हो उठे। हमारे लिये एक मोटर किराये पर ली गई। जीप सामान लेकर चलेगी। हमने रास्ते के लिये कुछ भोजन भी बना लिया।

आषाढ़ ४, मंगलवार को करीब ६ बजे हम, श्री श्री माँ की तथा गंगामैया की जयध्वनि देते हुए जीप में बैठे। सभी का मन बड़ा प्रसन्न था। हमने आधा सामान यहीं छोड़ दिया, कारण यहीं वापस लौटने का विचार था। हमारी जीप चल पड़ी। बस! हमारी गंगोत्री-यात्रा का श्रीगणेश हो गया। चारों ओर शान्त वातावरण था। हमारे दोनों ओर धान के खेत। दूर तक उपज का प्राचुर्य देखकर नेत्र परितृप्त हो गये। इतने में प्राची दिशा को रक्त-रंजित करते हुए भगवान् सूर्य वृक्षों की आड़ में से दिखाई देने लगे। दिगंत सीमा के अन्त में तुषार-मंडित एक पर्वत शिखर उदयाचलारूढ़ सूर्य की किरणों से लाल हो गया। मानों कैलासपुरी में शैलसुता पार्वती ने सामने अनंगदेव को देखकर कुछ लज्जित सी होकर अपने कनक-प्रभानन को रक्तवर्णाञ्चल से ढक लिया है। पहाड़ के तने पर ऊँचे-नीचे स्तरों में सज्जित पहाड़ियों के मकान चित्र के समान प्रतीत हो रहे थे। अब चढ़ाई शुरू हो गई। हमारी गाड़ी पहाड़ के घुमावदार रास्ते से क्रमशः ऊपर चढ़ रही थी। यहाँ दुर्घटना का बहुत भय है। प्रायः सभी पहाड़ फिसलन युक्त हैं। वर्षा होने से ही यहाँ मार्ग बन्द हो जाता है। धीरे-धीरे गाड़ी चल रही थी। हमारे सामने हिमगिरि के उन्नत शुभ्रकिरीट विराज रहे थे। बायीं ओर नभस्पर्शी पर्वतमालायें, तथा दायीं ओर अथाह गम्भीर खाई, जिसमें चालक महाराज की थोड़ी भी असावधानी से हम सब सदा के लिये विलीन हो सकते थे। कहीं-कहीं नीचे से शष्पों से परिपूर्ण श्यामल भूखण्ड, इधर उधर बिखरी हुई तीन चार किसानों की झोपड़ियाँ तथा टेढ़े मेढ़े रास्ते चित्रलिखित से प्रतीत हो रहे थे। स्थान-स्थान पर हिमाद्रि के उच्च शिखर से दुग्ध धवल झरना धारा गिरती हुई दिखाई दे रही थी। मानों युग-युग से देवाङ्ग-

नार्यें भगवान् शंकर को अपने पतिरूप में प्राप्त करने के लिये दुग्ध धाराओं से उन्हें स्नान करा रही हैं। इस अपूर्व दृश्य को देखकर हम मन्त्रमुग्ध से हो गये। हमारी गाड़ी "हर्सिल" होती हुई करीब ११ बजे 'धराली' पहुँची। बसें यहीं रुक जाती हैं। पर जीप तथा मोटर आगे लंका तक जाती है। हमारी जीप अभी नहीं पहुँची थी। उसमें सामान के साथ हमारे एक साथी भी थे। अतः हम सब चिन्तित थे। रास्ते में एक जगह पर हमारी गाड़ी कुछ देर तक रुकी थी, वहाँ सा० नि० वि० (P. W. D.) के कई अफसरों को यही सूचना मिली थी कि आनन्दमयी माताजी स्वयं पधार रही हैं। अतः हमारी गाड़ी रुकते ही पुलिस अफसर, रेंजट-साहब तथा और भी बहुत से लोग भक्ति विनम्र भाव से हमारी गाड़ी के पास आये। तब हमारी साथियों में से एक ने उनके भ्रम को दूर कर दिया। उन्हें समझाया गया कि हम सब माताजी के आश्रम के हैं पर माताजी हमारे साथ नहीं हैं। हम 'धराली' में जीप के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। क्षणभर में जीप आ गई। ज्ञात हुआ कि रास्ते में एक बस बिगड़ गई है। अतः मार्ग संकीर्ण होने के कारण जीप बहुत धीरे-धीरे आ रही थी। इस दुर्गम पार्वत्य मार्ग में गाड़ियाँ भी बहुत जल्दी बिगड़ जाती हैं। हमारी गाड़ी चल पड़ी। लगभग १२ बजे हम लंका पहुँचे। यहाँ से गंगोत्री का पैदल मार्ग प्रारम्भ होता है। हमें केवल आज १० ही मील चलना था। कुली लोग आगे बढ़ गये। 'लंका' से 'भैरवघाटी' तीन मील खड़ी चढ़ाई है। फिर 'भैरवघाटी" से गंगोत्री तक सीधा समतल मार्ग है। हम बड़े उत्साह से चलने लगे। हम धीरे-धीरे चढ़ रहे थे। हमारे चारों ओर वृक्ष-लताहीन प्रस्तरमय पर्वतमाला। नग्न पर्वत की इतनी सुन्दरता हो सकती है, बिना देखे कल्पना भी नहीं की जा सकती। देख-देखकर नयन तृप्त नहीं हो रहे थे। कई सौ फीट नीचे भीषण नाद करती हुई गंगाजी प्रवाहित हो रही थीं। गंगाजी मानों अपने उत्तालतरङ्गरूपी हाथों से पर्वतों का आलिङ्गन करना चाहती हैं। शायद आदि कवि वाल्मीकिजी ने गंगाजी के इसी रूप को देखकर कहा था—

"पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि।
झाङ्कारकारि हरिपादरजोऽपहारि गाङ्गं पुनातु सततं शुभकारि वारि।"

बाल्यकाल से गंगाजी के तट पर निवास करने के कारण गंगा माता के प्रति मेरे आदम में एक सहज प्रेम उत्पन्न हो गया है। गंगाजी का आकर्षण मेरे लिये दुर्निवार है। आज मैं उसी गंगामाता का उद्गम स्थान गंगोत्री पहुँच रही हूँ यह सोचकर मेरा मन पुलकित तथा शरीर रोमांचित हो रहा था। यहाँ हवा बड़ी तेज वह रही थी। हम धीरे-धीरे चलकर ढाई बजे भैरवघाटी पहुँच गये। यहाँ भैरवजी का मन्दिर है। हम मन्दिर में जाकर भैरवजी का दर्शन कर आये। यहाँ भोजनादि समाप्त कर हम पुनः चल पड़े। अब मार्ग एकदम समतल था। सामने तुषार मण्डित उन्नत हिम किरीट, चारों ओर- वृक्षलताहीन

प्रस्तरमय पर्वत। कहीं-कहीं संगमरमर की पर्वतमालायें उज्ज्वलसूर्य-किरण-सम्पात से अत्युज्ज्वल सूर्यकान्त मणि सी प्रतीत हो रही थीं। यहाँ के पर्वत एक दम सीधे तथा नुकीले हैं। मानों वे संसार के साथ सम्बन्ध त्याग कर विष्णुपद की आराधना में तल्लीन हो गये हैं। यहाँ की भूमि कुछ अधिक शुष्क प्रतीत हो रही थी। यमुनोत्री जैसी यहाँ विस्तृत श्यामल तृण-भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई। कहीं ऊपर पहाड़ के क्रोड़ में कई छोटी-छोटी जंगली लतायें दिखाई दे रही थीं। वहाँ कोई गाय चर रही थी। यहाँ गायें बहुत छोटी होती हैं। यहाँ हमने कई नील चाँवर गायें भी देखीं। दूर पहाड़ पर अगणित भेड़ें नीचे से ऊपर चढ़ती हुई दिखाई पड़ीं। इनके बालों से ही ऊन बनता है। हम धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। मार्ग विचित्र वर्णों से रंजित छोटे-छोटे प्रस्तर खण्डों से पूर्ण था। कैसा मनोमुग्धकारी दृश्य! हमने कुछ ऐसे चित्रित पत्थर के टुकड़ों को एकत्र भी किया। यमुनोत्री से हमें यहाँ कम यात्री मिले, जो दो चार मिले उन्हें हम "जय गंगा मैया की" ध्वनि सुनाते जा रहे थे वे भी प्रत्युत्तर दे रहे थे। यहाँ हमें यमुनोत्री के सूई धागा माँगनेवाले पहाड़ी भाइयों का भी दर्शन नहीं हुआ। अब गंगोत्री अति निकट है। हम धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। मेरे हृदय में अचानक ही इस भाव का उदय हुआ कि हमारे कुछ दूर पर ही हमारे चीनी भाई बैठे हुए हैं। मैं उनके पास पहुँच जाऊँ और उनके हृदय में उस प्राचीन भ्रातृभाव को जागृत कर दूँ, उन्हें एक बार उदात्त कण्ठ से कहूँ "हे मेरे चीनी भाइयो! क्या तुम भूल गये हो? कल तक हम दोनों भाई-भाई थे। जब समस्त संसार अज्ञानान्धकार से आच्छादित था तब भारत और चीन दोनों ने परस्पर हाथ पकड़कर एक साथ सम्यता के प्रांगण में प्रवेश किया। दोनों ने अपनी शैशवावस्था में एक साथ सम्यता का पाठ पढ़ा। अध्यात्म जगत् में संसार को दोनों की देन अतुलनीय है। अरे! आज भी शायद भारत और चीन के आकाश में "भारत चीन भाई-भाई" का नारा गूंज रहा है। आज तुम किस हिंसाग्नि में उस सहज भ्रातृप्रेम को आहुति दे बैठे हो? एक बार उस सहज सरल भ्रातृभाव का पुनरुद्धार करो और इस शत्रुभाव को मानवता की प्रेमाश्रुधारा में विसर्जित करके भाई के साथ उचित व्यवहार करो।" मैं इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि मेरे भाव का परिवर्तन हो गया। मैंने समझा कि आज चीन से यह कहना तो बहरे को गीत सुनाने की तरह ही व्यर्थ है।

आज तो वे उस सहज भ्रातृप्रेम की कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। मेरा मन कुछ खिन्न सा हो गया। अब मैंने अपने मन को गंगाजी के प्रति आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। कलिमलापहारिणी गंगा माता युग-युग से गंगोत्री से निकलकर कल-कल निनाद करती हुई कितने नगरों से बहती हुई अन्त में समुद्र से मिलती हैं। इनके तट पर बसे हुए सभी

नगर प्रत्येक भारतीय के लिए परम पवित्र तीर्थ स्थान बन गये हैं। इस गंगामाता ने हमारे देश को सुजलासुफलाशस्यश्यामला बना दिया है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन अत्यन्त सहज तथा सरल होने के कारण ही हमारे पूर्वज जागतिक कार्यों में निश्चिन्त रह कर सदा परमार्थ चिन्तन में मग्न रह सके। गंगामाता ने कितनी ही नदियों को जन्म दिया है। भारतमाता की हारस्वरूपागंगामाता के तट पर ही हमारी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की उत्पत्ति हुई है। गंगाजी के पवित्र सलिल में अवगाहन कर हमारा मन तथा शरीर दोनों ही स्वच्छ तथा पवित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि गंगाजी के धूलिकण के स्पर्श होने से भी जन्मजन्मान्तरों के संचित पापों का क्षय हो जाता है। तभी तो जगद्गुरुशंकराचार्य भी कहते हैं।

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे
तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद॥

ऐसा विचार करते हुए करीब ५ बजे शाम को मैं गंगोत्री पहुँच गई। मेरा मन आनन्द से नाच उठा। मैं उच्चस्वरों में पुनः पुनः कहने लगी "अयि! कलिमलापहारि! त्रिपुरारिशिरश्चारिसुरसरि! तुझे कोटिकोटि प्रणाम!" सभी लोग पहुँच गये। यहाँ की रमणीय दृश्यावलियों को देखकर हम मुग्ध हो गये। गंगाजी का मन्दिर यमुनाजी से बड़ा है। हिमाद्रि के उत्तुङ्गशिखर से गंगाजी प्रवाहित हो रही हैं। यहाँ आते ही महाराज भगीरथ मेरे स्मृतिपट पर उदित हुए। आज से हजारों वर्ष पहले महाराज भगीरथ राजा होते हुए भी समस्त सुखों को त्यागकर कितने कष्टों को झेलते हुए इस दुर्गम स्थान में उपस्थित होकर गंगाजी को प्राप्त करने के लिए शिवजी की तपस्या की थी। वह भी परहितार्थ! उस कार्य में उनका अपना कुछ हित निहित नहीं था। अपने पूर्वजों की मुक्ति के लिए ही उन्होंने तपस्या की थी। अवश्य ही उनकी लोक-कल्याण की भावना श्लाघनीया तथा आदर्शभूता है। अनजान में ही उनके प्रति श्रद्धा से मेरा मस्तक कुछ झुक गया। हम डाकबँगले में पहुँचे। वर्षा भी शुरू हो गई। गंगाजी की ऊँचाई १०६०० फीट है अतः वहाँ भी काफी सर्दी थी। हमारे पराडेमहाराज, महाराज टेहरी के गुरुजी, हमसे पूजा की बातचीत कर चले गये। सभी थके हुए थे। अतः जल्दी-जल्दी भोजनादि कर, सब लोग निद्रादेवी की शरण में पहुँचे।

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

Mātri Vāni

While one is in the midst of *māyā* it is difficult to understand from where *māyā* arises. Aspire to the knowledge of Him. Truly, to know oneself means to know Him. Having found one's Self all problems are solved. So long as there is *māyā* it is difficult to know what *māyā* is.

* * *

The path which the Guru has pointed out, that path you must try to follow. Do not stay idle ; make an effort to go forward. And if you feel inclined to do work, do it in the spirit that everything is an expression of THAT. Service may be of the country, of one's wife as the presiding goddess of the home, of one's children as Gopal and Kumari, of one's husband as the Lord—for it is the ONE who appears in many guises. Do not pass your time merely with eating and sleeping. The invaluable boon of human birth must not be wasted in vain thought. Dwelling no longer in the traveller's inn (*dharmaśāla*), make an attempt to go to your own real home.

* * *

Due to the non-observance of the one *Brahmacharya Aśrama*, the rules and regulations of all the other *āśramas* are not carried out as perfectly as they should be. Just as a house can be built only on a solid foundation. '*Aśrama*' means absence of toil and weariness (*śrama*). Yet, with the sole exception of God everything is indeed fraught with toil and weariness. Consequently, how can there be rest and ease (*viśrāma*) ? Even in the householder's *āśrama*, if service is performed with the conviction that all are manifestations of the ONE, one is actually living the life of an *āśramite.*

* * *

Rather than being a master in this world, one should become its servant. The very fact of being a master creates troubles and complications. But if one can regard oneself as a server, there will be no more clash. Perfect ease! "This world belongs to God and I am merely His servant. Following His injunctions, I shall engage in service only." If this attitude of mind is maintained at all times, no new ties will be formed, although one is living in the family; one will merely exhaust one's *prārabdha karma*. He Himself will put everything right.

* * *

So long as one has not found God, sorrow will not depart. If He is to be realized, one has to practise the repetition of His name, His contemplation, His worship, singing His praises — no other path to man's Supreme Welfare exists. The company of sages, saints and seekers after Truth, religious gatherings and the study of Scriptures are also helpful on this path. This body ever stresses one thing: sense enjoyment is poison and gradually delivers one to death. Therefore this body always emphasizes: endeavour to be engrossed in Him as much as you possibly can.

* * *

You have been blessed with birth in a human body, which is so difficult to obtain. Let not a single moment be wasted. Plants, animals and birds also, after remaining in the world for some time and producing more plants and animals of their species, leave this world. If you too do nothing more than this, what difference is there between you and them? Everyone should make a strenuous effort not to have to leave this world with a 'return ticket'.

——

Sad Vāni*

Bhaiji

Translated by Atmanandaji

Foreword

There is nothing in the world that can be called new. Revolving ceaselessly on the wheel of time, the old appears again and again clothed in ever new forms. This is even more obvious concerning the dissemination of Supreme Wisdom (*Parama Tatwa*). Time after time, expressed in many different ways, there have been numerous attempts throughout the ages to proclaim the Eternal Truth of the ONE in the many. This ancient Truth (*Satya*) has ever purified and enlightened the human mind. To this category belongs the teaching set forth in the 'Sad Vāni.' May it bring Supreme Joy to all its readers !

Sri Sri Anandamayi Ma, at whose Holy Feet I sat, listening to her words collected in this small book, has said : "The search after Truth becomes easy for one who can be completely one-pointed and firmly concentrated under all circumstances, no matter what path may have been chosen." It is well to remember this. That to which the mind is attached, ever appears delightful to man.

—Bhaiji.

1

In the field of action, people's minds become crippled by the lack of freedom to proceed in their own way. The same is true in the sphere of religion. If the aspirant does not find scope for a wide extention of his search in keeping with his individual temperament, his efforts will stagnate in narrow grooves. The path that has been chosen must be pursued with great vigour, in order that purity of mind and heart may be developed. When the goal is ever before one, and has become a living reality all that is needful will come of its own accord.

---

* *Sad Vāni* was first published in English translation by Sri Hari Ram Joshi and N.N. Das Gupta in 1935, long before the foundation of the Shree Shree Anandamayee Sangha, and has been out of print for many years.

2

To be attracted means to become transformed. Whenever you feel drawn to anything, be it a person, an object, or an idea, you have to sacrifice something of yourself. In the exact degree that you give up, so will you receive. This is an axiom of life. To gain everything, without letting go of anything, is never possible for the simple reason that two things cannot at one time occupy one and the same place. That is to say, without sacrifice nothing can be achieved. The more the heart becomes filled with the love of God, the fainter will grow the appetite for material enjoyments. The moment you become charmed and therefore transformed and inspired by Him, your mind will be stilled. True, it is not possible to be fascinated by Him unless His pull is felt from within; yet determined effort and constant alertness are essential. As a business man always keeps himself informed about the market rates, so should one remain ever occupied with thoughts and discourses concerning Him.

3

In the midst of limitation, if one line of approach is selected and steady progress made in that, the bonds of limitation will fall away as soon as one becomes fully concentrated on the goal. Then the One will stand revealed as the many, and the many as the One. In order to be blessed with the power to reach Infinity, one must begin by labouring within the finite.

So long as the body has sway, it is necessary to submit to the rules and prohibitions set forth in the Sacred Texts. This requires patience and endurance. Nature although itself in constant flux, never accords help to a restless wavering pilgrim.

4

(This is in verse in Bengali and loses all its charm in a translation. It has therefore been omitted).

5

Without experiencing the anguish inherent in the mechanism of life in the world, the desire to become acquainted with the Great Mechanic (*Yantri*)* Who causes the cosmic machine to revolve does not arise in the human heart. Disease, grief, privations, remorse and the like, are very necessary for man. Just as fire burns away all dross and rubbish, so the three-fold suffering (*tritāpa*)† purges man's heart from all impurity and results in a growing single-mindedness in his search after Truth. When he becomes deeply conscious of his weakness and tormented by the thought of his undesirable impulses and distressing characteristics, when afflictions like poverty, bereavement or humiliation make him feel his life is futile, then and then only does he develop real faith and religious fervour, and becomes anxious to surrender himself at the feet of the Supreme Being. Suffering should therefore be welcomed. Never does the soft moonlight appear more soothing than after the scorching heat of a summer day.

6

You all say : "I want to find God, I want to find God". But are you really seeking Him with your whole heart and mind, with your whole being ? Just watch and you will see ! If you are in dead earnest you are bound to find Him. Do you know by what signs a true seeker can be recognized ?

---

* Play upon words : *Yantrā* machine and *yantrana* anguish,

† *Tritāpa*—Suffering in all aspects of our being : *adibhautika. adidaivika, adhyātmika.*

If you pine for Him as a shipwrecked traveller longs for the shore, as a mother yearns for her dead child; if you desire Him with such eagerness you will find that He is with you every second, day and night.

You pray to Him for the good things of this world, and this is why He bestows on you riches, family, friends, position and so on, which make you forget the real treasure. Seek Him solely for His own sake and you will certainly find Him.

7

There is nothing in this universe that may be treated with disregard or contempt. He acts His Divine Play in infinite ways, through infinite forms, and in an infinite variety of settings. Without appearing as the many how can this Play be staged ? Do you not see how light and darkness, joy and sorrow, fire and water, are inextricably linked together in one unbroken chain ? Remember that spiritual endeavour must be coupled with purity of heart. To the extent that we harbour unkind or narrow thoughts, we increase the cause of evil in the world. What necessity is there to pay attention to what others have or have not ? Far better be intent on your own improvement. If you can develop inner beauty, and enshrine Him, the ever Beautiful in the glorious temple of you heart, you will then be able to perceive beauty in everything.

8

People who come to see me, sometimes say : "I hope my visit is not putting you to any inconvenience ?" It is because they wish to keep apart from me that such questions come readily to their lips. Just ask yourself whether this sort of consideration enters your mind when you wish to see your father, mother, brother or sister ? You feel at ease in their loving company, and even should your visit cause them some inconvenience, they will not notice it. If you understand that this body is here for you all, such hesitation will not arise in your mind when you come to me. Wherever you go at any time, go with your whole heart and soul, and nobody will seem as a stranger to you. It is a great joy to see all of you who are manifestations of the One Joy Supreme.

9

Since everything in this universe is the creation of the one Great Father, all are kith and kin. Just as the sons and daughters of one large family choose a dozen different professions whereby to earn their livelihood, just as they settle and build homes of their own in a dozen different places, so all human beings, although one in essence, are grouped in various ways and under various denominations, according to the demands of their multifarious lines of activity.

For the cure of the ailing body many systems of medicine exist, such as Allopathy, Homoeopathy, Ayurveda and others. Each person makes use of the method that is best suited to him. Equally, to cure man of the diseased condition that causes the perpetual recurrence of birth and death, there are elaborate prescriptions to be found in the *Śāstras* and many rules and regulations to be learnt directly from sages and saints, yet all have the same purpose. The diverse paths followed by Hindus, Mohammedans, Vaiṣnavites, Saktas etc., all ultimately lead to the threshold of the Eternal.

At the entrance to a railway station, there is much agitation and noise, much pushing and jostling ; but once the correct platform has been reached all confusion ceases for everyone's destination has been settled.

10

The Master and the servant ,though separate embodiments, are essentially one. When the Master in His infinite mercy, descends into a physical body, He becomes the Servant. Just as there can be no servant without a master, so also the Master is dependent on His servant. Thus there is an eternal mutual relationship between the two, so much so that the one cannot exist without the other. The Master is the sole object of the servant's self-dedication. On the other hand the Master must rely entirely upon the servant for service. The One Who in His fulness, in His totality is the Master, He Himself when appearing in division becomes the servant; in other words, the servant is but a partial manifestation of the Master.

You boast so much of doing service. This is just idle talk. The real servants were Hanuman, Garuḍ and others like them, who identified themselves so wholly with their masters that they had no longer independent existences. Complete subjection of oneself in service, is what is required. He who is incapable of unreservedly offering to his Lord, his all, his wealth, family, friends, mind, heart and body, cannot become a servant of the Lord, that is to say he cannot claim to be recognized as His true servant.

11

This world may be likened unto a drum, with only one player. The rhythms it gives forth depend on His Will.

When kirtan is performed, have you not noticed how many people dance and sing to the rhythm of the music? But do any give a thought to the instruments or their players? Those who in happiness pass their days on this earth, although their happiness is only a tiny fragment of the real Joy, are not interested in knowing Him, the Source of all delight. Seek Him Who is the Fountainhead of everything. This is real *tapasyā*,* this is real *sādhana*.†

12

One often hears people say that while living the life of a householder it is impossible to make spiritual progress. Is this really true? How many opportunities are offered to a householder for practising religion in daily life! Parental affection, the fondness between brothers and sisters, the love between husband and wife, the reverence and devotion of children for their parents, the companionship between relatives and friends, the blessings of dependants and of the poor and suffering, are all potent aids towards a life that ultimately aims at Self-realization. Think it over and you will understand! Tossed about incessantly between the ordeals and pleasures of family life, the spirit of renunciation sometimes awakens in man together with a desperate yearning for God: Where this is so, the householder has a better chance even than many an anchorite who has left home and family.

---

* *Tapasyā*—To undergo hardships with the definite object of attaining to the spiritual.

† *Sādhana*—Any spiritual practice for the purpose of arriving at Self realization.

13

What is the good of saying: "I want to turn my mind to the Eternal, but I am unable to do so." When anyone in your home has just an ordinary illness or indisposition, no matter how preoccupied you may be, you at once consult a doctor and run here and there for remedies; or if anything goes wrong with your worldly affairs, think of the amount of trouble you take to put it right. But when you find a difficulty in concentrating on God you at once give up, fold your hands in your lap, saying: "I cannot", and wait for His Grace. Does this befit a *Karma Yogin*? If once you rouse yourself to enthusiasm you will be able to concentrate well enough. You spare no pains to make your body healthy, strong and beautiful; if you try equally hard to educate your mind, you will see how wholehearted, how fervent your aspiration will grow. Merely to sit down and philosophize will not take you anywhere; it is necessary to apply theoretical knowledge in practice and to engage in *sādhana.* To be one-pointed in all you do, will of itself teach you the secret of how the goal can be attained through action.

14

Restlessness, agitation and the like are certainly objectionable; yet it is the search for happiness that lies at their root. Like a child, thoughtlessly flitting here and there, not discriminating between good and evil, the mind ever seeks joy. But the evanescent pleasures of this world that come and go, cannot hold the mind for long. Loving attention and reprimand are both necessary for the education of a child. In a like manner the mind has to be trained. By frequenting the company of sages, saints and seekers after Truth, by harbouring only pure and noble thoughts and emotions, by listening to religious discourses, and by reading books of wisdom, will be provided the right sustenance for the mind, inwardly as well as outwardly. Gradually you will be freed from all worries until at last you find your rest in the Supreme. On the battle field one has to lay stress on the means of self-defence rather than on provocative attack. Similarly one should take special care to keep oneself protected within the entrenchment of discrimination and intelligent reasoning re-inforced by consecrated activities that make the mind God-centred, so that the outer enemy in the form of craving for sense pleasures may not be able to intrude. The mind is its own friend or foe, the mind itself has to destroy its own ignorance. The easiest and most effective means for purging the mind is to associate with saints and seekers after Truth and the ceaseless invocation of God's Name (*Nāma Kīrtana*).

15

People seek only outer opportunities and conveniences. They fail to realize that so long as they are merely concerned with success and failure they simply remain on the surface of things. Unless one looks within and without simultaneously, God cannot be found. The body, worldly possessions, one's home and people belong to the external ; meditation on the Self and the endeavour to let one's thinking be permeated by Him are inner processes. To run after physical and mental comforts will only strengthen attachment to external pleasures, and rust will collect inwardly. This is why life after life has to be spent in cleansing the mind from all accumulated dross and impurity. So long as one cannot make a clean sweep of outer attractions, one should at least aim at directing one's attention within as well, by seeking the Essence of things, and meditating on him, who is Bliss Eternal.

Gradually the glorious moment will come when one's whole being will be united in single-minded contemplation and the inner and outer welded into one.

(*To be continued.*)

"God is the breath of life, the Heart of hearts, the Self. To find Him means to find oneself."

—*Ma Anandamayi*

A Few Days with Mother

MADAN MOHAN MISRA

The *Daśera* of 1945 (October) will remain memorable in the history of Rai Bareilli. In most towns of the U.P. this festive season witnesses the usual *Rāma Līlā* celebration lasting for nearly a fortnight, culminating on *Daśami* in the burning of the effigy of the demon Ravana. But this year the people of Rai Bareilli had the rare good fortune of having the holy Sri Sri Anandamayi Mata in their midst during the *Daśera* week and also of witnessing the celebration of *Sri Durgā Pūjā* with all due eclat and ceremony, probably for the first time in the history of the town.

I awoke to the fact of the holy Mother's presence in our town by the sight of a large number of her devotees bustling about in the streets day and night, stirring its usual quiet. My curiosity was aroused and I resolved to go and see what was happening.

Arriving at the mango grove in front of "Nain House", I found that a beautifully decorated spacious *shamiana* had been set up and under it the image of the Goddess Durga with her companions and satellites had been installed. It was indeed an impressive sight.

The whole grove was crowded with people of all classes, rich and poor, men, women and children, including visitors of high social status from different towns—judges, lawyers, doctors, all agog with excitement and eager for the *darśana* of Mother. Motorcars, buggies, tongas thronged the place as in a *melā* or exhibition. A group of *pūjārīs* were reciting the *Sapta Śati Durgā Pātha*. The whole place throbbed and hummed with life and activity of various kinds. The melodious chanting, the perfumed smoke of incense and the hubbub of the people gathered there, filled the atmosphere and infused even in the most matter-of-fact person a spirit of devotion and enthusiasm. But the attention of the beholders irresistibly moved between two poles of attraction. On the one side there was the splendour of the artistic image enhanced by all the accessories of *pūjā*, flowers, incense, blowing of conches, and so forth, and on the other, the glory of that real and living figure, holy Ma Anandamayi. People were seen rustling towards both with eager steps.

I approached the tent where Mother was seated surrounded by a respectful crowd of men and women. Mother favoured me with her characteristic affectionate glance. I felt I also was an unworthy son of hers. It is quite possible that every beholder of Mother who believed in her had a similar idea. The universal motherhood of Mother was amazing in its effect. The mere sight of Mother with her radiant face with its halo of eternal bliss and her sweet speech made the heart throb with immense joy and created faith in the Divine.

A desire was aroused in my heart to invite Mother to my house and to worship her there with all ceremony. But I was informed that she did not go to the houses of *grihasthas* (householders). I did not feel much disappointment at this, because I had the firm conviction that if my faith was genuine, Mother would fulfil my wish somehow or other.

The readers will be surprised to know that the very next day the silent prayer of my heart was mysteriously acknowledged and granted by Mother. She came to my place of her own accord, not inside the house but into the compound. My joy knew no bounds. My wife and children were happy beyond measure. I realized what a special favour Mother had done me by this gracious visit of hers.

The Puja took its due course. For these few days joy and devotion flowed in the hearts of the people assembled as it had never done before. When the Puja was over, Mother departed from the town and with her departure there was an exit of visitors who had flocked with her. Now the town wore a deserted look very noticeable by contrast.

After a few days, hearing that Mother had gone to Vindhyachal, I decided to pay a visit to her during *Divali*, though it was difficult for me to leave my family at the time. But the only figure that was enshrined in my heart now was that of Mother. I came to have a firm believe that if there can be incarnations of God, Ma Anandamayi was surely one of them.

When I reached the Vindhyachal Ashram, I found Mother surrounded by devotees watching approaching visitors from the upper storey. They were trying to guess the identity of the new arrivals from a distance. Rai Bahadur Satish Chandra Gupta, Government Pleader from Mymensingh, was mentioning my name as a probable visitor when I reached the place. I approached Mother and prostrated myself at her feet with a feeling of great happiness. Mother asked me to rise and seated me near her with great affection. I felt I had become free from all bonds and attachments. My time there passed very happily. I went and saw some ancient temples in the neighbourhood, such as *Aśta Bhūja Devi, Kali Gufa, Sitakunda* etc.

I heard that Mother was going to Benares soon. We too all went there by train. I very much liked the Benares Ashram, a fine three storied building on the banks of the Ganges and I experienced there a happiness that I had never felt elsewhere. I lodged myself on the uppermost floor in a room adjacent to Mother's. But I was asked by a devotee to move down and occupy a room on the lower floor along with others. I obeyed reluctantly disliking the idea of being far away from Mother. Late at night, Sri Gurupriya Didi came to me saying that Mother wanted me to stay in the room upstairs from where I had brought down my bedding. Needless to say I was overjoyed not only at the prospect of being near Mother but also at this new token of Mother's kindness and affection.

Next day I payed a visit to *Viśvanātha* temple. Although I had been there several times before, yet everything seemed to pass so smoothly and I met with such facility at every step that I could not help noticing it and attributed it to the kind protection of Mother. While returning I bought a garland and worshipped and garlanded her to my heart's content. Even the fact that Mother retained my garland for some time filled me with a childish satisfaction.

The idea of returning home appeared unbearable but I was compelled by circumstances to do so. When I took leave of Mother, she said : "Go and come again some time !" As I put a garland on her and prostrated myself at her feet prior to my departure, she put her hand on my back and blessed me, saying : "*Nārāyaṇa.*" Mother then asked Didi to give me something to eat before I started. I was served food with great affection by several sisters as if I were actually a member of their own family and then given a send off. All this took quite a long time and I was afraid I might miss the train but on reaching the station I learnt that the train was late by an hour. My journey home was unexpectedly very comfortable in spite of the great rush.

Ya—Ta !

RAMANUJAM

This verily is That
In the fire of this realization
In the power of this incantation
Dwells that Mystic Anandamayi
Dwells the Maiden of the Ganges

Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita

In the drum-beats of the pulse
In the silence of the heart
Upon the seat of Space uncumbered
Upon the breath of Time unnumbered
Dances the Mystic Anandamayi
Dances the Rapturous Anandamayi

Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita

Within the blue of inward skies
Within the Void in the blue
Within the lighting in the Void
Shines the Mystic Anandamayi
Smiles the Mystic Anandamayi

Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita

In the darkness of a secret
In the light of revelations
In the waking of a doubt

In the slaking of a thirst
Weaving in and weaving out
Threads the Mystic Anandamayi
The loom of the Mystic Anandamayi

Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita

In the beauty of an upraised skull
In the grace of a curving sword
In Feet that beat a rhythm
In the resounding ashes of creation
Is the laughter of Anandamayi
The laughter of the Mystic Anandamayi

Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita
Om maha prajna paramita

Varanasi, Feb. 3, 1970.

Self—Surrender*

SWAMI PARAMANANDA PURI

[Srimat Swami Paramananda, who was the youngest of the disciples of Swami Vivekananda and received *sannyāsa* from the great Swamiji in 1900 at the age of eighteen, was highly regarded and deeply cherished by the great disciples of Paramahamsa Sri Ramkrishna. Swami Brahmananda called him affectionately *Basanta Kokil*, Spring Bird, for the joyousness of his spirit which always brought such blessing to those around him. Swami Ramakrishnananda, personal attendant to Sri Ramakrishna and himself a great teacher, said of him : "Paramananda lived with me for five years, in daily, hourly contact, and I was never able to find a single fault in him."

In 1906, while still a very young man, Swami Paramananda sailed for the U.S.A. where in time he founded the Vedanta Centre of Boston and the Ananda Ashrama in the mountains of Southern California, bringing, in his own radiant way, the light of Vedanta, the life and teachings of Sri Ramakrishna to the west. Led today by Mata Gayatri Devi, his community, now sixty years old, still strives to live by the great ideals of devotion and service with which he infused it and into which he poured his heart and soul.

At his passing in 1940, Swami Virajananda, then President of the Ramakrishna Mission, said of him, "......radiant with spiritual wisdom, he moved among men as a little child of the Divine Mother." The truth of these words is more than evident in the following pages—reprinted here with the kind permission of Mata Gayatri Devi. Aflame with his illumined devotion and his earnest yearning that his spiritual children should learn to lay themselves at the Feet of the Mother in complete, unreserved dedication, they cannot help but bring inspiration and renewed consecration to all bhaktas].

The true devotee is always conscious of the power that works through him. Otherwise he is nothing ; he does not want to be anything independent of that Divine Power. He knows that the Mother does Her own work, that he has no right to take any credit or blame upon himself. Everything is all right as long as we do not forget Her. Egotism makes us forget Her ; It is our worst enemy. So we must fight and kill it. Let us pray that we may do a little service to Her children, remaining always a true instrument in Her hands. Otherwise this life has no value. We have only the right to live a true and pure life and serve, as much as we can, all Her children.

---

* from "*The Path of Devotion*", Boston, 1940; available from Ananda Ashrama, P.O. Box 555,La Cresçenta, Calif. U.S.A. and Ananda Ashrama 1, Naktala, Calcutta 40.

Sometimes the task appears very hard, as if there were no way out of it. But nothing can remain permanent in this world ; the clouds vanish and again life becomes hopeful. We must therefore stand like a rock under all circumstances. Let everything come and go, but try to remain always unmoved. Be bold and face the truth If you have an Ideal, give your life for the realization of it. We must sacrifice our lives for our Ideal. That is the only way to worship the Ideal. Not weakness, not hypocrisy, but sincere love and strength will make us worship Him truly.

Move on and do not look back to see what happens to anyone. Thousands like me may die at this moment, but that will not do any harm to this vast world. Truth is deathless and That will shine forever. Worship the truth and die for It. Remember always that the present life is the result of past thoughts and deeds; the future is going to be according to the present. So our future depends entirely upon us. The past will be washed off by the present life.

* * *

That which has been offered to the Ideal, at the feet of the Master, we have no right to use for our personal satisfaction or happiness. He who has truly given his life, soul and body, to the service of the Master must not think of his own will, but should sacrifice his own will at the command of the Master. This is called true self-sacrifice. Otherwise, as long as we can fulfill our own desires by serving the Master, we serve him ; but the moment it interferes with our selfishness, we do not ; this is not self-resignation. On the contrary, it is mean selfishness. One must be bold and determined enough to conquer this unworthy weakness and must use the power of discrimination.

The path of renunciation is very hard. Complete self-surrender at the feet of the Master is a very hard thing but without that, spiritual growth is impossible. The disciple should always be ready to go to the mouth of a cannon or before a tiger at the command of the Master without asking why. This is what is called true devotion.

Another thing necessary is to have no attachment for earthly things. The mind must be free from lust and greed. "He who, even here, before he is separated from the body, can resist the force of lust and anger, that man is really wakeful, that man is happy." Try to realize this and you will be free at once. Crush down egotism and say, "I am lower than even a blade of grass." Then you will see that all impurities will vanish, you will become divine. Then you will have the right to take the Blessed Name of the Lord. Egotism stands between us and the Lord, our true Self ; so destroy it and say, "Not I, but Thou." Bring out the real strength and destroy all weakness. Know that *Atman* (the true Self) is never realized by a weak person.

* * *

Let us therefore conquer all weakness. People take advantage when we are weak. We must know how to preserve our dignity, especially when we are among people of the world. We must "hiss" in order to protect ourselves from the wicked, but we must never try to do any actual harm. When we try to do harm we drop to the level of the evil-doers whom we oppose, and really hurt ourselves. In order to remain true to our principle, however, we must sometimes show a spirit of resistance in the form of a hiss, but never should we be actuated by a desire to injure anyone.

Stand like a rock in your faith and devotion and let the Divine Mother hold your hand. When we hold Her hand there is some danger of our loosening our hold, but when She holds there is no more fear of falling down. So we must make ourselves free from every danger by always trusting in Her Divine Will. Do not allow any other thing but Herself to occupy our pure heart. Do not be depressed by any foolish thought, fear, or anxiety. Know that nothing is impossible for Her. Have intense faith and feel free.

Let Her will be done in everything, then all must come right. We must not question why or what, but must follow Her will patiently and quietly. If misery comes, accept it as a blessing from Mother. Who knows in which way She forms our characters. One thing we should always remember, that worldliness and holiness are two different things. If one goes towards the north, the other goes towards the south. So you cannot expect justice from the world.

We must be bold, strong and fearless in our every action. When miseries or difficulties come, say : "All right, come on," and stand up like a hero. They will run away from you at once; that is the only way to conquer them. Be bold. Be bold and fearless. Even one word of boldness brings strength ; so try to keep your mind bold and cheerful.

It is a great and unselfish work to be happy, strong and cheerful for the sake of your ideal. By working with such unselfishness you will gain every day more and more purity and strength. But this can be done only through constant thought of the Ideal and earnest prayer. The Mother will not fail to fulfill the prayers which are said from the heart with unselfishness. She will always protect you and give strength and guide you. Will She make you unhappy when you try to serve Her always with your whole heart and soul ? She will not, for She is an ocean of mercy and cannot make Her children unhappy. No fear, if any misery comes, Her heart will always be ready to share it with you.

* * *

Then why so often do our prayers remain unanswered, you ask ? We cannot know. We are only children. We should not wish to know much. She knows, the Divine Mother knows. This is Her world. She will take care of Her children. We should hold the thought, "I am only a child, a simple child ; I am the servant of all Her children." There is some happiness in serving Her children unselfishly, so let us always try to serve them. But here also we find difficulty because we do not know what real service means. Out of our foolishness we hurt those whom we intend to serve. In this way we make mistakes and cause unhappiness to others. Life is very hard without the power of proper understanding.

But still let us try to depend upon Her entirely. Although clouds sometimes gather so darkly about us, we must stand and be patient. Let us walk on steadily without being afraid of anything. Never mind the results. Know that good will always produce good, it cannot be otherwise. It may not show outwardly ; still, this is the only true and desirable path to follow.

* * *

Her Divine Will, we are all guided by Her Will. Let us fully depend upon Her and say sincerely, "Let Thy Will be done." We remember this, yet sometimes a little sense of anxiety comes into the mind. But we must shake it off. We must live here boldly, have purity and strength of character, then face everything fearlessly, all the difficulties and dangers. Whom to fear ? We are children of Divine Mother ; our Mother is the Ruler of the universe, the whole world belongs to us. Have that kind of life-giving faith.

Bring out the life, the strength, the purity and unselfish love which you possess within yourself ; they are your birthright. Come up, come up bravely. There is no death for you. Throw off all impurities ; old superstitions. They do not belong and never belonged to you. Know that you are free,

free from all bondage. The little feelings of jealousy, hatred, envy, name, fame, are all mere superstitions. What are you to do with them ? Drown them all in the ocean of wisdom without having any mercy. Do it quickly and realize that you are free. Free ! Wherever you go, you are free. No more bondage ! No more fear ! Let fools talk nonsense. Pity them, they do not know any better. Move on and never look back to see what is going on behind you. Let them talk, let them do whatever they want. Say nothing, but walk on silently and steadily.

* * *

O Mother, everything is done by Thy will. Not I; not I.

This is true wisdom. One becomes free after realizing this. Vanity is ruinous, is the worst enemy of mankind. Kill it, kill it forever. Then will shine the sun of wisdom. Think, "Who am I ? Why should I quarrel or dispute with anyone ? I am a child of God. I am free from praise, blame, sorrow, misery, pleasure, pain." That is freedom. Only foolish people wish to be regarded as great by others, try to get praise from others. If they do not get it, they are unhappy and miserable. Nonsense ! Do you care for such nonsense ? A foolish play of five minutes. What is the reality in this world ? We must use the power of discrimination. No use in living like slaves.

Why should we be guided by our senses and desires ? We have plenty of work before us. The work is hard, but it must be done. It must be worked out before we can be free. If we neglect it or do not do it out of fear, then it will take more lives and cause more suffering. Through the blessings of the Lord the path lies open. Walk steadily, being fearless and cheerful. It is a very hard task to carry a burden, and still harder for the one who removes it. How can one repay this debt ? Only by living a pure and true life according to his teachings. There is no other way, there is no other way. Material help and service are nothing.

Cast off all slothfulness, therefore, and move on. Know that you are not the body, you are not matter, but you are Spirit, the pure, divine, holy and spotless soul. Hold this great ideal always in your mind ; then nothing will ever dare to disturb your peace.

* * *

Mother will always protect you. Without Her grace no one can do any good work. Let us not forget that, then we shall always be on the safe side. Man is in danger when he forgets his Mother and runs after earthly things, regarding them as great and substantial. It is through Her grace that one gets light and non-attachment to worldly pleasures. Let us sing Her Divine glory as long as we live. Never mind whether we are in happiness or in the midst of misery. Let us be absorbed in Her thoughts ; let us become mad in Her divine love. The world will at once drop off from our minds naturally. What is there in human praise or blame, love or hatred, jealousy and other narrow things of the world ? Let us forget everything and worship Her and Her alone with all our heart's love and devotion.

Mother will scatter all around us peace and blessings. We are Her loving children and She will never fail in giving Her motherly care. The waves come and go, the waves of pleasure and pain ; they are very good for our spiritual growth. Stand firm. Let everything come and go, but stand like a rock and have always faith in yourself and in your Ideal. It is through faith and self-surrender that one realizes the truth, and never through useless arguments or power of human intellect.

* * *

Human friends and foes are nothing. Mother is everything. She is all in all. Every moment must be spent in Her worship ; all else is false, whether good or bad, all illusion, *māyā,* ignorance. Truth is one without a second, and it is She. She is the foundation of the whole universe. Without Her Will nothing can be done. She is our Mother, Mother of all. When Mother is near no evil can touch us. Have faith, strength and courage. Know that Mother can make everything possible. No one can harm him who takes shelter at Her Divine feet. A fearless child he becomes.

Pray to Mother and take shelter at Her feet sincerely, then fear, care and all weakening thoughts will cease to exist. Say "*Jai Ma Anandamayi,*" "All-Blissful Mother, victory to Thee !" Repeat it with force, all evil will vanish. She is the only destroyer of evil and She is ever the Protector of Her good and innocent little children, who know none but Mother. What else is there in this world to talk of ? Everything is useless and unreal except the glory of Divine Mother, who is the source of our existence, the source of eternal peace and bliss.

* * *

Let us always rest in peace in Her arms. Mother knows best how to take care of Her child. There is no fear for a little child so long as he is in his Mother's arms. She is all in all, one without a second. Whom shall we worship if we do not worship her Divine blessed feet ? Let the rest go. Let all other things drop from our minds. Where will evil exist then ? Where will be fear or care or anxiety to disturb us when every room of our hearts is occupied by Her ?

You know that beautiful song in which it is said that in this world he is supremely blissful who knows the Supreme Blissful Mother. Ceremonies and rituals are nothing to him. He does not go on pilgrimage to purify himself ; he does not even hear any other word than the name of All-Blissful Mother, and does not believe in anything except the will of the Divine Mother. In this way he who has made the Mother's feet all in all, forgets the world very easily and naturally, and he alone will reach the other side of the ocean of *samsāra*. There cannot be any fear for him. He does not listen to the praise or blame of the world, but he remains ever intoxicated by drinking the nectar of the Mother's name.

* * *

Mother is the goal. She is the only place of rest and peace. Pray to Her. Pray to Her and think of Her and Her alone. She is the real protection. She is the source of all happiness and bliss. Let us dive deep in the ocean of Her divine love and be mad. This world will drop off from our minds at once. Everything that is unworthy of Her will be forgotten in a minute. "*Jai Ma Anandamayi*." All fear will vanish, everything will become blissful in Her presence.

Pray to Her like a little child and She will protect you. We are all Her children. Why should we fear anything ? Mother will take care of us. Our duty is not to forget Her in the turmoil of this miserable world. What else can I say except that we must worship the Mother Divine always, under all circumstances ; that is all one must do in this life. There is no higher or greater duty than this.

Pray to Her, "O Mother ! give me true love at Thy feet. I do not want anything else. Take everything else from me, only give me pure love at Thy feet." Pray day and night, and weep for pure devotion and pure love. This is called true worship. Be absorbed in this grand worship ; then the world will slip away from you and you will always live in peace and bliss.

Remember that everything is done through Her Will. She can do whatever She likes. She can make the most impossible possible. Who knows Her glory ? Who can sing Her glory ? Ours is to give up all egotism and say, "*Nāham ! Nāham ? Tuhu ! Tuhu !*" "Not I, Mother, not I. It is all Thou." Give me only true love at Thy feet, so that I may never forget Thee. O Mother ! Thy name is so sweet ; give me intense love and faith in Thy name. Mother, O Mother, take me in Thy arms. I do not want to stay here; this is not my home. Thou art my home, my refuge; Oh let me come to Thee! Thy work must be done. Let me do it truly and faithfully, with unselfishness and purity. Let Thy will be done! Give us strength and give us light, and may we say truly and sincerely, "Let Thy will be done."

"Mother, grant unto us peace and blessings."

FOR THE DEVOTEE WHO MAY HAVE SEEN ONLY PHOTOGRAPHS OF MA ANANDAMAYI

ELWOOD DECKER

You have the memory of a Goddess
With Infinite Power to Save and Bless,

By Her generous, motherly Grace
You have seen Her compassionate face.

For you the *Sahara* of sense life
May become wonderfully free from strife.

Like wearing in a ring on your hand
A colorful grain of its gleaming sand.

Her Eternal Bliss you will always find
By keeping Her memory first in mind.

MA

Sri Sri Muktananda Giri Maharaj

SWAMI BHAGAVATANANDA GIRI

(*Continued from the last issue*)

I had put some questions to Sri Giriji, now I shall try to give the answers I received.

Question : Please tell us some of your experiences regarding MA.

Giriji : Arrangements were once made for Kālīpūjā at Shahbag, Dacca ; your 'MA' was to perform the *Pūjā*. Mataji first offered sindur to Kali and recited verses in her praise, then she sat down and began the *pūjā*. After offering some flowers her *bhāva* underwent a change and she told Bholanath to put some flowers in her hand. After receiving the flowers she tried to offer them to Kali with her left hand but being unable to do so, she said to Bholanath : "You perform the *pūjā* and I shall sit." Saying this she sat down to the left of Kali with a smile on her face. When about to start the *pūjā*, Bholanath, observing the strange *bhāva* of Mataji, asked all those present to close their eyes. Everyone complied except the gardener's wife, who was standing at a distance outside. Mataji said : "Sukhadia (the *malin*) is still gazing." Sukhadia was then asked to either close her eyes or to leave the place ; so she left. We opened our eyes when Bholanath started performing the *pūjā*. It was learnt later that the covering garment had slipped. As soon as the *pūjā* was over I went out to get the *pūrṇapātra*. As I was going to the other room someone exclaimed : "Look at MA !" When I went back and saw Mataji, I discovered that her face had assumed a bluish hue and the elongated tongue was hanging out. I saw at a glance this changed appearance of Mataji and turned away.

Question : Why did you turn away ? Were you overcome by awe ?

Giriji : I cannot now say why I did so. People at that time were overwhelmed by this appearance of your MA. When they quietened down I went to sit in the *pūjā* room.

Qnestion : It is said that you had gone to offer *pushpañjali* at the feet of MA, but you came away without doing so. Why did you not make the offering ?

Giriji : Yes, at the time of making the offering the idea did occur to my mind to do so at the feet of Mataji : But as I picked up the flowers and the bilva leaves in my hand, I thought : 'How can I make the offering to my own daughter ?' So I offered the same handful of flowers and the bilva leaves to Kali.

"When your MA and Bholanath had sat down for their meal, MA pointed to me. She then asked someone to inquire from me to whom I wanted to make the offering. I replied : "I had thought of offering the *anjali* to you but then I made the offering to Kali."

It is recorded in the Bhāgavata Purāṇa that the feeling of divinity slightly replaced the maternal affection in mother Yashoda when Lord Krishna showed her the vision of the entire universe in his mouth. Lord Krishna immediately covered the momentary enlightenment by the veil of *Vaiṣṇavī Māyā*. Similarly MA put our Giriji also under the spell of *māyā* when she was about to offer the *pushpānjali* to her. Consequently Giriji offered the *añjali* to Kali.

In 1936, Mamu was working in Calcutta. At that time Didima and Dada *Mahāsaya* were living at Kalighat in a rented house. It was realized here later that Dada *Mahāsaya's* days were numbered. At that time Mataji was on her way to Kashi via Burdwan. It is said that she had told the late Swami Akhandanandaji Maharaj to go to Dada *Mahāsaya* and initiate him into *sannyāsa*. Swamiji thought that he should first see Mataji off to Kashi and then leave by the next train for Calcutta. When Mataji had told Swamiji to go, there was an earlier train for Calcutta. If Swamiji had left by that train he would have reached Calcutta in time for the initiation of Dada *Mahāsaya* into *sannyāsa.* But as he arrived at Calcutta by the next train he found that Dada *Mahāsaya* had already breathed his last. Till the last moment Dada *Mahāsaya* was fully conscious and kept on repeating his *Iṣṭa-mantra.* It was learnt later that as Swami Akhandanandaji failed to reach in time, Mataji herself appeared in her astral form before Dada *Mahāsaya.* He thus attained *moksha.* Mataji is reported to have said: "The father of this body has become one with this body"

A year after this Didima got Mamu married.

Mataji, Didima and Bholanathji, accompanied by some devotees, had gone to Hardwar in 1938, on the occasion of *Purna Kumbha.* Mataji stayed there in the house of late Dr. Pitambar Pant. The well known revered saint Swami Mangal Giriji Maharaj was then staying at Kankhal. On the 13th of April, 1938, on the sacred occasion of '*Pūrṇa Kumbha*' and the auspicious day of *Mahavishuva Samkranti*, the revered Guru Sri Mangal Giriji Maharaj initiated Didima into *sannyāsa* and conferred the new name Swami Muktananda Giri on her. Swami Mangal Giriji Maharaj normally did not initiate any woman. Women were not even allowed to stay in his Ashram at Kankhal, but he had made an exception in the case of Mataji. He had initiated Didima into *sannyāsa* as the mother of Sri Anandamayi Ma. He had also given the *sannyāsa* mantra to Didima in the same way as it is given to a male Brahmin.

Swami Vidyaranya has laid down in 'Jivan-mukti-viveka' that women are also entitled to *sannyāsa.* Bhishma, while narrating the dialouge between Sulabha and Janaka during his discourse on *moksha-dharma* in the Mahabharata referred to Sulabha as well-grounded in Yoga and wandering about like a mendicant.* Nilakantha the well known commentator of the Mahabharata has explained the term *Bhikshukī* as implying the right of women for *sannyāsa* either if unmarried or after widowhood. The duties of a *sannyāsini* are enumerated as begging, listening to discourses on *moksha*, quiet contemplation and the carrying of *tridaṇḍa*.

---

* Atha dharma-yuge tasmin yoga-dharmamanushṭhitā.
mahīmanuchachāraikā Sulabhā nāma bhikshukī.

The scriptures give the following ten attributes for one who has attained spiritual knowledge :—Absence of anger, complete detachment, control over the senses, forgiveness, liberality, compassion, freedom from all temptation, freedom from fear and sorrow.[1] All these characteristics, natural to Giriji since early childhood, entitled her to *sannyāsa* in every way. Treatises on Vedanta classify *paramahamsa sannyāsa* in two ways. Firstly, one who desires to attain Knowledge and secondly one who has attained Knowledge. The former embraces *sannyāsa* with the desire to know the Supreme Reality. It is therefore called *jijñāsa* or *vividisa sannyāsa*. It is mentioned in the Brihadaranyaka Upanishad that a completely detached person takes to *sannyāsa* with a desire for *ātma-loka* (*āṭma-jñāna*).[2]

The *lokas* (worlds) are of two kinds '*ātma*' and '*anātma*'. The latter again is of three kinds : the world of men, the world of the manes (fore-fathers), and the world of the gods. One can master the world of men by begetting a son, the world of the manes by good deeds, and the world of the gods by learning. But a *sannyāsi* should try to attain the knowledge of the Self only[3] as there can be no salvation without[4] it. A *jijñāsu paramahamsa* therefore should continuously strive to attain the knowledge of Brahman by practicing *sama, dama* etc.[5] Swami Vidyaranya has described in detail these two types of *sannyāsa* in 'Jivan-mukti-viveka'. *Vividisa sannyāsa* is so called as it is brought about by the yearning Knowledge, which in turn is intensified by good deeds like for the study of the Vedas etc. either in this birth or in previous ones.

---

[1] akrodha-vairāgya-jitendriyatvam kshamā dayā sarva-jana-priyatvam.
nirlobha-dānam bhaya-sokahānam jnānasya chinham dasa laksha nam cha.

[2] etameva pravrājino lokam ichchhantah pravrajanti.

[3] ātmānameva lokamupāsita.

[4] rite jnānānna muktih.

[5] brahma-vijnāna-labhya brahmahamsa-(paramahansa) samah-vayah
santi dāntyādibhih sarvaih sādhanaih sahito bhavet.

The second classification of *paramahamsa* is *jñānavān* or *vidvat sannyāsa*. *Vividisa sannyāsa* is taken for acquiring spiritual knowledge while *vidvat sannyāsa* represents the stage after the attainment of the knowledge of the Self. One who has attained this knowledge forsakes all the bonds of this world and remains engrossed in Supreme Bliss. The sage Yajnavalkya belonged to this category. When he had realized the Self, he told his wife Maitreyi. "I shall now renounce the world." This appears to apply to Giriji too. One finds all the indications of knowledge in her from her very childhood. She took to *sannyāsa* at the appropriate time, that is the moment the knowledge of Brahman was acquired[1].

One, who thus renouncing the world, leads a completely detached life, unaffected by worldly joys and sorrows and remains immersed in Supreme Bliss is called '*jīvan-mukta*', that is liberated while still alive. The cessation of all apprehension by the removal of the idea of doer and enjoyer in a *vidvat sannyāsi*, who has directly apprehended Brahman is called the state of *jīvan mukti*.

A *jīvan-mukta* has also been variously described in the scriptures as firm in judgement (*sthita-prajña*), full of devotion (*bhakti*), beyond the three *guṇas* (*guṇātīta*), beyond the pale of society (*ati-varṇāśrama*). The sage Vasiṣṭha states in the 'Yoga-Vāsishṭha Rāmāyaṇa' that the liberation, while living, is attained by one who renouncing all actions, listens to the scriptures and the teaching of the Guru.[2]

---

[1] jnātvā samyak param brahma sarvam tyāktvā parivrajet.

[2] nṛiṇāṃ jñānaikanishṭhānāṃ ātma-jñāna-vichāriṇām.
sā jīvan-muktatoḍeti videhānmuktāteti vā

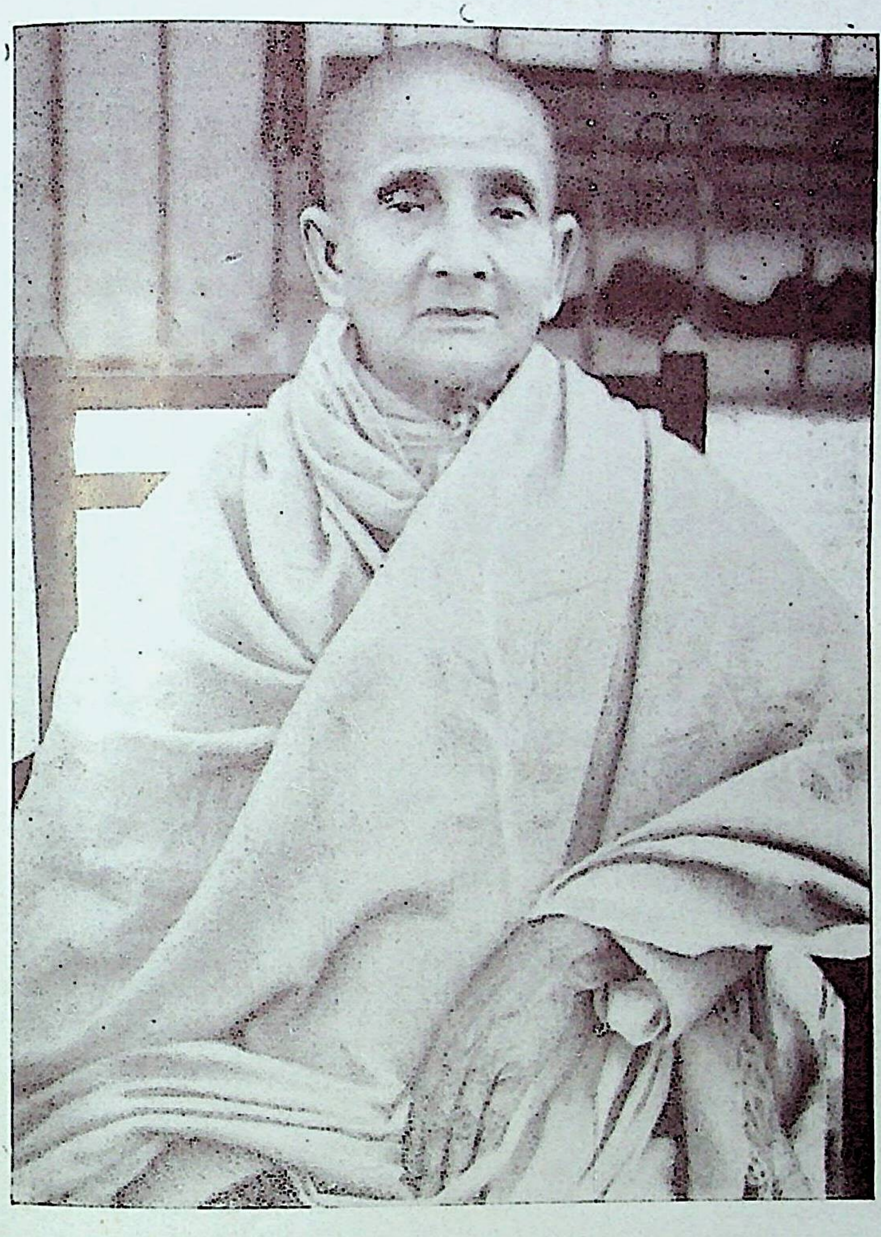

Swami Muktananda Giri Maharaj—
Mataji's mother, who has just completed 93 years.

LIBRARY
No............
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

In addition to this he also strives for the knowledge of the Self through contemplation and meditation. *A jīvan-mukta* is one who though apparently carrying on worldly activities looks at the world as non-existent and sees everywhere only the Brahman.[1]

The description of *sthita-prajña* in the Gita is also applicable to a *jīvan-mukta*. A *jīvan-mukta* is variously described in the Upanishads, the Smṛitis and the Purāṇas. The life of our most revered Gurudeva Sri Giriji is also that of a *jīvan-mukta*. She is all the time immersed in the contemplation of the Self. Though carrying on ordinary activities, she is constantly engrossed in the meditation of Brahman. On February 14th, 1963 at Delhi, Mataji said about Giriji :—"Japa of the *sannyāsa* mantra is going on incessantly within Giriji."

We had all gone to Jodhpur with Mataji in early February. Giriji was then at our Aśrama at Kankhal (Hardwar). On the night of February 10th, 1963 at 2.30 a.m. Giriji had an urge to discard her physical body. She sat on her *āsana* and had a divine *darśana* which lasted the whole night.

This incident has already been narrated in great detail by Swami Śivānanda Maharaj in 'Ānanda Vārtā' of February 1964, hence I am not repeating the details here. Mataji, who was then at Jodhpur, appeared before Giriji in her astral form and dissuaded her from her resolve. Giriji then asked Mataji, "I have crossed this ocean of life and reached the goal, but what will you do for those who are standing on the bank ?" The boatman repeated three times : "Yes, certainly I shall bring them across."

Giriji once experienced *mahā-bhāva* which was followed by the spontaneous exclamation: "How can I have salvation before everyone is liberated !" Animals, birds, insects, trees, creepers none should suffer the agony of birth and death !" What a wonderful notion ! Lord Buddha is believed to have expressed similar feelings of compassion on attaining Enlightenment.

---

[1] yathā-sthitam idaṃ yasya buddhyā vyavahāratospi cha,
aṣtaṃ gataṃ sthitaṃ vyoma sa jīvan-mukta uchyate.

It is not possible to attain Self-realization without the Guru's Grace.[1] Let us all pray at the lotus feet of the most revered Gurudeva Sri Giriji Maharaj and the most compassionate Ma, "Bless us, so that we may attain the Lord and realize the Self. This is the one and only prayer."

Jai Guru ! *Jai Ma* !!!

---

[1] durlabho vishaya-tyago durlabhaṃ tattva-darśanam,
durlabhā sahajāvasthā ṣad-guroḥ karuṇāṃ vinā,

Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak

A DEVOTEE

SHAY

निन्दसि यज्ञविधैरहह जूतिजा तम्
सदयहृदयदर्शितपशुवा तम्   ।
केशव धृतवुद्धशरीर
जय जगदोश हरे   ॥ *

[Seeing animals killed for sacrifices, Thy heart was full of compassion. Thou then spakest ill of the teachings of the Vedas regarding sacrifices. O Keshava! Thou incarnated as Buddha. Glory be to Thee. O Lord of the world, Thou who takest away all sin and sorrow, glory to Thee].

Shay is a village on the right bank of the Indus river situated at a distance of about eleven kilometers north of Leh in the Ladhak area of Kashmir.

There is an ancient Buddhist monastery at Shay.

SHESH NAG

तत्रैकस्यिन्किलोद्याने स्वच्छस्वादुजला र्चितम् ।
आसीत्सुशवाँ नाम्नाँ नागस्य वसतिः सरः ॥ **

(There, in a grove in a pond of limpid and sweet water, was the habitation of a Nāga called Sushravas).

Shesh Nāg is a mountain lake situated between three high peaks at a height of about 11.700 feet above sea level. It is on the way to the cave-shrine of Amarnath at a distance of about twenty-one kilometers from Pahalgam. The lake is about one and a half kilometers long and about one kilometer wide. It is connected with a small lake called Zāmti Nāg, which is fed by a large glacier situated under the three remarkable peaks mentioned above. The lake remains frozen from the middle of December to the beginning of June. It is regarded as very holy in Kashmir. At a distance of about three kilometers south-west of Shesh Nāg there is another small lake called Sonasar Nag, also regarded as very holy. The history of Shesh Nag as narrated by Kalhana in the Rajatarangini is given below:

---

* Dashavatāra stotram by Sri Jayadeva.

** The Rājatarangini, first Taranga, verse -203.

King Nara founded a very beautiful city named Kinnarapura. A Nag named Sushravas lived with his two beautiful daughters in a pond near a spring in the main garden of the city. One day a poor young Brahmin named Vaishakha came to rest in a grove near the pond. When he was about to have his meal that he had brought with him, he saw two lovely maidens dressed in blue robes emerging from the spring. They were hungrily eating the pods of fresh green grass. On seeing this, he, full of pity, asked them who they were and why they were eating such inedible things. One of the beautiful maidens replied that they were the daughters of Nag Sushravas. As to the cause of their poverty she asked him to inquire from their father. Vaishakha would be able to recognize him by his hair-tuft dripping with water when on the twelfth day of the dark half of Jyaishtha (May-June) he would be visiting the sacred spring of Takshaka Nāg. Accordingly, Vaishākha went to the spring* of Takshaka on the specified date. He met the father of the maidens and came to know from him that though they were entitled to get a share of the rich crops growing in the surrounding fields of the city, yet they could take them only after the field-guard would partake of the new harvest. Since the field-guard had sworn not to take a single grain of the fresh crop, they were unable to get anything and therefore had no grains to eat. Vaishakha was overcome by pity for them. One day he stealthily put some fresh corn into the cooking pot of the field-guard. As soon as the field-guard had unknowingly eaten the food, the Nāga carried away, through thunder and storm, the rich harvest from the fields around Kinnarapura. Out of gratitude, he gave one of his beautiful daughters to Vaishākha in marriage. Vaishakha and his wife lived happily in the city but unfortunately the king Nara came to know about the beauty of Vaishakha's wife and tried to win her for himself. In great fear the helpless husband and wife jumped into the pond where Nag Sushravas lived. When Nag came to know about all that had happened, he full of anger, launched thunder-storms and torrential rain which destroyed the beautiful city of Kinnarapura, its King and people. He with his daughters and Vaishakha then left the ruined city and created for their residence the beautiful lake of Shesh Nag on the high mountains. Kalhana concludes his legend by telling the following verse :

---

* This spiring is at Zewan, eleven kilometers south-east of Srinagar.

दुग्धाब्धिधवलं तेन सरो दूरगिरी कृतम् ।
अमरेश्वरयात्रायां जनैरथापि दृश्यते ॥*

[A lake, which is as white as the ocean of milk, was created by him on a distant mountain. It is seen even today by the people on their way to the pilgrimage of Amareshwara (Amarnath).]

SINTHAN

ये नार्चैयिन्ति गिरिशं समये प्रदोषे
ये नार्चितं शिवमपि प्रणमन्ति चान्ये ।
एतत्कथां श्रुतिपुटैर्न पिवन्ति भूढास्ते
जन्मजन्मसु भवन्ति नरा दरिद्राः ॥

[Those men, who do not at even-tide worship Siva, the mountain-dweller, those who do not bow in reverence to Siva when others are worshipping him and those who do not listen with eagerness to the glory of Siva, become poor, life after life].

Sinthan village is at a distance of about twenty kilometers east of Bandipura which is on the north-eastern bank of the Wular Lake.

---

* The Rajatarangini, first Taranga, verse—220.

There is an ancient cave-shrine of Siva in the north of the village. The Siva-Linga is said to have manifested spontaneously and is therefore called *Swayambhu.* Above the Siva-Linga there are stones projecting from the ceiling of the cave which resemble the udders of a cow. From these stones natural water-drops fall on the Siva-Linga as if to bathe the deity.

PANDRETHAN

Pandrethan is situated on the right bank of the sacred Vitasta (Jhelum) at a distance of about five kilometers south of Srinagar. It is on the way to Ananta Nag.

At Pandrethan there are the ruins of a temple of Vishnu called Merubardhanaswami standing in the middle of a tank. The temple was constructed in the tenth century A. D. by Merubardhana, the Prime Minister of King Partha (906-921 A. D.) of Kashmir. The tank is fed by two sacred springs. The ancient temple was of sculptured stone rising in the centre of a tank. The ancient name of the place was Puranadhisthan.

King Maghavahana also constructed temples at Pandrethan. This is mentioned in the following verse of the Rajatarangini of Kalhana—

स मातृचक्रं निर्माय बः पूर्वं प्रवरेश्वरम् ।
पुण्याः पुराणाधिष्ठाने प्रतिष्ठा विविधा व्यधात् ॥

[After having constructed first a shrine of Pravareshwara together with a circle (symbol) of Mother, he (Meghavahana) constructed various holy shrines at Puranadhisthana].

About a kilometer east of this place there are the ruins of two Buddhist stupas (mounds).

The Last Days of Sri Hari Ram Joshi

SRI B.D. JOSHI

[Sri Hari Ram Joshi of Almora, who left his body in Lucknow on 13th April this year at the ripe old age of seventythree, first met Mataji more than thirtyseven years ago in the month of April, 1933 at Raipur (Dehradun). Popularly known as "Joshiji" among the devotees of Mataji, it will be no exaggeration to say that he was indeed a devotee *par excellence.* Joshiji, who held respectable posts both in the Government of Uttar Pradesh as well as in the Central Government, was held in great esteem both high and low. It was Joshiji whose ceaseless endeavour was to draw more and more people to the divine personality of Mataji, brought to her such persons like Kamala Nehru; Govinda Ballav Pant and many others. It was again he, who through his untiring efforts, founded the Ashrams in Mataji's name at Kishenpur (Dehradun) at Pataldevi (Almora) and Dhaulchina (Almora). Joshiji happened to be a Life Member of the Shree Shree Anandamayee Sangha and was also a member of the Governing Body of the organisation for a number of years].

—*Managing Editor.*

I have been approached by Sri Prabhat Kumar Banerjee; retd. Deputy Director of Education, U.P. to give for publication in *Ānanda Vārtā*, a full and detaild description of the last days of my late lamented brother, Sri Hari Ram Joshi.

Sri Joshiji, who was an ardent devotee of Sri Sri Ma Anandamayi, left this mortal world for his heavenly abode at the age of 73, on April 13th, 1970 at 1-15 P.M. in Lucknow. Although for the last couple of years he had been in poor health, he was nevertheless quite active and alert till his last moments. Even while confined to bed with fever, he dictated his own reminicences of Sri Sri Ma Anandamayi for about four months during the last summer, devoting almost six hours daily to this work, which awaits publication in future.

Since his first *darsana* of Ma Anandamayi at Dehradun in 1933, he lived only to propagate Ma's teaching and died with Ma's sacred name on his lips.

He was very sincere and out-spoken, ever-ready to help the needy, God-fearing and always aspiring to Ma's *ahetuki kripa* in all his actions. It was his nature to always stick to his decisions despite all protests. His outspokenness and tenacity were often misunderstood even by his relations and brother devotees.

On April 1st, I received the very tragic news of the sudden and untimely death of my nephew, aged about 24 years, in a truck accident at Moradabad. This very promising boy had been the eldest son and the main stay of my younger brother, Sri N. K. Joshi, Chief Dairy Development Officer, U.P. Hari Ramji was so fond of this brother and his family that he chose to stay with them during the period of his illness. My younger brother's wife, Smt. Kamala was all the time in attendance on Hari Ramji even while battling with the greatest tragedy in her life, the loss of her eldest son. The death of our nephew was, perhaps, too great a shock for brother Hari Ramji to bear in his failing health.

When I reached Lucknow on April 3rd I found Hari Ramji lying on a wooden couch, reduced almost to a skeleton and running a high temperature of 102°. Even so he was quite alert in mind. I came to know that since my nephew's death, he had stopped eating anything and was asking only for Ma's *charanāmrita*, which he sipped after every two or three minutes.

I asked my brother if he would like my reading the *Bhagavat Gita* at his bed-side. He appreciated this idea very much. I, therefore, began to recite the Gita twice daily for about one hour.

On April 12th Hari Ramji requested us to remove the wooden bed on which he was lying and put him on the floor with only one quilt under him. He further asked us to call the priest in order to perform the last ten *dānas*, as ordained by the *Shāstras* for a departing soul before death. With the priest's help brother Hari Ramji performed nine *dānas* with his own hand and in full consciousness. He asked the priest to chant *mantras* for the tenth *dāna* as well, which was, however, politely refused by the priest, as that is supposed to be the last act in human life. It was crystal clear to all of us that brother Hari Ramji had an intuitive feeling of his impending death.

My nephew Vidya Sagar had arrived from Chamba the day before. Hari Mohan, the second son of Hari Ramji, and my second son Naveen also came the same morning from Delhi. With the arrival of Vidyasagar and Hari Mohan (both good singers) we started the *Mā Nāma Kirtana* in brother's room. He liked it so much so that on the 12th at about 7-30 p.m. he himself participated in the *Kirtana* with his trembling and feeble voice. Chanting of the *Gita* and *Mā Nāma Kirtana* were continuously going on in his room.

At about 2 A.M. on the 13th, hearing the *Kirtana* being sung in a louder tone, I went to my brother's room and all the family members assembled there. His pulse was very very feeble. Apprehending that the end was fast approaching I began to recite the *Gita* and *Visnu Sahasra Nāma*. At about 4-30 in the morning he got his cotton vest removed and his entire body sponged and cleaned and got him clothed in clean dress. He was helped to sit against the wall. But his condition began to deteriorate fast. The doctor came and found him alarmingly weak.

At about 10 A.M. my brother enquired from us if our younger brother and the widow of my late brother Dr. M.M. Joshi had returned from Hardwar. They had gone there to perform the last rites for my deceased nephew. The party did come back at about 11A.M. bringing also *prasāda* and a garland from Ma Anandamayi, who was at Hardwar, specially given by her for Hari Ramji. Ma had also sent a message thatuninterrupted recitation of the *Gita* should be performed by the side, of our ailing brother. They had also brought two bottles of Ganges water from Hardwar. Brother swallowed with great delight Ma's *prasāda* and put on the garland sent by Ma. At about 12-15P.M. his favourite *mala* (rosary) was put in his right hand and we were surprised to see him revolving all the 108 beads with *japa* on his lips. Then our priest performed the tenth *dāna*. Continuous *Mā Nāma Kirtana* and recitation of verses from the *Gita and Vishnu Sahasra Nāma* were going on by his side. Throughout this period, he was constantly sipping Ganges water mixed with *tulsi* leaves. The end was so touching and peaceful. He breathed his last just at the close of the last sentence of the hymn to Ma: "*morā mili prāne prāne, pranami Sri charane, jai jai jai Mā.*" It was *Vaisākhi shuklā Astami*, an extremely auspicious day when our brother left us all mourning his demise.

This is how a very pious & great soul and a faithful devotee of Ma Anandamayee passed away from this mortal world leaving all of us to ponder if any better death could be aspired for by a truly religious person.

May his soul rest in eternal peace in Ma's lap !

"Keep yourself bound to meditation on God — whether you are able to concentrate or not. There is hope that some time or other you will get interested and also remain absorbed in it."

— *Mata Anandamoyi*

Mātri Līla

(*April—June 15th*, 1970)

In the last issue of Ananda Vārta it was already mentioned that Mataji stayed in Hardwar from 5th to 15th April. The first three days she spent fairly quietly at Baghat House, Kharkhari. On the 8th she shifted to 'Santiniketan', our Ashram at Kankhal. On April 10th she passed the day at Kharkhari where the son of a devotee received his sacred thread in her presence. That day Mataji visited the Girls' School that is being run in Hardwar in her name. Many years ago Mataji stayed on that site in "*Pita Kuti*" with Bholanath. It was there that Brahmacharini Udas received her sacred thread. Mataji also visited the Sri Bholagiri Ashram at Kankhal.

At Kankhal she also followed an invitation to the Ashram of Mahamandaleshwara Swami Maheshwaranandaji Maharaj. In spite of his failing health, Sri Maheshwaranandaji agreed to give a short talk in our Ashram on the occasion of Didima's *Sannyasa Utsava.*

We are extremely sorry to say that Sri Maheshwaranandaji suddenly left this mortal world on May 1st in his Ashram at Kankhal. It must be said that the Swamiji, who was not only an erudite scholar but was also widely respected amongst the *Mahamandaleshwaras* (heads of sannyasi orders), was very much drawn to Mataji during the last few years. He invited Mataji a number of times to his Sannyasa Ashram at Vile Parle (Bombay), where Mataji was always received with the greatest respect and ardour. It had become almost a regular practice for him to attend inspite of his physical ailments, the annual *Samyam Saptaha Mahavratas* as well as Mataji's birthday celebrations every year. The presence in itself of the Swamiji in such functions organised by the Sangha was always an added attraction to all classes of devotees. The masterly discourses which he used to give, whenever he was with us, are still very much fresh in our memory. The sudden passing away of the great saint was all the more poignant as he had kindly agreed to leave for Poona on May 18th to be in time for Mataji's birthday celebrations there. It will be the least exaggeration to say that devotees of Mataji have been very much shocked at the demise of two great saints—Sri Hari Babaji & Sri Maheshwaranandaji in quick succession within a short span of five months.

On April 13th, the solemn consecration of a small *Śiva Mandir* took place at Santiniketan in Mataji's presence. Three *lingas* called Mukteshwara, Amriteshwara and Nilkantheshwara were installed. Many devotees had assembled from far and near since the next day Didima's *Sannyāsa Utsava* was celebrated in great style by her disciples. There was *mangala ārati* in the early morning, followed by *Guru Pūjā* and *kīrtan*. At midday a feast was given to 108 *Sannyāsis* and to all guests. In the afternoon some *māhatmās* delivered discourses, among them was the Mahant of Sri Bholagiri Ashram. At night Swami Bhagavatananda talked about Didima. The function again ended with *Ārati*.

On that auspicious day, which happened to be also *Ashtami* of *Vasanti Pūja*, Mataji invested a few of the Brahmacharinis of our Ashram with yellow clothes. A few others received the same colour on May 3rd at Bhopal.

On April 15th, *Rama Navami* day, Mataji visited *Bhagavad Dhama* Ashram and in the evening motored to Kishenpur. She went straight to Kalyanvan, where Sri Rama Chandra's birthday was celebrated since the morning by *Akhanda Ramayana* in Rama Mandir. After some time Mataji alighted at the Kishenpur Ashram. The next morning at 6 a. m., she was again at Kalyanvan, supervising the preperations for the sacred thread ceremony of the Raja of Madhupur which took place later in the morning in *Amar Kutir*, one of the cottages at Kalyanvan. After the *Purnahuti* of the Ramayana and the completion of the sacred thread ceremony, everyone gathered at the Kishenpur Ashram for a feast.

Mataji remained in Dehradun for five days only, yet managed to do an enormous amount in that short period. Her stay was like a continuous festival. Among those coming for her *darśana* were inmates of Swami Sivananda Ashram and also quite a number of the European and American disciples of Maharshi Mahesh Yogi. They turned up daily in small groups, as they had already done at Kankhal.

On April 18th evening, Mataji motored to Raipur where she remained overnight. The next morning on her way to Kishenpur she visited three houses of devotees and the *Sadhan Ashram* at Jakhan.

On the night of the 20th she left for Patiala at the invitation of Rai Bahadur Sri G. M. Modi, to grace with her presence the consecration of the *Lakshmi Narayaṇa* temple, constructed in the vicinity of the Sanskrit College which Sri Modi had started some years ago. Festivities had been in full swing already for several days in a pandal adjoining the new temple.

On April 24th evening Mataji left for Delhi where she remained only for a few hours. On the way to the railway station she went to a hospital to cheer up a devotee who had recently undergone an operation.

On the 25th morning Mataji alighted at Bairagarh near Bhopal, in the Ashram which Sir and Lady Datar Singh had in 1965 built for her in the grounds of their farm.* Just then the heat wave that was scorching the plains of India had reached its climax. Bhopal experienced its hottest day within ten years. Mainly for the sake of Didima who is 94 years old, our hosts felt deeply anxious and fervently prayed for cooler weather. Lo and behold, the temperature fell by six degrees the next day and it remained pleasant throughout Mataji's stay. In those quiet and beautiful surroundings, Mataji had a really restful time for a few days. As last she was able to get through piles of correspondence. *Darśana* time was only in the evening after 6 p. m. At night Brahmachari Virajananda used to read out from "Amar Vani" and in that peaceful, undisturbed atmosphere Mataji related generously about olden times when the *Lilā* of *sādhana* was going on.

---

* See Ananda Varta, October 1969, (Matri Lila).

On the night of May 3rd, Mataji's birthday was celebrated by the usual *pūja* accompanied by sweet songs. Mataji's wooden couch was right in the open, decorated with strings of *bela* flowers with a curtain made of lines of the same kind of fragrant jasmins. Mataji, as always on these occasions, lay perfectly motionless. *Kumāri Pūjā* of a little Kashmiri girl was performed along with the main *Pūjā*. The next day sweets were distributed to all patients of the local hospital. Many people had come from Bhopal to witness Mataji's birthday celebration, also several Rajas and Ranis from neighbouring states.

During Mataji's sojourn, most of the dignitaries of Bhopal came for her *darsana.* Sri K.C. Reddy, the Governor and his wife stayed quite a long time in Mataji's room. Several Ministers of Madhya Pradesh Government also paid their respects to Mataji. Many of the people of Bhopal had private talks with her and a few took even *diksā* (initiation) from Didima.

On May 6th Mataji left for Delhi. It had originally been planned to celebrate Ma's birthday in her presence in Poona during the whole period from her solar birthday on May 3rd to the lunar *Tithi* on May 24th. But Ma had the *kheyāla* to visit three other places as well during that period, namely Bhopal, Delhi and Bombay. In the early morning of May 8th, the opening cermony of the newly constructed kitchen and dining hall was performed in Ma's presence. Immediately after, the foundation stone was laid for a cottage for Mataji's use to be built in the recently acquired extension of the Ashram grounds. This was followed by *Akshaya Tritiya pūjā* performed by several devotees, led by Dr. Gourinath Sastri, Vice-Chancellor of the Varanasi Sanskrit University. At midday a sumptuous feast was given to all present. During her short stay for only two nights there, the Prime Minister Srimati Indira Gandhi, the Vice-President Sri G.S. Pathak, Sri G.L. Nanda, Union Railway Minister and many others availed themselves of this opportunity to have even private interviews with Mataji. *Nāma Yajna* of the *Mahāmantra* was celebrated, continuing until early morning on the 9th. During the night, Mataji's birthday *pūja* was performed in grand style at the *Panchavati*. Mataji's forty-eight hours in Delhi were an uninterrupted festival. A throng of four to five hundred people were present in the Ashram day and night, enjoying Mataji's *darśana* to their heart's content.

On May 9th morning, Mataji boarded the train to Bombay reaching there the next morning. She stayed for three nights in her special cottage at Vile Parle within the compound of the house of Sri B. K. Shah. This was a comparatively quiet period after the two hectic days in Delhi.

Mataji motored to Poona on the 13th morning. Mataji's birthday celebrations had been carried out at Poona with full vigour since May 3rd, Swami Paramananda, Brahmachari Nirmalananda and a few others were already there in the Ashram to assist the local devotees. Swami Krishnanand Avdhutji had also arrived with a *Rāma Līlā* party who performed for 2½ hours daily from May 4th to 24th. Besides the *Rāma Līlā*, there was *kīrtana*, chanting of the Ramayana and the daily recitations from the *Gita*, *Chandi*, *Upanishads* and *Bhāgavata* that form part of the Ashram routine. A spacious pandal had been provided for the *satsang*. Another small structure, next to the pandal, served for the recitation of one hundred *Durga Sapta Satis* performed by several *pandits*. In a tiny little hut made of bamboo matting, *akhaṇḍa japa* was sustained day and night. A spacious new dining hall, kitchen and store rooms were also ready for use.

As soon as Mataji arrived, She and Didima occupied the new cottage, which has been recently built for Mataji's use by Sri and Srimati Bhagwandas P. Nangpal. It is worth mentioning here that it was the Nangpals who very kindly donated the existing Ashram building to the Sangha for the purpose of starting an Ashram in Poona.

During the last and main week of the celebrations, namely from May 18th to 24th, the Swamis Sri Akhandanandaji, Sri Vishnu Ashramji, Sri Saranandaji, Sri Avadhutji and Sri Jogesh Brahmachariji daily delivered talks from 7-30a.m. and again in the evening. At 9-30a.m. Sri Hara Govinda's party enacted the *Rasa Līla* and in the afternoon there was Rama Lila. The climax of every day was, as usual, *Matri Satsang* at 9-30 or 10 p.m. when Mataji replied to questions or sang. Every morning punctually at 7-30 Mataji appeared in the pandal and attended the *satsang* for long hours. A decorated chair with Sri Hari Babaji's photo had also been placed on the stage of the Lila.

On the *Buddha Purnima*, May 21st, the ladies performed an all night *kīrtana* of *Mā Nāma*. Mataji came in the early morning before the completion and distributed *prasāda* with full hands to all who had participated throughout.

A delightful function is always *Kumāri Pūjā* and a feast given to 108 *Kumarīs*, including a few little boys. Mataji was playing and eating with the children as one of them, while the Brahmacharinis of our Ashram walked along the lines of the *Kumarīs* performing *aratī* to them.

For the *Tithi pūja* on the 24th night, the *Durga Sapta Śati* hut was joined to the main pandal and Mataji's decorated couch placed there, with elevated seats for the *Mahatmas* by her side. There was pin-drop silence in the entire pandal as about 550 people observed the puja going on and Mataji lay completely still from 3 a.m. to 10 a.m. when she slowly rose and was taken to her room.

On the 25th evening there was *adhivāsa* of *akhanda kīrtana* of *Mahāmantra*. Mataji was present throughout and then started the women's *kīrtana* that continued all night, the men taking over at sunrise on the 26th and continuing until sunset, when Ma herself led the *kīrtana.* During the night Mataji came three times and also joined into the singing. Some of our Delhi *kīrtana* party had come and their *kīrtana* is always inspiring and unforgetable.

The devotees of Poona had taken great trouble to make the necessary arrangements and everything proceeded in great joy and harmony. The attendance was large, as every year for Mataji's birthday. Devotees had flocked from all over the country, including the South.

From May 26th they began to disperse. Now a somewhat quieter period followed, although visitors from Bombay and other neighbouring places kept on pouring in and Mataji had to grant numberless "privates". One day H.H. the Gaekwar of Baroda came to see Mataji. Another day Dr. Vikram Sarabhai, the Chairman of the Atomic Energy Commission also had a private interview. On a number of occasions Sri Dilip Kumar Roy and Sm.Indira Devi paid visits to our Ashram. They very kindly accommodated for about ten days in their beautiful Ashram Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj, who also arrived on May 28th for a change. We are happy to say that his health has very much improved.

Mataji is also having a more or less quiet period these days. Almost every evening she goes out for long drives, giving *darśana* in the morning at 11.30 and 6-30 in the afternoon. At 9 p.m. Brahmachari Virajananda would read out from the "Amar Vani" and according to her *kheyāla* Mataji would respond to questions with longer or shorter comments.

Mataji is expected to remain in Poona till about the end of June, after which she is likely to visit 2/3 places in Maharastra and return to Poona again in time for the *Guru Purnima,* which is going to be celebrated on July 18th. Further programme after that is not yet definitely known.

We are however happy to note that the *Durga Puja* is scheduled to be performed in our Ashram at Kalkaji, New Delhi in Mataji's presence from October 6th to 10th. Our readers will be interested to learn that both the *Lakshmi Puja* and the *Kali Puja* (*Dewali*) are also expected to be held in the New Delhi Ashram on October 14th and 29th respectively. The next *Samyam Saptaha Mahavrata* is proposed to be held at Shuktal (Muzaffarnagar) this year from November 6th to 12th at the cordial invitation of Sri 108 Swami Vishnu Ashramji Maharaj.

LIBRARY
No............
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
LIST OF PUBLICATIONS

Hindi

Mātri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni ,,	1.00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi Vol. I to XV	40.50
Ma Anandamayee—Dr. Pannalal	3.00
Akhanda Mahāyajña—Gurupriya Devi	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Sankirtan, Stav, Arati	0.50
Amar Vani	6.00

Bengali

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1.50
Mātri Vāni	0.75
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi Vol. I–XIV	36.50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1.50
Akhanda Mahāyajña ,, ,,	2.50
Kirtan Rasa Swarūpa	6.00
Suno Bali Maer Katha – Sailesh Brahmachari	1.25
Anandamayee Ma—Ganga Samiran	2.50
Amar Vani	10.00

Gujrati

Matri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Ma Anandamayi—Na—Sannidhyama (Vol. I)—Containing Bhaiji's "Sad-Vani" and "Sri Ma Anandamayi Lila Katha" by Swami Bhagavatananda Giri	4.00
Ma Anandamayi-Na-Sannidhyama—Vol. II by Swami Bhagavatananda Giri	2.00
Amrit Vani—Br. Dattatreyanand	2.00

English

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"	4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1.50, Special edition 2.50
Words of Sri Anandamayee Ma	5.00
Mother as seen by Her Devotees	5·50, ,, ,, 6.50
From the Life of Sri Anandamayee Ma —Km. Bithika Mukerji, M.A. D.Phil.	12.00

Photos etc.

Photos—various sizes	0.50 to 15.00
Lockets	1.50
Album	2.50

श्रीश्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4726/57

Librar

ānanda VĀRTĀ

HINDI & ENGLISH

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Vol. XVII October, 1970 No. 4

Just out :

From the Life of Sri Anandamayee Ma

Vol.—I

By

Km. Bithika Mukerji, M.A., D. Phil.
—Deptt. of Philosophy, B.H.U.

Special Features :

- ★ Scholarly Foreword from the pen of Sri B. Sanjiva Rao.
- ★ Biographical details of Mataji containing many untold stories of her early life, from childhood to June, 1932, when Mataji finally left Dacca (East Pakistan) in the company of Sri Bholanath and Bhaiji.

The principal Chapters are : Childhood, With Ramani Mohan's family, Lila of Sadhana, Life at Shahbagh, Gathering of Devotees, Atmosphere of the miraculous, Beginning of ceaselees wanderings, Developing pattern of future life, Farewell to Dacca.

Neatly bound—Contains a number of excellent pictures

Pages : 206

Price : Rs. 12/-

Publishers :
SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA
BHADAINI, VARANASI-1

सविनय निवेदन,

श्री श्री आनन्दमयी संघ के उद्योग से आगामी ७ अक्टूबर से १० अक्टूबर १९७० तक श्री श्री शारदीया दुर्गापूजा श्री श्री माता आनन्दमयी आश्रम, कालकाजी, नई दिल्ली में अनुष्ठित होगी।

आगामी १४ अक्टूबर को श्री श्री लक्ष्मी पूजा व २९ अक्टूबर को श्री श्री काली पूजा (दिवाली) होगी।

इस उत्सव में श्री श्री माँ की पवित्र उपस्थिति की आशा की जाती है।

नारायण दास	स्वामी स्वरूपानन्द
सभापति	सेक्रेटरी

विशेष द्रष्टव्य :—

जो सज्जन बाहर से आकर श्री श्री दुर्गा पूजा में योगदान करना चाहें, वे निम्नलिखित पते पर शीघ्र ही अपने आने की सूचना देने की कृपा करें। उस के अनुसार ६ अक्टूबर से १२ अक्टूबर तक भोजन व रहने के स्थान का प्रबन्ध करने की चेष्टा की जाएगी। आश्रम में विशेष स्थानाभाव के कारण आश्रम से २ फर्लाङ्ग के दूरी पर स्थान की व्यवस्था की जा रही है। जो लोग विशेष कारणवश आश्रम के पास ही रहना चाहते हैं उनके लिए १२५ रु० से अलग सुईज कॉटेज का प्रबन्ध किया जा सकता है।

स्वामी स्वरूपानन्द

श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम

कालकाजी, नई दिल्ली-१९

फोन : ६३१३७८

Swami Muktananda Giri

Courtesy : Sri Sadanand, Bombay.

श्रीश्री १०८ मुक्तानन्द गिरिजी का महाप्रयाण

प्रात:स्मरणीया, भक्तवत्सला, परमपूजनीया श्री श्री १०८ मुक्तानन्द गिरिजी आज इस मरलोक में विराजमान नहीं हैं। ८ अगस्त, १९७० ई० शनिवार को रात्रि १-३० बजे उन्होंने पूर्ण ज्ञानमय स्थिति में जननी भागीरथी गंगा के पवित्र तट पर स्थित मुक्तिक्षेत्र हरिद्वार में श्री श्री माता के पावन क्रोड़ में मस्तक रखकर महाप्रयाण किया।

सन्न्यासी की मृत्यु नहीं है। सन्न्यासी प्रतीक से जा रहे हैं प्रत्यक्ष में, मूर्ति से व्याप्ति में, सम्बन्धों से विशाल बन्धनहीन स्थिति में, सीमा से असीम में, स्वल्प से भूमा में।

ज्ञानियों के बारे में उपनिषद् ने कहा है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।" ज्ञानियों के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वे ब्रह्म होकर ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं। वे देखते हैं कि वे स्वयं परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हैं और जो कुछ द्वितीय हैं, वे सब अज्ञान से कल्पित और मिथ्या हैं। पूर्ण ब्रह्मस्वरूप में आना और जाना कहां है? इसीलिए अवधूत गीता में कहा गया है—"न जातो मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन।" ज्ञानियों का न तो जन्म है, न तो मृत्यु। किसी भी समय उनके देह भी नहीं है। जिस क्षण में वास्तविक ज्ञान का उदय होता है, उसी क्षण वे मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं—यही सद्योमुक्ति है।

श्रीमद् गिरिजी के लिए शोक करने की कोई बात नहीं है। उनकी गति के सम्बन्ध में किसी के मन में कोई भी प्रश्न नहीं उठता है। लेकिन हमलोग स्वार्थ से अन्धे हैं और स्नेह की आकांक्षा रखने वाले जीव हैं। चिरकाल के लिये हमलोगों ने एक अतीव स्नेहमयी, मंगल आकांक्षिणी, कोमल हृदया जननी को खोया है। वे सदा ही हमलोग जैसे त्रिताप से दग्ध, तृषित जीवों के मस्तक पर अपने वरद पाणि को स्थापित कर उन्मुक्त हृदय आशीर्वचन की धाराओं से हमलोगों को शीतल तथा तृप्त करती थीं। उस स्नेहपूर्ण पाणि का स्पर्श फिर कभी हमलोगों को प्राप्त नहीं होगा—यही हमारी अपूरणीय क्षति है।

१८७७ ई० तदनुसार १२८४ बंगाब्द के वैशाख मास के किसी एक रविवार पूर्वी पाकिस्तान के त्रिपुरा जिले के ब्राह्मणबाड़िया तहसील के सुल्तानपुर ग्राम में उनका जन्म हुआ। उनके पिता श्री रमाकान्त भट्टाचार्य थे तथा माता हरसुन्दरी देवी थीं। दोनों ही अतीव धर्मप्राण और देव तथा ब्राह्मणों पर उनकी अविचल भक्ति तथा श्रद्धा थी। पितामाता ने उस नवजात कन्या का नाम रखा मोक्षदासुन्दरी। कौन अदृश्य शक्ति के इंगित से पितामाताओं ने कन्या का इस प्रकार नामकरण किया सम्भवतः यह बात वे भी नहीं जानते थे। उनकी यह असाधारण कन्या जो एक दिन उनके आश्रित सैकड़ों शिष्य शिष्याओं के मोक्ष प्रदान करने वाली श्रीगुरु होंगी, क्या इसी की सूचना पितामाताओं के द्वारा किये गये नाम प्रदान से हुई थी। इस नाम की सार्थकता उनके परवर्ती जीवन में हमें देखने को मिलती है, जब उन्होंने असंख्य धर्मपिपासु नरनारियों को दीक्षा देकर मुक्ति के मार्ग में यात्री बनायी थीं। वे अपनी माँ की अष्टम गर्भजात सन्तान थीं। उनका पितृकुल था अति पवित्र ब्राह्मणों तथा विद्वानों का वंश। इसी वंश में उनकी एक निकट सम्बन्धी अपने पति की मृत्यु के बाद सती बनी थीं। दंतकथा है कि जिस कुल से कोई साध्वी स्त्री पति के साथ सहमृत्यु चुन लेती है उस कुल की महिमा देवता भी कहकर समाप्त नहीं कर सकता।

त्रिपुरा जिले के विद्याकूट के काश्यप गोत्र का श्रोत्रिय वंश अतीव सम्मानित वंश है। उसी वंश के स्वधर्मनिष्ठ श्रीयुत विपिन विहारी भट्टाचार्य के साथ मोक्षदा सुन्दरी का विवाह कर पितामाताओं ने गौरी दान का फल प्राप्त किया था। विपिन विहारी जी जन्म से ही वैराग्य सम्पन्न तथा स्वभाव से संन्यासी थे। जीवन काल में कई बार वे अपनी धर्मपत्नी तथा संतानों को भगवान् के भरोसे छोड़कर घर से निकलते थे और साधु संन्यासी, बाउल फकीरों के साथ साधन भजन में, नाम कीर्तन में समय बिताते थे। संसार के बन्धनों से कभी वे बद्ध न थे। पिता की इस उदासीन अवस्था में उनकी कुटी को प्रकाश से उज्ज्वल बनाकर इस भोग विलासमय जीवन में प्रमत्त जीवों को धर्म के मार्ग दिखाने के लिये तथा मुक्ति का पथ प्रदर्शित करने के लिये श्री श्री माँ का आविर्भाव हुआ। उनकी माँ ने स्नेह से उनका नाम निर्मला सुन्दरी रखा। जैसे महारत्न की रक्षा के लिये मणिमाणिक्य आदियों खचित रत्नपेटिका की आवश्यकता होती है। एक प्रचलित कहावत है कि सिंहिनी के दूध सोने के पात्र छोड़कर अन्य किसी पात्र में रखा नहीं जाता है - नष्ट हो जाता है। इसलिए योग्य आधार पाकर ही श्री श्री माँ भी मोक्षदा सुन्दरी के क्रोड़ को प्रकाशित करती हुईं जगत् के शोक तथा ताप दूर करने के लिए ही आविर्भूत हुईं। मोक्षदासुन्दरी

भी नाना कारणों से जानती थीं और हृदय से अनुभव करती थीं कि ये कोई सामान्य कन्या नहीं है। भव गेहिनी ही कन्या रूप में उन्हें धन्य करने के लिए दीन ब्राह्मण के घर में आयी हैं। यह धारणा मोक्षदा सुन्दरी के जीवन काल में सर्वदा जागृत थी।

यहां एक वात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मोक्षदा सुन्दरी के विद्याकूट में विपिन विहारी के घर में आने के दो वर्ष पूर्व से उनके पूर्व के द्वारा अनुष्ठित श्री श्री दुर्गाजी का पूजन दरिद्रतावश वन्द था। इसी कारण वे दुःखी थे। आश्चर्य की वात यह है कि अप्रत्याशित रूप से कन्या रूप में महामाया के प्राप्त हो जाने के पश्चात् उनकी हृदयपीड़ा फिर उनको दुःख नहीं देती थी, वह दुःख विल्कुल दूर हो गया। ठीक समय पर विपिन विहारी और मोक्षदा सुन्दरी दोनों ने कुलगुरु साधक श्रेष्ठ श्री वामाचरण भट्टाचार्य जी से तांत्रिक दीक्षा ली और शक्ति साधना करने लगे। थोड़े दिन तक आसक्ति रहित होकर संसार धर्म निर्वाह करने के अनन्तर संसार के मायामोह का त्याग देकर कन्या रूपिणी जगन्माता के साथ-साथ रहने की अभिलाषा से एकमात्र पुत्र यदुनाथ तथा वालिका पुत्रवधू सावित्री को श्री भगवान् पर समर्पित कर वैराग्य का मार्ग अपनाये।

१९३८ ई० के १३ अप्रैल को महाविषुव संक्रान्ति के पुण्य दिन पूर्णकुम्भ के समय हरिद्वार के कनखल में रहनेवाले परम विद्वान् और विरक्त संन्यासी श्री श्री १०८ मंगलगिरिजी महाराज से उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। वे प्राचीन परम्परा के कठोर नियम पालन करनेवाले संन्यासी थे। स्त्री शरीर होने के कारण पहले वे मोक्षदा देवी को सन्यास देने में सहमत न थे। वाद में उन्हें एक उच्च अधिकारी समझकर और खासकर श्री श्री माता आनन्दमयी की गर्भधारिणी जानकर संन्यास देने में सम्मत हुए। संन्यास देने के वाद उन्होंने कहा -- "वेटी, तुम्हें संन्यास के सम्वन्ध में जो कुछ देना था, मैंने दिया।" संन्यास लेने के पश्चात् उनका नाम पड़ा श्री श्री मुक्तानन्द गिरि। श्रीमद् अखण्डानन्द गिरिजी और श्री श्री मुक्तानन्दजी एक ही गुरु के शिष्य थे।

हमलोगों ने देखा कि श्री श्री मुक्तानन्द जी वरावर अपने गृहस्थ आश्रम के गुरु और संन्यास आश्रम के गुरु इन दोनों को एक ही आसन में समान रूप से अपने मस्तक के समीप रखती थीं। सव कार्यों में कन्या के प्रति हृदय

के एक निभृत अंश में एक विशेष भाव था जो अन्तिम काल में प्रकट हो गया था। श्री श्री माँ ने देखा कि गिरिजी अन्तिम क्षण में शरीर से आवरण खोलने की चेष्टा कर रही हैं, तब श्री श्री माँ ने अपने हाथों से उनके शरीर से आवरण हटा दिया। इस से समझ में आता है कि लौकिक बन्धन मुक्त करने के छल में उन्होंने अपनी गर्भधारिणी को अष्टपाशों से मुक्त करती हुईं ब्रह्मलीन कर दिया। उस समय श्री श्री गिरिजी ने चक्षु उन्मीलन कर श्री श्री माँ के मुख की ओर दृष्टि स्थिर रखकर हाथ अंजलिबद्ध कर अन्तिम विदाई लेकर महाप्रस्थान किया।

पांचभौतिक देह छोड़ने के समय गिरिजी महाराज की आयु ९४ वर्ष हुई थी। थोड़े दिन पहले से उनका शरीर सम्पूर्ण स्वस्थ न था। पुणा में रहते समय पिछले जून के महीने में अचानक उन्हें श्वास कष्ट मालूम हुआ। विशेष जानकार चिकित्सकों के निर्देश के अनुसार प्राय: दो सप्ताहों के विश्राम लेने के अनन्तर गिरिजी स्वस्थ शरीर होकर आनन्द के साथ जुलाई महीने के प्रथम भाग में पुन: माँ के साथ लम्बी यात्रा के लिये निकलीं। मिराज, निपानी, बार्शी आदि सैंकड़ों मील की यात्रा बिना कष्ट ही सहन कर पुन: गुरुपूर्णिमा के शुभ अवसर पर वे पुणा लौट आयीं। गुरु पूर्णिमा के उस पुण्य तथा मंगल दिवस पर वे पुणा में रहने वाले सैकड़ों से अधिक भक्त तथा शिष्यगणों को आशीर्वाद देकर बम्बई में दो रात ठहर कर श्रीश्री माँ के साथ काशी आयीं। वाराणसी से पिछले २९ अगस्त को सुबह गिरिजी महाराज ने जब कनखल के लिये यात्रा की तो उस समय किसी ने भी सपनों में भी धारणा नहीं की कि यही उनका काशी से अन्तिम प्रस्थान है।

पाँच सौ मील की लम्बी रेल सफर करने के बाद जब वे हरिद्वार पहुँचीं तब उनके दिव्य मुखमण्डल में क्लान्ति का थोड़ा भी चिह्न नहीं था। अगस्त ३ को हरिद्वार में गंगा के किनारे जैपुरिया अतिथि भवन में श्री श्री माँ के पवित्र सान्निध्य में श्रीमद्भागवत सप्ताह प्रारम्भ हुआ। उस उपलक्ष्य में गिरिजी महाराज भी आश्रम के निवासी अन्य सब के साथ कनखल आश्रम से आकर इस अतिथि भवन में रहने लगीं।

तिरोधान के दिन भी श्री श्री माँ के साथ सभा मण्डप में बैठकर उन्होंने श्रीकृष्ण की जन्मलीला का श्रवण किया। उस समय उनके मुखमण्डल में एक अपूर्व दीप्ति प्रकाशित हो रही थी, जिसे बहुतों ने लक्ष्य किया।

सत्संग समाप्त होने पर प्राय: प्रतिदिन श्री श्री माँ रात्रि में कनखल आश्रम में जाकर विश्राम लेती थीं, लेकिन आश्चर्य की बात है कि उस विशेष रात में श्री श्री माँ के जैपुरिया भवन छोड़कर कनखल जाने का ख्याल नहीं हो रहा था। इसलिये वे हरिद्वार में ही उस रात्रि में रह गयीं। रात्रि में गिरिजी महाराज श्री श्री माँ से विदाई लेकर अपने कमरे में विश्राम करने को गयीं उस समय वे पूर्ण रूप से स्वस्थ थीं। मध्यरात्रि के बाद करीब एक बजे वे स्वयं शौचालय में गयीं। अपने कमरे में लौटने के बाद उनको बहुत श्वास कष्ट होने लगा। गिरिजी की सेविका तुरन्त श्री श्री माँ को समाचार देने के लिये जा रही थी तो उन्होंने स्नेहवश उन्हें निषेध किया। क्योंकि इससे श्री श्री माँ के विश्राम में विघ्न होगा। ठीक उसी समय श्री श्री माँ अपने ख्याल से ही गिरिजीके कमरे के सामने उपस्थित हो गयीं। देखते ही देखते १५-२० मि० के भीतर श्री श्री माँ के सम्मुख उनका स्पर्श पाती हुई सज्ञान वे ब्रह्म में लीन हो गयीं।

६ अगस्त प्रात: काल में गिरि महाराज जी का पूत शरीर कनखल आश्रम में ले जाया गया। वहाँ पर शिव मन्दिर के सामने बरामदे में उच्चासन पर पर योगदण्ड की सहायता से विराजित किया गया। अखण्ड भगवन्नाम संकीर्त्तन चलता रहा। सैकड़ों स्त्री पुरुष उनके ब्रह्मलीन होने का समाचार पाकर कनखल में आकर उनका शेष दर्शन प्राप्त किये और स्वयं भी धन्य हुए। टेलीफोन के माध्यम से गिरिजी महाराज के इस अप्रकट होने का समाचार धीरे-धीरे भारत के नाना स्थानों में प्रचारित हो गया। अपराह्ण होने के पहले ही देहरादून, दिल्ली, कानपुर, वृन्दावन और इतना तक कि बम्बई से भी अनेक भक्त शिष्य मोटर से, हवाई जहाज से या जैसे भी सम्भव हुआ कनखल उपस्थित हुए। काशीधाम से गिरिजी महाराज के एकमात्र पुत्र श्री यदुनाथ भट्टाचार्य के संध्या के थोड़े पहले आश्रम पहुँचते ही उनका स्नान अभिषेक व आरती आदि क्रिया विधिपूर्व समाप्त कर आश्रम के ही बगीचे में संन्यासी के नियमानुसार उनके देह की समाधि दी गई।

इसके अनन्तर तिरोधान के षोडश दिवस पर कनखल तथा काशी आश्रमों में उनके उद्देश्य से विशेष पूजा का आयोजन हुआ। उनकी पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में, कनखल, हरिद्वार, ऋषिकेश तथा काशीधाम में सहस्र के ऊपर संन्यासियों का भण्डारा हुआ, उन सबको वस्त्र और दक्षिणा भी दिया गया। गिरिजी महाराज दीन दु:खियों को भोजन देने में बहुत रुचि रखती थीं, इसलिये कनखल, हरिद्वार, और काशी में प्राय: हजारों दरिद्र-नारायण के भी भोजन की व्यवस्था की गयी थी।

और भी उल्लेखनीय बात यह है कि इस उपलक्ष्य में काशी में श्री श्री विश्वनाथ, श्री श्री अन्नपूर्णा, श्री श्री केदारनाथ और संकटमोचन में श्री श्री महावीरजी की भी विशेष पूजा की व्यवस्था हुई। कनखल में गिरिजी महाराज के पुत्र ने आडम्बर के साथ श्री श्री दुर्गादेवी की षोड़श उपचारों से पूजा की इसके पीछे कोई रहस्य है जो समय होने पर प्रकाशित हो सकेगा। श्री श्री गिरिजी के तिरोधान के उपलक्ष्य में श्री श्री माँ के अधिकांश आश्रमों में यथाशक्ति साधु भोजन, दरिद्र नारायण की सेवा और विशेष पूजा पाठ और कीर्तन आदि का आयोजन किया गया था। कनखल में उनकी पवित्र समाधि के ऊपर एक स्मारक मन्दिर की स्थापना करने की चेष्टा हो रही है।

आनन्दवार्ता के अगले अंक में परम पूजनीय गिरिजी महाराज के सम्बन्ध में निबन्ध आदि और उनके दिव्य जीवन के साथ सम्बन्धित भिन्न-भिन्न चित्रों को प्रकाशित करने की इच्छा है। इस सन्दर्भ में उनके अगणित भक्त और शिष्यवृन्दों से करबद्ध निवेदन है कि वे श्री श्री गिरिजी महाराज के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानते हैं लिखित रूप में और यदि उनके विशेष आकर्षक कोई चित्र हों वह भी शीघ्रातिशीघ्र काशीधाम में आनन्दवार्ता के सम्पादक के समीप भेजने की कृपा करें।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

*

Swami Muktanandaji in mahāsamādhi

२१वाँ संयम सप्ताह महाव्रत

आनन्द के साथ सूचित किया जाता है कि श्री १०८ स्वामी विष्णु आश्रमजी महाराज के सादर आमन्त्रण पर संयम सप्ताह महाव्रत का २१वाँ अनुष्ठान आगामी ४ नवम्बर से १० नवम्बर तक शुकताल (ज़िला मुज़फ्फरनगर) में सम्पन्न होगा। अपने को जानना, अपने को पाना, सर्व प्रकार से सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि के पालन द्वारा अपने आध्यात्मिक जीवन में उन्नति साधन की चेष्टा करना तथा सबकी आत्मोन्नति सम्पादन में सहायता देना ही संयम सप्ताह के उद्देश्य हैं।

इस समय श्री श्री माँ शुकताल में विराजमान रहेंगी, ऐसी आशा की जा रही है।

दुर्गा सिंह
सभापति
श्री श्री आनन्दमयी संघ

१५ सितम्बर, १९७० ई०

विशेष द्रष्टव्य—

जो लोग इस उत्सव में सम्मिलित होना चाहते हैं वे कम से कम १५ दिन पहले आगमन की सूचना नीचे के पते पर देने की कृपा करें—

स्वामी परमानन्दजी
श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम
कालकाजी
नई दिल्ली–१९

२१वाँ संयम सप्ताह महाव्रत

आनन्द के साथ सूचित किया जाता है कि श्री १०८ स्वामी विष्णु आश्रमजी महाराज के सादर आमन्त्रण पर संयम सप्ताह महाव्रत का २१वाँ अनुष्ठान आगामी ४ नवम्वर से १० नवम्वर तक शुकताल (ज़िला मुज़फ्फरनगर) में सम्पन्न होगा। अपने को जानना, अपने को पाना, सर्व प्रकार से सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि के पालन द्वारा अपने आध्यात्मिक जीवन में उन्नति साधन की चेष्टा करना तथा सबकी आत्मोन्नति सम्पादन में सहायता देना ही संयम सप्ताह के उद्देश्य हैं।

इस समय श्री श्री माँ शुकताल में विराजमान रहेंगी, ऐसी आशा की जा रही है।

दुर्गा सिंह
सभापति
श्री श्री आनन्दमयी संघ

१५ सितम्बर, १९७० ई०

विशेष द्रष्टव्य—

जो लोग इस उत्सव में सम्मिलित होना चाहते हैं वे कम से कम १५ दिन पहले आगमन की सूचना नीचे के पते पर देने की कृपा करें—

स्वामी परमानन्दजी
श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम
कालकाजी
नई दिल्ली–१९

Ānanda Vārtā

A quarterly journal dealing mainly with the divine life and teaching of Mata Anandamayi and with other religio-philosophical topics

*

BOARD OF EDTIORS

Mahamahopadhyaya Sri Gopinath Kaviraj, M. A., D. Litt.
Padma Vibhushan
Brahmachari Nirmalananda, M. A., Shastri.
Kumari Lalita Pathak, M. A.
Brahmacharini Atmananda.
Sri K. Bose,—*Managing Editor.*

*

★ *ANNUAL SUBSCRIPTION* ★

India—(Postage free) Rs. 6/- only
Foreign—(By Sea Mail) Rs. 10/50 or 15 shillings or $ 2-00
,, (By Airmail)—Rs. 25/- or £ 1-10-0 (Europe etc.)
,, —Rs. 35/- or $ 5-50 (North & South America.)

ĀNANDA VĀRTĀ

GENERAL RULES

1. The magazine is published in three separate editions—(1) Hindi-English (2) Bengali-English (3) English. The magazine is published four times a year, in the months of January, April, July & October. The year begins from January.

2. Subscriptions are always payable in advance. Foreign subscriptions may be sent either by International Money orders or Postal orders.

3. Subscriptions to be sent to :—

The General Secretary, Shree Shree Anandamayee Sangha, Bhadaini, Varanasi (U.P.)

4. All correspondence regarding 'Ānanda Vārtā' should mention without fail the subscription number and be addressed to :—

The Managing Editor, "Ānanda Vārtā", Shree Shree Ma Anandamayee Ashram, Bhadaini, Varanasi (U. P.)

5. Complaints about non-receipt of the magazine should be sent ***within the month of publication.***

6. Any change of address should be intimated to the Managing Editor at the earliest possible opportunity.

7. Subscribers are requested not to dishonour any issue of the magazine sent by V. P. P., as this entails a loss to the Ashram fund. They may kindly inform us ***beforehand*** if they desire to discontinue subscribing to the magazine.

Published by : Shri K. BOSE,
For Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi and
Printed at The Eureka Ptg. Works P. Ltd., Varanasi.

CONTENTS

Hindi Section

1. श्री श्री १०८ मुक्तानन्द गिरिजी का महाप्रयाण ... (१—६)
2. मातृवाणी 159
3. जीव का आविर्भाव और क्रमिक विकास 161
—म० म० श्री गोपीनाथ कविराज
4. मातृ सत्संग—स्वामी भागवतानन्द गिरि 168
5. श्री हरिबाबाजी महाराज—पु० पा० स्वामी 173
श्री अखण्डानन्दजी महाराज
6. श्री श्री मां आनन्दमयी प्रसंग—श्री अमूल्य कुमार दत्तगुप्त ... 177
7. श्री श्री गिरिजी प्रसंग—स्वामी शिवानन्द गिरि 185
8. श्री श्री मां की अमर वाणी—ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त ... 194
9. हिमाचल के अंचल में—कुमारी गीता बनर्जी 199

*

CONTENTS

ENGLISH SECTION

1. In Memorium—Sri Muktananda Giri Maharaj ... (i)-(iii)
2. Matri Vāni 149
3. Sad Vāni—"Bhaiji" 151
4. Meditation—Elwood Decker 159
5. Philosopher and Mystic Sri Madhusadana Saraswati —T. Krishnaji 162
6. Gita and Gandhi—Saroj 168
7. Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladakh —A Devotee 172
8. A Little Anthology on the Worship of the Mother —Compiled by Shivasankari ... 183
9. Matri Lila 186

★

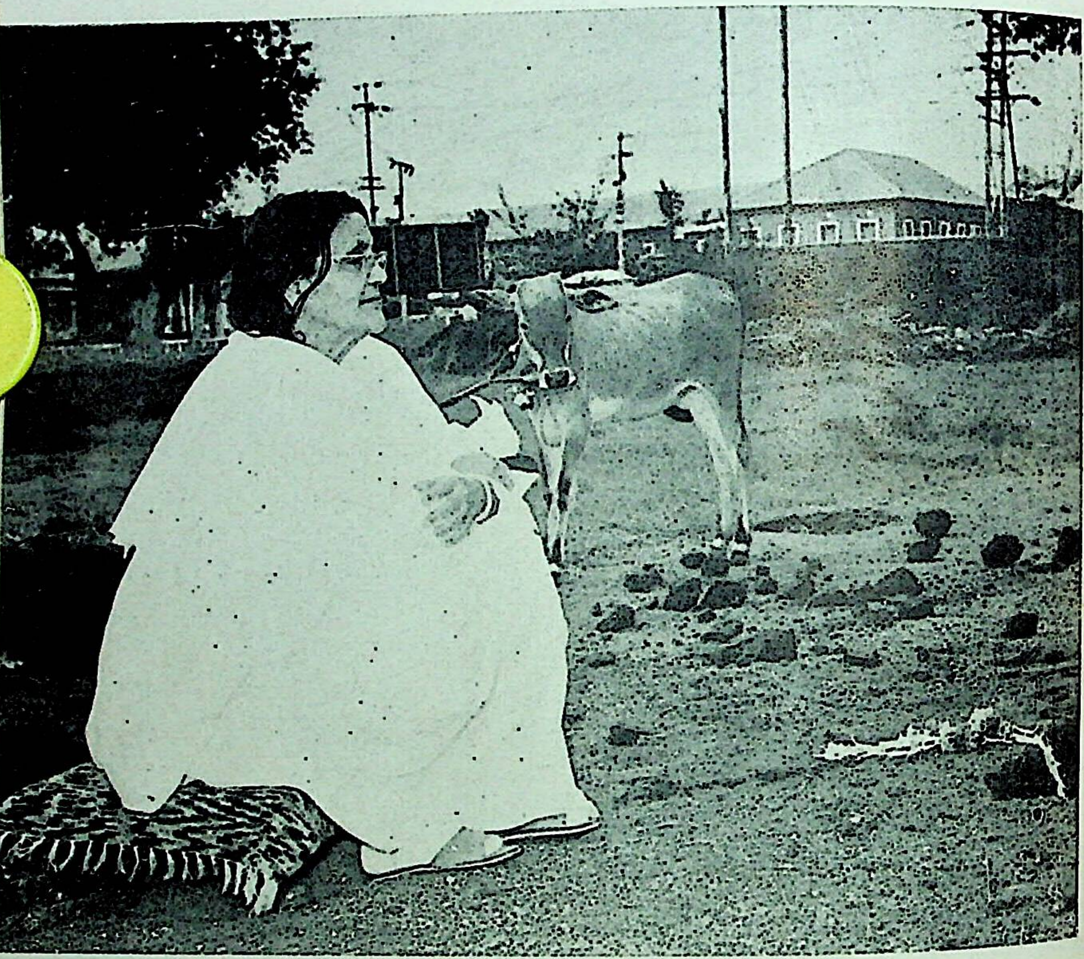

Sitting on the grounds of the Ashram at Poona

Courtesy : Sri Sadanand, Bombay.

Ānanda Vārtā

"अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप।"

VOL. XVII] OCTOBER, 1970 [NO. 4

——मातृवाणी——

किसी वस्तु की अपेक्षा रखकर सुख है—उसके ,अभाव होने पर ही दुःख है, संसार में सभी क्षणिक है। यह जो सुख है वह भी अब है फिर क्षण भर में नहीं है। नित्य सुख, अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए नित्य वस्तु को प्राप्त करना होगा।

× × × ×

तुम लोगों के जो गुरु हैं, वे जगत् गुरु हैं। जगत् के गुरु जो हैं, वे तुम लोगों के गुरु हैं। उनके रूप अनन्त हैं, अनन्त प्रकाश हैं, अनन्त अप्रकाश हैं, गुरु-इष्ट-मन्त्र रूप में वही हैं। जहाँ मन प्राण वहाँ विश्वव्यापक एक आत्मा ही है। अपने को लेकर अपने में स्वयम् हैं। उस स्वरूप के प्रकाश के लिए इस धरा में अनन्त धाराएँ हैं। फिर वह धरा अपने को स्वयं धारण करते हुए वर्तमान है। फिर धरा, अ-धरा का भी प्रश्न नहीं उठता। उसी का प्रकाश ही तो चाहिए।

× × × ×

साधु सन्त महात्मा समझकर जिनसे मिलकर तुम लोग श्रेयस् का ग्रहण और प्रेयस् के वर्जन की ओर चलते हो, उसमें किसी महात्मा की क्रिया में किसी प्रकार विचार की दिशा में चलना नहीं। जो कुछ कहते हैं उसीको ग्रहण करना चाहिए। उनके सम्बन्ध में मिथ्या तथा भ्रान्त आलोचना होने पर तुम लोगों का ही अपराध होता है। क्षति होती है। जिनके सम्बन्ध में जिस प्रकार भी आलोचना करते हो सभी तुम्हारे निजी व्यक्ति हैं। जब तक अपने स्वरूप

का प्रकाश नहीं होता है तब तक वह निजी आत्मा है। सबमें एकमात्र भगवान् विराजमान है—इस प्रकार विचार रखने की चेष्टा होनी चाहिए। एक इष्ट-अनिष्ट ही विश्व-ब्रह्माण्डमय है। इसलिए कर्तव्य है जो लोग सत्य की प्राप्ति के लिए निकल पड़े हैं वे लोग साधु-सन्तों के सत्य अनुसन्धान की क्रिया को सर्वदा अपने-अपने इष्ट-गुरु के नाना प्रकाश हैं इस विचार से ग्रहण करना चाहिए।

× × × ×

तुम माँ हो, तुम पिता हो, तुम बन्धु-सखा हो, सभी एक ही आकार में जहाँ स्थित हैं, वहाँ विश्वव्यापक एक ही आश्रय है। वहाँ सीमा का कोई प्रश्न नहीं—असीम है। सब एक का है—एक ही है। दो में द्वन्द्व है। जहाँ आवरण—वहाँ अन्ध है।

(१४।११)

× × × ×

संसार का मालिक न होकर माली बनकर रहना चाहिए। मालिक होने पर ही जितने गड़बड़ हैं।

—श्री श्री माँ

जीव का आविर्भाव और क्रमिक विकास*

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, एम. ए., डी. लिट. पद्म विभूषण

(१)

अन्यान्य धर्मों की तरह शाक्त धर्म का भी अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप है और दोनों के अन्तराल में एक मध्य विभाग भी है। केवल इतना ही नहीं, जिसे जगत् में साधना कहा जाता है, वह प्रत्येक धर्म में है। अन्तरंग साधना में जिस प्रकार साध्यसाधक भाव है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है। स्वभाव मूलक अधिकार के अनुसार साधना का मार्ग निश्चित किया जाता है। अतः साधक मात्र ही पथिक है। परन्तु सब साधकों का पथ एक ही प्रकार का नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रत्येक विभाग में प्राकृतिक नियम के अनुसार दृष्टिवैचित्र्य देखने में आता है अर्थात् जिस प्रकार अन्तरंग साधना में प्रकारगत भेद है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है, क्योंकि मनुष्य की रुचि विभिन्न प्रकार की है। स्वभाव के अनुसार जिस प्रकार लक्ष्य में अन्तर पड़ जाता है, उसी प्रकार स्वभाव के अनुसार मार्ग में भी फरक पड़ जाता है। किन्तु रुचि-निरपेक्ष अखण्ड दृष्टि में वास्तव लक्ष्य एक छोड़कर दो नहीं होता। सामर्थ्य के भेद से रुचि तथा अधिकार का भेद होने के कारण मार्ग विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। प्रस्तुत लेख में अन्तरंग शक्ति का एक प्रकार का विवरण देना चाहता हूँ।

लक्ष्य का स्वरूप-निर्णय करना चाहिए। परमाद्वैत शाक्तयोगी का कथन है कि पूर्ण सत्ता ही लक्ष्य है, जो वस्तुतः पराशक्ति अथवा प्रकाशस्वरूप आत्मा से अभिन्न है। इस प्रकाश में किसी प्रकार का अवच्छेद नहीं है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार अवच्छेद है यह भी सत्य है। अनवच्छिन्न प्रकाश ही महाप्रकाश नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें शिव और शक्ति परस्पर अभिन्नतया स्फुरित होते हैं। एक ही सत्ता शिवरूपेण द्रष्टा है, एवं शक्तिरूपेण दृश्य है। इसको स्मरण में रखना चाहिए कि वह चिदात्मक भी है। द्रष्टारूप लेकर शिव है, दृश्यरूप लेकर शक्ति है। जो शरीर है वही शरीरी है। यह निरन्तर अपने आपको अविच्छिन्न रूप से देख रहे हैं। इस स्थिति में देश, काल तथा निमित्त की संभावना ही नहीं है। यह नित्य वर्तमान तथा नित्य संनिधान रूप में स्थित है। आत्मा की यह स्वातन्त्र्य रूप अवस्था है। यह जो शक्त्यात्मक शरीर है, लौकिक दृष्टि से यही समग्र विश्व है। विश्व की यह कारण अवस्था है। परन्तु इस

---

* वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की अनुमति से योग-तन्त्र-विमर्शिनी पत्रिका से पुनर्मुद्रित।

बात को स्मरण में रखना चाहिए कि विश्व का यह शक्त्यात्मक रूप सामान्य रूप है। इस अवस्था में शिव को अस्पन्द एवं शक्ति को स्पन्द रूपा कहा जाता है। किन्तु दोनों अभिन्न होने के कारण इसमें स्पन्द एवं अस्पन्द इस प्रकार का विभाग नहीं है। प्रकाश का एक अनवच्छिन्न रूप एव दूसरा अवच्छिन्न रूप भी है। इस दृष्टि से देखने पर समग्र विश्व इसी के अन्तर्गत है, यह मालूम पड़ेगा। जिस प्रकार अनवच्छिन्न आत्मा अथवा शिव की दृष्टि से उनकी शक्तिरूप शरीर सामान्य भावापन्न सत्ता है, उसी प्रकार अवच्छिन्न आत्मा अथवा जीव की दृष्टि से प्रतिनियत विशेष रूप को लेकर विश्व का भान होता है। अनवच्छिन्न आत्मा की दृष्टि से प्रतिनियत विशेष सम्पन्न कोई भी दृश्य स्फुरित नहीं होता। इसी कारण से उनकी दृष्टि अवच्छिन्न नहीं होती। परन्तु जिस दृष्टि से प्रतिनियत विशेषरूप का भान होता है, उसके लिए पूर्वोक्त प्रतिनियत रूप ही अवच्छेदक होता है। इस प्रकार से वह दृष्टि परिच्छिन्न होती है। यही जीवभाव का रहस्य है। अवच्छिन्न प्रकाश में ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य यह त्रिपुटी रहती है। ग्राहक जीवात्मा है। ग्राह्य विषय अथवा जगत् और ग्रहण करण सामग्री है। आत्मा चित् प्रधान अवस्था में द्रष्टा मात्र था। परन्तु माया के स्पर्श से त्रिपुटी भूमि में द्रष्टा ने इस समय भोक्ता का रूप धारण कर लिया। अतएव वस्तुतः जो ग्राह्य है, वह संसारावस्था में भोग्य से अभिन्न है। ग्रहण या करण भोग का साधन मात्र है। शिव शरीरी है और उनसे उनकी अभिन्न शक्ति ही उनका शरीर है। दोनों शुद्ध चिदात्मक हैं। जीव भी शरीरी है। परन्तु उसका शरीर उनके स्वरूप से भिन्न है। एक का शरीर चित् स्वरूप है, दूसरे का अचित् स्वरूप है। किन्तु इस अचित् रूपी शरीर में ही चित् स्वरूप जीवात्मा का अहं-अभिनिवेश लगा हुआ है। यदि इस प्रकार नहीं रहता तो जीव को भोग संभव नहीं रहता।

इसी विषय को और स्पष्ट करने के लिए विशेष विश्लेषण किया जा रहा है। महाशक्ति के स्वरूप को विचार की दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि यह परम प्रकाशमय निरपेक्ष आत्मस्वरूप मात्र है। अर्थात् अपरिच्छिन्न सत्तास्वरूप एवं अखण्ड अनन्त भाव मात्र है। परन्तु उनमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं हो रहा है। मानों चिदात्मा के अनन्त दर्पण पड़े हुए हैं, जिसमें किसी चित्र का भान नहीं हो रहा है, मानो अपने में आप—यही दर्पण है अर्थात् यही निराभास चैतन्य अथवा विश्वातीत चित्सत्ता है। कोई-कोई आचार्य इसको अखण्ड अनन्त सत्ता-समुद्र में केवल चित्कला का प्रकाश कह कर वर्णन करते हैं। मानो यह कला कलातीत के साथ एकात्मक होकर विद्यमान है। यह परम साक्षी स्वरूप है, यह स्वप्रकाश द्रष्टा है। द्रष्टा बनकर यह अपने आपको ही देख रहा है। क्योंकि भिन्न दृश्य तो कुछ नहीं है। यह कला होने पर भी अस्पन्द है। शक्ति होने पर भी विश्वस्वरूप है। कलातीत सत्ता चित्कला को भी परिहार नहीं करती। यदि मान लिया जाय कि परिहार करती है, तब कहना पड़ेगा कि यह कलातीत भी,

अचित् होने के कारण असत् अथवा असत्कल्प है। यह चित्कला स्पन्दहीन होने पर भी अचिन्त्य रूप से स्पन्दनशील है। चित्कला की यह स्पन्दनशीलता ही महाशक्ति का दूसरा विभाग है। इस स्पन्द के प्रभाव से इसमें निरन्तर संकोच तथा विकास का व्यापार चल रहा है। जैसे कलातीत सत्य एवं चित्कला जो कि उसका नित्य साथी है; उसी प्रकार चित्कला भी सत्य है और संकोच-प्रसार उसके नित्य साथी हैं। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि संकोच-प्रसार सत्य है और चित्कला उसका नित्य साथी है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। एक को छोड़कर दूसरा नहीं रह सकता है। चित्कला अमृत कला है और संकोच-प्रसार रूप व्यापार उसका आश्रय करते हुए कलनात्मक काल के खेल रूप में प्रकाशित हो रहा है। परन्तु कलनात्मक काल को छोड़कर कलनहीन महाकाल भी एक परम रूप हैं, जो काल होकर भी काल नहीं है और काल न होकर भी कालरूप में गण्य है।

संकोच एवं प्रसार के मूल में चित्कला की स्वातंत्र्यमयी लीला है। यह उसका स्वभाव है। चित्कला का प्रसरण जब होता है, तब उसमें आभास का उदय होता है।

प्रसार की पूर्णता के अनुरूप समग्र विश्व का भान उसमें होता है। यह प्रसार क्रम से होता है और विना क्रम से एक क्षण में भी होता है। जब विना क्रम से यह प्रसार होता है, तब चिद्दर्पण में पूर्ण आभास विद्यमान रहता है। शक्ति की दृष्टि से यही महासृष्टि है। यह खंडसृष्टि नहीं है। क्रमशक्ति सम्पन्न काल की क्रमिक सृष्टि भी नहीं है। यह महाकाल की महासृष्टि है। वस्तुतः यह सृष्टि होने पर भी सृष्टि नहीं है, क्योंकि यह वर्तमान स्थिति है। यह चित् से अलग कुछ नहीं है। चित् का जो आभास रूप भाग है, वह विश्वात्मक है और जो निराभास भाग है वह विश्वातीत है। वस्तुतः निराभास चित् में निराभास स्थिति में भी नित्य साभास दशा विद्यमान है। इसीलिए ब्रह्म उभयलिंग है, अर्थात् नित्य निर्गुण होते हुए ही नित्य सगुण है। निराकार होते हुए भी नित्य साकार है। चिद्रूप महाशक्ति में विश्व भास रहा है, यह भी सत्य है। नहीं भास रहा है, यह भी सत्य है। यह एक विचित्र प्रहेलिका है।

जिसे हम सृष्टि एवं संहार कहते हैं, उसमें क्रम है, परन्तु यह क्रमदर्शन परिच्छिन्न प्रमाता के लिए है। अपरिच्छिन्न प्रमाता की दृष्टि से क्रम नहीं है। चित् कलायुक्त शिव परप्रमाता है। उसे परिच्छिन्न अथवा खण्ड प्रमाता नहीं कहा जा सकता। परप्रमाता प्रकाश तथा विमर्श का विचित्र रूप होने के कारण पूर्णाहं है, अर्थात् परमेश्वर एवं परमेश्वरी पदवाच्य है। कलातीत और चित्कला एक ही साथ अभिन्न स्वरूप में अवस्थित हैं, उसमें चित्कला अस्पन्द होने पर भी निरन्तर स्पन्दन लीलाशील है। उसके अहं में अनन्त शक्तियों का समाहार है।

जब परप्रमाता अपरिच्छिन्न रहते हुए स्वेच्छा से अपने को परिच्छिन्नवत् दिखलाते हैं, उस समय परिच्छिन्न अहं के सम्मुख उसके प्रतियोगी के रूप में इदं का प्रतिभास होता है। इस प्रतिभास में क्रम रहता है, क्योंकि यह काल के अधीन है। उस समय आत्मा स्वयं ही अपने से स्वयं अलग हो जाता है। यही परप्रमाता का स्वरूप में पहले संकोच ग्रहण है, जिसके प्रभाव से आत्मा विभु होते हुए भी अणुभाव प्राप्त होता है। इस चिदणु को परिच्छिन्न प्रमाता, माया-प्रमाता, खण्ड जीव, जीव इत्यादि नामों से वर्णित किया जाता है। इसके सामने इदंरूपेण जिसका प्रथमतः प्रकाश होता है, वही शून्य अथवा आकाश है। कोई-कोई इसको चिदाकाश कहते हैं। यह ध्यान में रखना है कि यह वस्तुतः चिदाकाश नहीं है। पहले जिस महासृष्टि के बारे में कहा गया, चित् सत्ता में दर्पण स्थित प्रतिबिम्बवत् प्रतिभासमान होती है। उसका नाश नहीं होता। निराभास चैतन्य की स्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। इस आभासरूपी विश्व का दर्शन जब अभेद में संघटित होता है, तब किसी-किसी की दृष्टि में वही भगवद्दर्शन रूप में प्रतीत होता है।

यह अभेद-सर्वज्ञत्व की अवस्था है। परन्तु यह दर्शन अभेद में न होकर भेद में भी हो सकता है। अर्जुन का विश्वरूप दर्शन, योगवासिष्ठ में वर्णित लीला का दर्शन डान्टे का Divine Comedy में वर्णित Sempiternal Rose का दर्शन; यह सब भेदसृष्टि का दर्शन मात्र है। यह महासृष्टि का दर्शन नहीं है।

आत्मा से भिन्नरूपेण जगत् का दर्शन परिमित प्रमाता का दर्शन है, यह परप्रमाता का दर्शन नहीं है। क्योंकि परप्रमाता समग्र विश्व का अपने स्वरूप से अभिन्नरूपेण आत्मस्थित प्रतिबिम्बवत् दर्शन करते हैं। अणुभाव प्राप्ति के साथ चित् महामाया से आच्छन्न हो जाते हैं। मानो उसमें निद्रित हो जाते हैं। इसी का नामान्तर काल राज्य में प्रवेश है। काल की दृष्टि से यही अनादि सुषुप्ति है। यह अनादि होने पर भी वस्तुतः इसके मूल में है आत्मा का स्वातन्त्र्य मूलक संकोचग्रहण। इस सुषुप्ति के अनन्तर अवरोह क्रम से माया भेद के बाद जागरण होता है। उस समय चिदणु खेचर चक्र से नियन्त्रित होकर मितप्रमाता बन जाते हैं, अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और सर्वदा अभाव बोध द्वारा क्लिष्ट प्रतीत होते हैं। आत्मस्वरूप की यह अख्याति या अज्ञान ही तन्त्रशास्त्र में महामाया रूप में वर्णित है।

पशुभाव अथवा जीवभाव का उदय उसके बाद होता है। परा वाक् इस आदि जीव को महासृष्टिमूलक खण्ड-खण्ड अर्थ प्रदर्शन करती है। यह सब विकल्प रूप है और क्षणस्थायी है। निरन्तर चित्क्षेत्र में इनका आगमन तथा निर्गमन होता है। वेदान्तशास्त्र में यह सब अविद्या की विक्षेप वृत्ति है। इसके बाद कर्म का आविर्भाव होता है। उस समय देह भी दृष्टिगोचर होता है। चिदणु उसमें प्रवेश करते हैं। देह कर्मसृष्ट है। श्रुति में लिखा है—

"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। पहले था आत्मा में अनात्मभाव या इदंभाव, उसके बाद था देह में अर्थात् इदं में अहंभाव, उसके बाद देह में अर्थात् इदं में अहंभाव अर्थात् अनात्मा में आत्मभाव रहा। इसके मूल में शब्द, वर्णशक्ति और वर्णमाला का खेल है। पश्यन्ती भूमि में अवरोह के समय में आत्मा में अनात्मभाव की सूचना होती है। मध्यमा में सूक्ष्म में प्रवेश होता है और वैखरी में स्थूलभाव का उदय होता है। उस समय भौतिक देह में अहंभाव का उदय होता है। इस अवसर में सबसे पहले बाह्य जगत् का दर्शन होता है। यह बाह्य जगत् पूर्वोक्त महासृष्टि का एक देशमात्र है। यह देहावच्छिन्न अहं की बहिर्मुख दृष्टि के सम्मुख भासमान होता है। इसी का नाम है पतन। यह आत्मा को पंचकृत्यकारिणी पंचशक्तियों के अन्तर्गत तिरोधान शक्ति का अन्तिम फल है।

विषय अत्यन्त जटिल है, फिर भी इसे संक्षेप में परिस्फुटित किया जाता है। मूल में है परम शिव। उस समय विश्व उससे अभिन्न है। इसके बाद स्वातन्त्र्य के बल से आणवभाव की प्राप्ति होती है, परन्तु यह अणु की सुप्त अवस्था है। यही महामाया अथवा स्वरूपाख्याति नाम से प्रसिद्ध है। प्रचलित परिभाषा में इसी का नाम है कुण्डलिनी की निद्रा अथवा सुप्ति। इसके बाद माया के स्पर्श से सुप्ति का भेद होकर जाग्रत भाव का उदय होता है। इस समय चित् का आविर्भाव होता है और स्वरूप से भिन्नरूपेण विश्व का बोध होने लगता है। मायिक कंचुकों का सम्बन्ध भी इसी समय होता है। महान् समग्र विश्व को देख पाता है। परन्तु अणु विश्व के किंचित् अंश को देख पाता हे। वह भी भिन्नरूपेण है। इस समय विकल्पों का उदय होता है। प्रति क्षण में नवनवोन्मेष हो जाता है। इस नाटक के सूत्रधार रूप में परा वाक् सब कुछ प्रदर्शन करती है। मित प्रमाता अथवा जीव उसको देखकर मुग्ध हो जाता है। इसके बाद वही शब्द नादरूप में प्रकाशित होता है। उस समय सर्वत्र एकमात्र आकाश ही आकाश भासता है। उसके बाद वह नाद खण्डित होकर वर्णमाला के रूप में प्रतिभात होता है। यही देहरचना का समय है। माया के अनन्तर कर्म सूचना इसी स्थान से शुरू होती है। इसमें समस्त वर्ण रहते हैं। परन्तु अहंरूपेण नीचे यह सब वर्ग व्याप्ति रूपेण अर्थात् अलग होकर प्रतिचक्र में रहते हैं। इन चक्रों में अहं नहीं है, किन्तु अहंकार है। सहस्रार अर्थात् सहस्र दल अनन्त दल हैं। उसमें अनन्त वर्ण हैं। केन्द्र में शिव शक्ति है। प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना दल है। उसमें अपने विस्तार की सुविधा होती है। मध्यमा से वर्ण शुरू होते हैं, किन्तु अस्पष्ट रूपेण। मनुष्य देह वर्ण से भरा हुआ है। सभी रचना के मूल में वर्ण हैं। कलना, संकल्पवृत्ति, भावसंस्कार, वासना, स्वभाव – यह सब कुछ वर्णमूलक है। सर्वत्र वक्र वायु का खेल है। यह सब शुद्ध वर्ण नहीं हैं। सहस्रार का वर्ण शुद्ध है, क्योंकि वहाँ वायु की वक्रता नहीं है। जहाँ वर्ण है वहीं राज्य है। उसमें प्रवेश करने पर अन्तर्नाद मिलता है। केन्द्र में है बिन्दु। बिन्दु-भेद होते ही महाप्रकाश मिलता है।

सहस्रार के चारों तरफ वर्ण ही वर्ण हैं। केन्द्र के मार्ग में महानाद या परनाद है और केन्द्र में बिन्दु है। इस बिन्दु का नाम ही महाबिन्दु है, जो भगवद्धाम का केन्द्र है। भगवद्धाम ही केन्द्र से अभिन्न रूपेण भासमान विश्व है। मातृगर्भ में वर्णों से देह की रचना होती है, अर्थात् प्रणव की रश्मियों से यह रचना कार्य होता है। जीव वास्तव में अपने देह की स्वयं ही रचना करता है। बाद में स्वयं उसमें अहंअभिमान से बद्ध हो जाता है। स्थूल दृष्टि से इस अहंअभिमान की सूचना प्रसव के बाद मायिक जगत् में प्रथम श्वास ग्रहण करने के समय होती है। यही देहात्मबोध का रहस्य है।

शाक्त दृष्टि से प्रतीत होगा कि अनात्मा में आत्मबोध के मूल में वर्ण अथवा अशुद्ध मातृकाओं की क्रिया है। दूसरी तरफ से यह पता चलता है कि आत्मा में आत्मबोध अथवा अहंबोध के मूल में है शुद्ध मातृका की क्रिया। शुद्ध मातृका के प्रभाव से ही आत्मा में आत्मबोध का उदय होता है। भगवान् की स्वातंत्र्य शक्ति का जो खेल कहा जाता है, यही उस लीला का स्वरूप है।

आत्मा के अवतरण में क्रम है, परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि विना क्रम से भी अवतरण होता है। यहाँ उसका विचार नहीं किया जा रहा है। अवतरण का जो क्रम है, यह बुद्धिगत क्रम है। कालगत अथवा देशगत क्रम नहीं है। अवतरण के अवसर में प्रायः इस क्रम का पता नहीं चलता। परन्तु आरोह के समय इस क्रम का स्पष्टतया पता चलता है।

पहले ज्ञातृभाव अथवा प्रमातृभाव का स्फुरण होता है। तदनन्तर ज्ञान अथवा प्रमाण का स्फुरण होता है। अन्त में ज्ञेय अथवा प्रमेय का स्फुरण होता है। इस प्रसंग में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि परमेश्वर ही परम प्रमाता है, अर्थात् सर्व ज्ञाता है। उनका ज्ञान जिस प्रकार नित्यसिद्ध है, उसी प्रकार उस ज्ञान में भासमान ज्ञेय भी नित्यसिद्ध है। सच कहा जाय तो वहाँ पर तीनों अभिन्न अथवा एक ही हैं, वह परशिवावस्था है भगवान् की विश्वातीत स्थिति निर्गुण ब्रह्म नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। निर्गुण विश्वातीत स्थिति से समग्र सृष्टिप्रपंच अनिर्वचनीय माया के खेल के रूप में प्रतीत होता है। इसीलिए इसको मिथ्या अथवा विवर्तमात्र कहा जाता है। ब्रह्म कर्ता नहीं है, परन्तु मायिक प्रपञ्च का अधिष्ठान मात्र है। इस सृष्टि में ईश्वर है, जीव है, जगत् है, और काम, कर्म, अविद्यादि भी प्रवाह रूप में है। ब्रह्म में कुछ भी नहीं है। प्रकाशमात्र है। माया के प्रभाव से उसमें सभी का भान होता है। विश्वात्मक परम शिव में विश्व भी अभिन्न रूपेण सर्वदा रहता है। उनके स्वातन्त्र्य से पृथक् रूपेण विश्व का भान हो सकता है। जो कि भासित हो रहा है, वह सब अभिन्नरूपेण सर्वदा विद्यमान है। यदि उसकी इच्छा हो तो विश्व पृथक्रूपेण भी भासित हो सकता है। यही सृष्टि का रहस्य है। यह मिथ्या नहीं है। क्योंकि परमशिव स्वरूप में विश्व से अभिन्नतया नित्य विद्यमान है। अतएव यह

कहा जाता है कि समग्र विश्व शक्तिरूपेण उनसे अभिन्न है और उनकी इच्छा से सृष्ट अथवा विसृष्ट मात्र है। जो उनमें भासित नहीं होता है, उसका स्फुरण पृथक्‌रूपेण भी नहीं हो सकता।

इसको अवतरण का क्रम कहा गया है। इससे यह पता चलता है कि स्वतन्त्र चिति ही विश्व सिद्धि का हेतु है। शक्ति सूत्र का भी यही कथन है। इससे प्रतीत होगा कि सबके आदि में अर्थात् त्रिपुटीरूप विश्व रचना के प्राक्काल में जो रहता है, वही प्रमिति या संवित् है। पहले इस पूर्ण संवित् या चित् शक्ति से खण्ड प्रमाता अथवा चिदणु का आविर्भाव होता है। यह ज्ञानहीन एवं ज्ञेयहीन ज्ञाता का मूल स्वरूप है। उसके वाद उस ज्ञाता से ज्ञान का उदय होता है। उस समय स्थिति में ज्ञाता और उसका ज्ञान यह दोनों हैं। यह ज्ञान अभेदात्मक है (वर्ण), उससे वह भेदाभेदात्मक (मन्त्र) होता है। अन्त में भेदात्मक (पद) है। यह तीन प्रकार का ज्ञान है। वर्ण रूप अभेद ज्ञान एवं पूर्व वर्णित संवित् स्वरूप सर्वथा एक नहीं है। मन्त्ररूप ज्ञान में ज्ञेय का भान रहता है। यह अभेद में भेद का उन्मेष मात्र है, यह समझना चाहिए। पदरूप ज्ञान में भेद का प्राधान्य रहता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह भी ज्ञान ही है, यद्यपि इसका प्रतिभास ज्ञेयरूपेण होता है। इसके अनन्तर ज्ञान के वाद अज्ञान के बीच में क्रिया-शक्ति का खेल शुरू होता है। उस समय केवल ज्ञेय मात्र रहता है, ज्ञान नहीं रहता है। तन्त्र में इसी का नाम है वाचक अध्वा से वाच्य अध्वा में प्रवेश। क्रिया-शक्ति कलन रूप से ज्ञेयरूपी ज्ञान को निकाल देती है। इसी को अर्थसृष्टि अथवा Matter का आविर्भाव कहा जाता है। इसमें भी विकास का क्रम है। पहले कलन के प्रभाव से कला का आविर्भाव होता है। उसके बाद कला से तत्त्व का आविर्भाव होता है और अन्त में तत्त्व से भुवन का आविर्भाव होता है। इसी स्थान में अर्थ का अवसान होता है। भुवन से जो कार्यसृष्टि होती है, वह सृष्टि भुवन के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए। संक्षेप में यही जगत्स्वरूप की आलोचना है।

"संसार की ओर ही मनुष्य के लिए विपथ और विपद है। उस विपद से उद्धार का एकमात्र उपाय है—अपने में स्वयं प्रकाशित होना"

—श्री श्री माँ

॥ ॐ माँ ॥

मातृ सत्संग

(५३)

श्री स्वामी भागवतानन्द गिरि

स्थान -- त्रिवेणी तट-प्रयाग। अर्ध कुम्भ मेला ता० २८ जनवरी १९४८ माघ, कृ० २,२००४।

माँ पण्डाल में आकर आसन पर विराजी हैं। मातृभक्त लोगों से पण्डाल भर गया है। पू० स्वामी शरणानन्द जी भी पधारे हैं। माँ अपने ख्याल से कुछ बोल रही हैं। माँ कह रही हैं कि अरे! यहाँ कोई प्रोपेसर होने से क्या कहेगा?

डॉ० पन्नालाल—माँ, यह सब प्रोफेसर लोग तो अविद्या के प्रोफेसर है।

प्र०—माँ, आजकल गुरु की बड़ी चिन्ता हो रही है। यह हिन्दू मुसलमानों की गाँठ कैसे खुलेगी?

माँ—(स्वामी शरणानन्दजी को) पिताजी यह गाँठ कैसे खुलेगी?

इसके बाद पू० स्वामी शरणानन्दजी ने हिन्दू मुसलमान के प्रश्न को बहुत सुन्दर रीति से, बुद्धिपूर्वक दलीलों के द्वारा समझाया। पू० स्वामी शरणानन्दजी का जवाब हो जाने के बाद किसी एक भक्त ने माँ को प्रश्न किया,—"माँ इस प्रश्न पर आप कुछ कृपा करके बोलो।"

माँ—यह शरीर से तो मेरा-तेरा कुछ अलग थोड़ा ही है? यह शरीर क्या कहेगा। यह शरीर तो पिताजी ने जो कहा वही कहेगा। हिन्दू मुसलमानों में गाँठ पड़ी कब से?

प्र०—कब से गाँठ पड़ी?

माँ—तुम क्या कहना चाहते हो? क्या हिन्दू-मुसलमान सब एक हो जावें?

प्र०—हिन्दू मुसलमानों में एक दूसरों के प्रति प्रीति कैसे हो?

माँ—गीता में तो कहा है कि—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" शास्त्र में अलग-अलग वर्ण और आश्रम की व्यवस्था रखी गई है। शास्त्र में चार वर्ण और चार आश्रम की बात कही गई है। उसमें प्रत्येक वर्ण और आश्रम की व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिस वर्ण और जिस आश्रम में भगवान् ने रखा हो उसी वर्णानुसार अपने-अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए। जैसे ऊपर कहा गया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः

परधर्मो भयावहः'' चारों वर्ण के लोग यदि अपने-अपने उचित कर्मों को करें तो फिर लड़ाई कैसे होगी ? ब्राह्मण ब्राह्मण का काम करें, वैश्य वैश्य का, क्षत्रिय क्षत्रिय का और शूद्र शूद्र का काम ठीक तरह से करें तो लड़ाई किससे होगी ?

प्र०—श्री रामचन्द्र और रावण के साथ लड़ाई क्या नहीं हुई थी ?

माँ—वह तो बात ठीक है ? लेकिन उसमें और भी बहुत सी बातें रह जाती हैं। कुरुक्षेत्र में भी बहुत बड़ा युद्ध हुआ था। यदि सब लोग अपने-अपने कार्य ठीक रीति से करें तो युद्ध नहीं होगा। लड़ाई में भी वर्ण की बात आती है। क्षत्रिय लोग यदि अपने वर्णानुसार न करें तो ठीक नहीं है। क्षत्रिय का धर्म—धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करने का है। क्षत्रिय धर्म लोगों की रक्षा करने का है। इसीलिये राम और रावण का युद्ध हुआ था। यदि कुरुक्षेत्र के युद्ध की बात करें तो वह तो भगवान् कृष्ण का खेला था। यदि कोई आक्रमण करे तो क्षत्रियों का धर्म है उसकी रक्षा करने का। धर्म की रक्षा के लिये यदि क्षत्रिय न कहे तो कर्मक्षेत्र में यह बात ठीक नहीं है। हिन्दू और मुसलमान यदि अपने-अपने धर्म के अनुसार सच्चा जीवन यापन करें तो सच्ची प्रीति होगी। सब लोगों का यही सच्चा धर्म है वे अपने-अपने धर्मानुसार अपने गुणों का पालन करें वही ठीक है और सत्य है। सुना है कि आजकल हिन्दू लोग मुसलमानों के होटल में चाय अच्छी बनती है ऐसा समझकर उनके यहाँ चाय पीने जाते हैं। यह शरीर का कहना है कि—जैसे कोई बीमारी के रोगाणु दूसरे के शरीरों में आक्रमण करता है वैसे ही अच्छे-बुरे व्यक्तियों के स्वभाव का आक्रमण भी हो जाता है। यह शरीर का कहना है कि सब अपने-अपने धर्मानुसार रहने की कोशिश करें तो हिन्दू मुसलमानों में एकता होगी। हिन्दू मुसलमानों में गाँठ कैसे पड़ी ? क्या बात है ? इन सब लड़ाइयों में नीति कहाँ है ?—यह सब अनीतिपूर्वक लड़ाई है। आज हिन्दू और मुसलमानों में यह संघर्ष पैदा हुआ है - उनका कारण पिताजी (स्वामी शरणानन्द जी) ने जो बताया है वह सत्य है—संगदोष से ऐसा होता है। हिन्दू लोग मुसलमान जैसे अत्याचार नहीं करते थे लेकिन ऐसी हिन्दुओं में दुर्बुद्धि कहाँ से आई ? संगदोष से अवगुण आये हैं। जैसे पिताजी ने कहा है कि यदि सच्चा हिन्दुत्व न रहे तो जैसा होना चाहिए वैसा ही हो रहा है। जिन अवगुण का तुम लोग संग करोगे तो तुम्हारे में भी दुर्गुण आ जायेंगे ? ऐसी अनीति क्यों हुई ? कारण—अपनी-अपनी जगह पर हम लोग ठीक न रहे। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" यदि सब लोगों ने अपने-अपने वर्ण और स्वभाव के अनुसार कार्य किया होता तो ऐसी अनीति नहीं होती ? जैसे घर्षण से अग्नि पैदा होती है वैसे ही यह हो रहा है, अयोग्य व्यवहार, अनीति - यह सब

पूरा प्रमाण में हो रहा है। जब तक सब लोग अपने-अपने कर्म के अनुसार स्थिर न हों तब तक यह कैसे होगा ?

डॉ० पन्नालाल—इसका अर्थ यही हुआ कि हिन्दुओं ने हिन्दुत्व छोड़ दिया है इसलिये मुसलमानों के साथ ऐसा संघर्ष हो रहा है ?

माँ—चार वर्णों का चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यास आश्रम। अपने-अपने गुणों के विकास के अनुसार प्रकाश होता है। सब में यदि शान्ति के लिये सद्भावना उत्पन्न हो जाये तो ठीक हो जाये। जैसे एक छोटा तिनका कोई बार-बार खड़ा रखने की कोशिश करे तो तिनका खड़ा रह सकता है। वैसे ही यदि कोई व्यक्ति शान्ति के लिये कोशिश करे तो वह भाव अवश्य अनुकूल पड़ेगा। ऐसी शान्ति की भावनाओं से भी कुछ हो सकता है। कर्मक्षेत्र का स्वभाव ही वैसा है। जैसे राख में अग्नि गुप्त रहता है—समय आने पर प्रकट हो जाता है। जो लोग भगवान् को अलग मानते हैं और सृष्टि को अलग मानते हैं वहाँ पिताजी—शान्ति का बिलकुल मूलच्छेद कब हुआ ? उसमें बीज रह जाता है। यह सारा जगत् क्रीड़ा जगत् है। जगत् में संघर्षण होना, अकस्मात् होना स्वाभाविक है। घर्षण से जो प्रकाश होना चाहिये वह हो रहा है।

प्र०—घर्षण तो अब हो चुका है ?

माँ—शान्ति के लिये अब प्रयत्न हो रहे हैं। अब शान्ति के लिये जो कुछ हो रहा है वह सब काम में आ जायेगा। शान्ति का भाव भी मदद करेगा। कुछ भी निकाला नहीं जाता है। स्वाधीनता की आवश्यकता थी वह तो कोई उपाय से मिल गई है। कोई भाव वृथा नहीं जाता है।

प्र०—विश्व प्रकृति तो खूब चंचल है—वह कैसे मदद करेगी ?

माँ—हम सब लोग जो हैं वह सब प्रकृति का है। इसके बीच में—"मैं" सदा-सर्वदा स्थित है। जो है वही प्रकाशित हो जाता है। जब आवरण हट जाता है तब पता चलेगा। अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त करो। अपने आत्मा के रूप में भगवान् को प्राप्त करो या प्रभु और सेवक के रूप में उनको प्राप्त करो या सत्ता रूप से उनको प्राप्त करना चाहिये।

प्र०—अपने को कैसे प्राप्त किया जाता है ?

माँ—सुना है कि एक 'हरि' नाम जितना पापों को नष्ट कर सकता है—उतना पाप भी जीव नहीं कर सकता है। अग्नि के एक स्फुलिंग से सब कुछ भस्म हो सकता है। "मैं पापी हूँ" ऐसा क्यों सोचते हो ? "मैं पापी हूँ" ऐसी बातें मत करो। तुम सिर्फ आत्मध्यान, आत्म-चिन्तन करो। आत्मध्यान करते-करते आत्म-प्रकाश हो जायेगा। जैसा तुम ध्यान करोगे वैसा तुम पाओगे ? कमजोर की तरह अपने को पापी क्यों मान रहे हो ? वीर की तरह

भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में लग जाओ। मैं भवसागर कैसे पार करूँगा ?—उसके लिए कुछ विचार करो ही मत। इसमें मार्ग सूचक स्तम्भ की आवश्यकता नहीं है। आगे चलते रहो। अवश्य भगवत्-प्राप्ति होगी। भगवान् अवश्य मिलेगा ही ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर, जैसे गुरु ने बताया है वैसे साधन मार्ग में अवश्य चलना चाहिये। यदि लोभ करना ही है तो भगवत्-प्राप्ति के लिये लोभ करो। मोह करना ही है तो भगवान् के लिये मोह करो। यदि कामना करनी है तो भगवत् प्राप्ति की कामना करनी चाहिए। यदि भगवान् की तुम्हारे ऊपर अहैतुकी कृपा हो जाये तो क्षण भर में भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

प्र०—भगवान् की कृपा कैसे होगी ?

माँ—भगवान् की कृपा भी स्वयं प्रकाश है। यह जो तुम बोल रहे हो वह भगवान् की कृपा से ही बोल रहे हो। कृपा माने क्या 'कृ' माने करो और 'पा' माने पाओ—करो और पाओ। यदि तुम करोगे तो अवश्य पाओगे ? जितना प्रमाण में कार्य करोगे उतने प्रमाण में प्राप्ति होगी। भगवान् की तरफ जाने के लिये तुम जो कुछ कर रहे हो वह सब भगवान् की कृपा से होता है।

जितने-जितने तुम साधन भजन करोगे उतने-उतने तुमको भगवान् की कृपा का अनुभव मिलेगा। एक कृपा का नाम है—क्रमिक कृपा। भगवान् ने जो सृष्टि की है वह उसको भोग रहा है। करने की मति भी उनसे ही आई है। स्वयं अनुभव शुरू हो जाता है कि मेरे साधन से यह अनुभव न होता। यह अनुभव भगवान् की कृपा से ही होता है। भगवान् की कृपा से ही भगवत्कृपा का अनुभव होता है। "मैं कर रहा हूँ"—यह अनुभव उनकी कृपा के बिना नहीं होता। भगवत्कृपा स्वयं प्रकाश है। और दूसरी अहैतुकी कृपा है। यह अहैतुकी कृपा भी भगवान् से ही होती है जीव कब तक कर सकता है। कोई रास्ता में गिर गया है। लेकिन कोई उनको पकड़कर उनके घर में पहुँचा देता है। यह हुई अहैतुकी कृपा की बात। अपने ऊपर कृपा करनी चाहिये। आत्मकृपा के बिना भगवत्कृपा नहीं होती। भगवान् की प्राप्ति करने के लिए रास्ता ढूँढो। स्वयं भगवान् ही सब कुछ करता है। यदि भगवान् की अहैतुकी कृपा न होती—हम क्या बोल सकते थे या क्या सुन सकते थे। उनकी कृपा से भगवत्कृपा का अनुभव होता है।

प्र०—मुझको तो जिसके ऊपर भगवान् की कृपा नहीं है उनकी चिन्ता है। जिनके ऊपर भगवान् की कृपा है वे सब तो माँ के पास आते हैं।

माँ—जो कुछ पढ़ा नहीं है उनका कोई प्रश्न नहीं है और जो सम्पूर्ण ज्ञानी हो गया है उनका कोई प्रश्न नहीं है। जो पढ़ रहा है उनमें प्रश्न जरूर आवेगा। तुम अपने स्वरूप को जानने की कोशिश करो।

प्र० -- अपने को पहचानने की कोशिश करनी चाहिए या प्राप्त करने की।

माँ—यदि भूले हो भूल जावो तो। यदि भूल होगा तो भूल का शोधन भी होगा। यदि अपने में आत्मप्रकाश हो जाये तो सब दोष खत्म हो जाते हैं। अपने में क्या-क्या दोष हैं—उनको ढूँढ के निकालना चाहिये। भगवान् को पहचानना माने अपने को जानना।

प्र०—हम लोगों में सबसे बड़ा दोष यह है कि-हम भगवान् से भिन्न हैं-यह दोष कैसे मिटेगा ? कैसे भगवत्-प्राप्ति होगी।

माँ—जब तुम बाजार में जाते हो तब किसी को मीठा खाते देखकर तुमको भी यह मीठा खाने की इच्छा होती हैं। यह इच्छा कहाँ से आई ? तुम्हारे अन्दर स्वाद रहा है प्यास रही है—इसीलिये जीभ में पानी आ जाता है। मनुष्य शान्ति को क्यों चाहता है ? अशान्ति क्यों नहीं चाहता ? क्योंकि तुम्हारा आत्मा शान्तस्वरूप है। स्थिर हो। एक रास्ता ही हो। अपने में जो अपूर्णतायें हैं उनको निकाल दो। पूर्ण बनने की कोशिश करो। जो चीज अपने अन्दर न रहें तो उनकी स्मृति कैसे आती है ? कितना सुन्दर है ! सब लोग चाहते हैं—शान्ति, ज्ञान, भक्ति, प्रेम—तब हम सब लोग एक क्यों नहीं होते हैं। कितनी सुन्दर बात है। इसमें बात क्या है ? असल बात यह है कि सब लोग अपने आत्मा को ही चाहते हैं। यदि किसी एक का लड़का खो जाता है—वह कितनी खोज करता है। दूसरे किसी का लड़का खो जाये तो उसको इतनी चिन्ता नहीं होती है। जिसके साथ अपना संयोग रह जाता हैं उनके लिये ही दुःख होता है। एक भाव ऐसा है कि मैं ही आत्मा हूँ। सर्वत्र एक आत्मा ही है। उनके यह भाव हैं कि हे प्रभु, तुम पूर्ण हो और मैं तुम्हारा अंश हूँ।—दूसरा भाव यह है कि हे प्रभु, तुम मेरे प्रभु हो और मैं तुम्हारा दास हूँ। और तीसरा आत्मदृष्टि से मैं और तुम सब एक ही हैं। पिताजी (शरणानन्दजी की प्रति) यह शरीर ने तो खूब बक-बक कर लिया। इसके बाद आश्रम के ब्रह्मचारी श्री हिरू महाराज (अब उनका नाम हुआ है—ब्रह्मचारी तन्मयानन्द) ने सुन्दर भजन गाया।

प्र०—क्या बचपन से ही भगवान् की भक्ति करनी चाहिए ?

माँ—(हँस रही हैं) भगवान् की तरफ जाना माने-क्या ?

प्र०—कब—क्या पेन्शन लेने के बाद भगवान् का भजन करना चाहिए।

माँ—हर समय भगवान् का भजन करना चाहिए। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

प्र०—क्या बच्चों को कुछ नहीं करना चाहिए ?

माँ—तुम इस तरह रह के देखो। सृष्टि की रचना क्या तुमने की है ? जिन्होंने सृष्टि की रचना की है वह देखेगा। (क्रमशः)

श्री हरिबाबाजी महाराज

(संस्मरणाञ्जलि)

(पू० पा० स्वामी श्री अखण्डानन्द महाराजजी)

अध्यक्ष, भारत साधु-समाज

प्रणाम करने योग्य

जब मैंने ज्योतिषपीठाधीश्वर शंकराचार्य श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती से दण्ड ग्रहण किया, तब उन्होंने कहा कि 'जिसके पास दण्ड न हो और दण्डियों में भी जिसका चातुर्मास्य और विद्या अधिक न हो, उसको प्रणाम नहीं करना।' मैंने श्री उड़ियाबाबा जी का नाम लेकर प्रश्न किया। तब उन्होने कहा कि 'वे तो गोवर्धन पीठाधीश्वर शंकराचार्य के शिष्य हैं और पहले के दण्डी हैं इसलिये उन्हें प्रणाम करने में कोई हानि नहीं है।' उसके बाद मैं बाँधपर आया। श्री हरिबाबाजी को 'प्रणाम करें कि नहीं?' यह प्रश्न अपने महाराज जी के सामने रखा। उन्होंने कहा—'निरभिमानता और विनय सर्वोत्तम गुण है। भागवत में लिखा है कि कुत्ते, बैल और गधे को भी धरती पर लोट कर भगवद्बुद्धि से प्रणाम करना चाहिये। श्री हरिबाबाजी एक उच्चकोटि के महापुरुष हैं। हजारों लोग उन्हें भगवद्दृष्टि से देखते हैं। वे दैवी सम्पत्ति के खजाने हैं। वे वर्णाश्रमातीत पुरुष हैं। उन्हें अवश्य प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करना अपना सद्गुण है। वह अपने में रहना चाहिए। तुम हमेशा उनको प्रणाम करते रहे हो। अब भी करना चाहिए।' श्री उड़ियाबाबाजी की दृष्टि में श्री हरिबाबाजी उनके स्वरूप ही थे।

अन्न ब्रह्म

श्री हरिबाबाजी महाराज का भोजन बरसों तक एक सरीखा ही चलता रहता। साबूत मुंग और सब्जी—दोनों मिलाकर एक साथ पकाया जाता था। प्रायः रोटी के साथ खाते थे। भोजन आने पर अपने उपयोग भर का अपने कटोरे में ले लेते और खा लेते थे। सब जूठा नहीं करते थे। अन्त में कटोरे को भी धोकर पी लेते थे। यह नियम लेने के पहले भी वे वर्ष-वर्ष भर या छः-छः महीने तक एक ही ढंग की वस्तु खाते थे। एक बार मुझे जुकाम हुआ। एक बोतल काष्ठौषध भेज दी पीने के लिए और बोले – 'भात खाओ तो जुकाम अच्छा हो जायगा। सृष्टि में भात ही अमृत है।' वर्ष-दो वर्ष के बाद मुझे फिर जुकाम हुआ। दवा भेजी और कहला दिया कि 'रोटी खाओ और यही अमृत है।' मैंने सोचा

कि कभी भात को अमृत कहते हैं, कभी रोटी को। इसका क्या कारण है ? पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वे जब, जो खाते हैं, तब उसी को अमृत बताते हैं। असल में अन्न ब्रह्म है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। ब्रह्म-बुद्धि से ही उसका सेवन करना चाहिए। ब्रह्म-बुद्धि से प्रत्येक अन्न सब रोगों की औषध हो जाता है।

संकल्प

एक बार मुझसे बोले, 'आओ, एक वर्ष तक संकल्प ग्रहण करके वृन्दावन में बैठें। तुम श्रीधरी भागवत सुनाओ। मैं आदि से अन्त तक सुनूँगा।' मैंने कहा—'एक वर्ष के अनुष्ठान का नाम सुनकर दूर-दूर से लोग इकट्ठे हो जायेंगे। उनके भोजन और निवास की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?' बाबा ने कहा—'प्रतिदिन भागवत की कथा होगी। हरिनाम का संकीर्तन होगा। तुम कहोगे और मैं सुनूँगा। फिर भगवान् क्या खान-पान की व्यवस्था भी नहीं करेंगे ?' हम लोग नियम पूर्वक बैठ गये। कथावार्ता चलने लगी। सब प्रबन्ध हो गया।

संकल्प के विघ्न

इसी अनुष्ठान के बीच में हैदराबाद सिन्ध के वेदान्त-मर्मज्ञ भाई हेमनदास, जो कि मुझपर बहुत श्रद्धा-प्रीति रखते थे, कोलम्बो के सेठ जीवतराम को लेकर आये। उन्होंने आग्रह किया कि 'श्रीलंका चलो, वहाँ के हिन्दुओं में धर्म-संस्कृति का प्रचार करने के लिए। मार्ग-व्यय के रुपये जमा हो गये। मथुरा के मजिस्ट्रेट ने प्रमाण-पत्र देने का वादा किया।' जब यह बात बाबा के पास पहुँची तब उन्होंने कहा कि 'यह अनुष्ठान में विघ्न है। जो संकल्प कर लिया उसे बीच में नहीं तोड़ना।' मैंने उनकी आज्ञा मान ली। श्री लंका की यात्रा कट गयी।

संकल्प की निवृत्ति

ग्यारह महीने पूरे होते न होते बाबा ने कहा कि 'अब जितना बाकी है, दोनों समय में पूरा करके पन्द्रह दिन में पूरा कर दो; क्योंकि मैं पुरी जाना चाहता हूँ।' मैंने कहा—'पन्द्रह दिन के लिये संकल्प क्यों तोड़ते हैं ?' बाबा ने हँसकर मेरी पीठ पर हाथ रख दिया और बोले—'संकल्प पूरा करने का आग्रह संसारियों का होता है। साधु के संकल्प का तो टूट जाना ही अच्छा है। जहाँ अपना संकल्प पूरा नहीं होता, वहाँ अपने प्रियतम प्रभु का संकल्प पूरा होता है।'

केवल रसास्वादन

ब्रिटिश शासनकाल में ग्वालियर राज्य के करहे नामक स्थान में बाबा रामदास ने एक महान् उत्सव का आयोजन किया था। चौबीसों घण्टे सैकड़ों कड़ाहियों में मालपूए छनते

रहते थे। गाँव के लाखों लोग आते और जाते। बस, भोजन और भजन का मेला था। अपने महाराज श्री उड़ियाबाबा जी के साथ मैं भी वहाँ पैदल गया था। वहाँ लाखों की भीड़ देखकर मैंने सामान्य सदाचार-सम्बन्धी प्रवचन किया। सत्संग के अन्त में श्री हरिबाबा जी महाराज ने मुझे बुलाकर कहा—'भैया! जरा मेरा भी ध्यान रक्खा करो। तुम प्रवचन करते समय भूल ही गये कि मैं यहाँ बैठा हूँ।' इसका अभिप्राय यह है कि वे अपना लोक-परलोक बनाने के लिए अथवा अन्तःकरण शुद्ध करने के लिए प्रवचन नहीं सुना करते थे। सदाचार का प्रचार-प्रसार इष्ट होने पर भी वे स्वयं भगवद्-रसास्वादन में ही अपना समय व्यतीत करना चाहते थे। उन्हें भूत-भविष्य, प्रचार या लोक-कल्याण की कोई वासना नहीं थी। वे जानते थे कि कुत्तों की पूँछ को कितनी भी सीधी करो, वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है। अपने आपको परमानन्द-प्रभु में और उनके रस में मग्न रखना—यही जीवन की सफलता है।

अद्वैतनिष्ठा

फीरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) के उत्सव में उनके साथ मैं भी गया। बम्बईवाले श्री कृष्णानन्दजी के आग्रह से वहाँ जाना हुआ था। श्री राधाकृष्ण के मन्दिर में ठहरे। लौटते समय एक ही गाड़ी में उनके साथ मैं बैठा। मथुरा के पुलिस इन्सपेक्टर श्री नारायण सिंह मोटर ड्राइव कर रहे थे। ढाई घण्टे की यात्रा में मैंने उनसे अनेक प्रश्न किये और उनके उत्तर बड़े प्रेम से उन्होंने दिये। एक उदाहरण देखिये—'आपकी निष्ठा क्या है?' मैंने पूछा। वे बोले—'मेरी अद्वैतनिष्ठा है। मेरे गुरुजी स्वामी श्री सच्चिदानन्द गिरिजी की अद्वैतनिष्ठा परिपूर्ण एवं परिपक्व थी। उनकी कृपा से ही मुझमें अद्वैतनिष्ठा का संचार हुआ था और वह ज्यों-की-त्यों अखण्ड है।' मैंने पूछा कि 'लोग तो यही समझते हैं कि आप भक्ति-परायण, संकीर्त्तननिष्ठ हैं।' वे बोले—दोनों में विरोध कहाँ है। मुक्ति वा अद्वैत अपना स्वरूप है। भक्ति हृदय में निरन्तर उल्लसित रस की धारा है। शान्त-रस और उल्लसित-रस में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। उल्लास पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक है—इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि रसकी अविच्छिन्न भासमानता है। हृदय रस में उन्मज्जन-निमज्जन करे, स्वरूप ज्यों-का-त्यों। रसिकाचार्य भी तो यही कहते हैं—'भक्ति-मुक्त्यैव निर्विघ्ना' अर्थात् मुक्ति के अनन्तर भक्ति निर्विघ्न और निरुपद्रव होती है।'

सकाम निष्काम

अनेक महात्माओं का कहना है कि भक्ति निष्काम होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि निष्कामता उच्चकोटि की वस्तु है। श्री हरिबाबाजी महाराज निष्कामता की प्रशंसा किसी से कम नहीं करते थे। परन्तु वे साधारण जन के लिए ऐसी स्थिति को कठिन मानते

थे। उनका कहना था कि 'यदि किसी को कुछ वासना भी हो तो उसके लिए प्रार्थना भगवान् से ही करनी चाहिए और किसी से नहीं। ध्रुव, गजेन्द्र, द्रौपदी आदि के समान पहले सकाम भाव होता है और बाद में निष्काम प्रेम होता है। सेवक या पत्नी को छोड़कर और किसके पास माँगने जाय।' वे व्यक्तिशः और संघशः, दोनों प्रकार से सकाम अनुष्ठान करवाते थे और अधिकांश उनकी पूर्ति होती थी। जहाँ भगवान् से एकता है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ होता ही नहीं। प्रेमपत्तन में कहा गया है—'प्रेम नगर में निष्कामता से सकामता श्रेष्ठ है। प्रभु के प्रति निष्कामता ही सकामता के समान निकृष्ट है। रस-सिद्ध पुरुषों को सकामता और निष्कामता एक ही कोटि में अपना स्वरूप ही भासती है; क्योंकि उनके लिए यह, वह, मैं सब भगवद्स्वरूप ही होता है।*

---

*'चिन्तामणि' से साभार पुनर्मुद्रित

> "भगवान् का नाम प्रेमस्वरूप है। वह सब में सब समय सब स्थानों में स्वयम् ही हैं। उनके लिए मनुष्य मात्र का ही जब अखण्ड रूप है तो उनका वही स्वयं रूप है।"
>
> —श्री श्री माँ

श्री श्री माँ आनन्दमयी प्रसंग

(पंचम खंड)

श्री अमूल्य कुमार दत्तगुप्त, एम० ए०, बी० एल०

साधना में अनुभूति तथा दर्शन आदि का परिणाम

माघ २३, शनिवार, (ई० ५।२।५६)। आज प्रातःकाल से ही वृष्टि हो रही है। सायंकाल के समय भी खूब दुर्योग था। शाम से रात ७-३० तक आश्रम में बैठा रहा यह सोचकर कि पाठ के समय माँ नीचे उतर आयेंगी। माँ नीचे उतरी नहीं, हमलोगों पर आदेश हुआ कि ऊपर जाकर माँ के कमरे में बैठें। हमलोगों ने वैसा ही किया। नाना प्रकार की बातों के बीच साधना में दर्शन आदि की बातें उठीं। मैंने माँ से कहा—साधन भजन करते समय दर्शन या उसी प्रकार कुछ न मिलने से हृदय में नैराश्य आता है। बहुत से लोग दुःखी होकर कहते हैं—"देवताओं का दर्शन तो दूर है, कोई भूत प्रेत का भी दर्शन मिलता तो कह सकता कि कुछ हुआ।"

माँ (मुस्कराकर)—हाँ बहुतों को ऐसे कहते हुए सुनाई पड़ता है। लेकिन यह जो देखने की बात करते हो, यह कौन सी शक्ति के खेल से होता है बहुधा जाना नहीं जाता। जो इस प्रकार दर्शन करता है वह अनुमान करता है कि इन कारणों से सम्भवतः ऐसा हो रहा है। लेकिन सन्देह रह ही जाता है। फिर शक्ति का प्रकाश ऐसा हो भी सकता है जिससे उस विषय में निश्चय ज्ञान हो जाता है। उस दशा में सन्देह का कोई अवसर नहीं रहता है। लोग जीवनभर दर्शन आदि कर सकते हैं, लेकिन इससे सिद्ध नहीं होता कि शक्ति के इन खेलों के सभी अर्थ उसकी समझ में आ जायेंगे।

नेपाल दादा (नारायण स्वामी)—ये सब दर्शन साधना के अन्तराय हैं। इतना तक कि इष्ट दर्शन भी साधना का एक प्रकार अन्तराय है।

माँ—ऐसा क्यों होगा ? इष्ट के दर्शन के लिये ही तो साधना है न। फिर दर्शन मात्र को अन्तराय कहा नहीं जाता। अगर उन अनुभवों से आनन्द लेना हो, यदि उनका व्यवहार हो उस दशा में वह अन्तराय रूप हो जाता है। इस मार्ग में चलते हुए अगर वह अपने को तृप्त समझता है, तो वह उसी जगह बद्ध हो जाता है। फिर मजाक की बात यह है कि उस प्रकार आनन्द की अनुभूति होने पर उसे प्रकाशित करने और दूसरे को देने की इच्छा भी उत्पन्न होती है।

मैं—साधना में आनन्द पाकर यदि कोई उसे दूसरे को उसका अंश देना चाहता है, तो इससे उसके आध्यात्मिक प्रगति में अन्तराय क्यों होगा ? अवश्य इसमें अहंकार का भाव रहे तो बात भिन्न है, लेकिन ऐसा अगर न हो, दूसरे भी मेरे जैसे आनन्द को प्राप्त करें ऐसा सोचकर यदि दूसरे को उस आनन्द का अंश दिया जाय, तो यह एक महान् हृदय का परिचय है। स्वयं आनन्द पाकर स्वयं मस्त रहना स्वार्थपरक भावना छोड़कर और क्या हो सकता है ?

माँ—स्वयं साधना में आनन्द पाकर दूसरे को आनन्द का अंश देने में आचार्य बनने की भावना रहती है। इसके अलावा जब एक बरतन पूर्ण होने की ओर है, उस समय अगर उसमें से निरन्तर व्यय किया जाता है, तो वह पात्र कब पूर्ण होगा ? पात्र पूर्ण होकर अगर उससे पानी गिरने लगता है, तो बात अलग है। जगद् गुरु का भाव तो वैसा ही है। पात्र के पूर्ण होने के पहले खर्च करने पर पूर्णता प्राप्ति में बाधा आती है। देखते हैं न, बहुत से लोग स्कूल या कालेज में पढ़ते समय स्वयं पढ़ते भी हैं और प्राइवेट ट्यूशन भी करते हैं। फिर ऐसा समय भी आता है जब अपनी पढ़ाई लेकर ही व्यस्त रहते हैं, दूसरे को पढ़ाने की बातें मन में उठतीं ही नहीं। लेकिन आनन्द प्राप्त करने पर उसका अंश दूसरे को देने की इच्छा होना स्वाभाविक है। इस शरीर की धारा से ही एक बात कह रही हूँ। जब बाजितपुर में इस शरीर को नाम कीर्तन से बहुत आनन्द होता था, उस समय एक महिला, उसके पति विदेश जाने से, इस शरीर के पास सोने आती थी। एक रात को मैंने कहा, "चलो हम दोनों मिलकर नाम कीर्तन करें।" दोनों के द्वारा नाम कीर्तन प्रारम्भ होने पर थोड़े समय के बाद देखने को आया कि उस महिला ने आनन्द में मत्त होकर नाचना आरम्भ किया। बस, वहीं उसका अन्त हुआ। इसके बाद उसने फिर कभी नाम कीर्तन नहीं किया, आनन्द भी पाया नहीं। अवश्य उसे उस समय या बाद में इस शरीर ने कहा नहीं, इस तरह नाम करने से उसे इस प्रकार आनन्द प्राप्त होगा।

मैं—साधन भजन करते हुए थोड़ी बहुत अनुभूति मिलने पर साधना में उत्साह आता है, नहीं तो इस रास्ते पर चलने में थोड़ा भी उत्साह नहीं रहता है।

माँ—ठीक है। फिर भी बहुत से समय देखते हो न, लड़का नौकरी करते हुए रुपये लाकर पिता को देने पर पिता पुत्र को दिखला कर उन पैसे को पुत्र के नाम पर जमा कर सकते हैं, फिर पुत्र को न दिखलाकर भी उन्हें उसके नाम पर जमा कर सकते हैं। उसी प्रकार, शिष्य द्वारा कर्म कर जाने पर गुरु समय समय पर उस कर्म की अनुभूति शिष्य को दे भी सकते हैं, फिर कभी न भी दे सकते है। लेकिन यह निश्चित है कि कर्मफल गुरु के पास संचित हो रहा है।

मैं—एक बार मैंने शिवरात्रि का उपवास कर रात भर जप तथा धर्मग्रन्थ का पाठ करता हुआ बिताया। दूसरे दिन सुबह नैराश्य का भाव आया। सोचा रातभर जगकर नाम करते हुए क्या लाभ हुआ। कल जैसा था आज उससे भिन्न कैसे? तुमने भी एकदिन मुझसे कहा, मेरा लक्ष्य सदा फल की ओर है। फल की ओर लक्ष्य रखकर काम करना और न करना बराबर है। जब मैं फल की ओर से दृष्टि हटा नहीं सकता, तो मुझसे कुछ भी नहीं हो रहा है।

माँ (मुस्कराकर) उस बात को जैसे कहा था, आज फिर बोल रही हूँ। आज तक तुमने जो कुछ किया उनके फल सभी हैं। कर्म करने पर अनुभव में कभी कभी कुछ धारणा न भी आ सकती है। लेकिन कर्म का फल कहाँ जायगा? वह तो रह ही जाता है। नाम जप आदि करने के बाद सर्वदा यही याद रखना है कि मैं उन्हीं की कृपा से थोड़ा समय उनके काम में दे सका। मैं कुछ भी कर नहीं सका ऐसा सोचकर दुःखी नहीं होना चाहिए। यही कमजोरी का आश्रय लेना है।

प्रारब्ध का खंडन सम्भव है या नहीं

आज समाचार मिला कि भ्रमर घोष का देहान्त हो गया। दीर्घ काल से वह क्षयरोग से बीमार था और उसकी हालत बुरी थी ऐसा मैंने कलकत्ते से ही सुनकर आया था। कमलदादा से सुनने में आया कि दो महीने पहले माँ रायपुर में रही थीं कि वे भ्रमर की मृत्यु देख रही हैं। माँ ने भ्रमर का प्रसंग उठाकर मुझसे कहा—"भ्रमर का देहान्त हुआ, क्या सुनने में आया?"

मैं हाँ जी, आज नीचे यही बात सुनकर आ रहा हूँ, सुनकर ही सोचा कि नियति ही बलवान है। क्योंकि इस भ्रमर को तुम्हारी गोद में कितने बार बैठने का अवसर मिला, 'बड़ी माँ' होने के नाते तुम उसे कितने प्यार करती थीं, लेकिन तिस पर भी उसका भोग जो कुछ था कान पकड़कर करवा ली। उसमें छुटकारा नहीं है।

माँ—तुम लोग भ्रमर का कितना भोग देख पाये। यह सब को ही मिलता है। अवश्य उसने भिन्न जाति से विवाह किया था, लेकिन उसमें कितना उत्कट संस्कार था जिसे दूर करने के लिये उसे उस प्रकार प्यार से कुछ दिन रखा गया था उसकी खबर तुम लोगों को कहाँ है। उस उत्कट संस्कार को कटाकर उसे फिर उसके अपने रास्ते पर चलने दिया गया था। इस क्षुद्र भोग के भोगने से उसके लिये हितकारी ही हुआ। अगर ख्याल होता सब भोग कटा दिया जा सकता। लेकिन तुम लोगों को यह मालूम अवश्य ही है कि इच्छा से इस शरीर से कुछ करने को नहीं बनता।

नेपाल दादा—(नारायणं स्वामी) सम्भवतः प्रारब्ध का भोग अवश्य ही करना पड़ता है ।

माँ—प्रारब्ध का भोग जैसे करना पड़ता है यह सत्य है, फिर सब कट भी जाता है यह बात भी वैसे ही सत्य है। प्रारब्ध में से कितना भोग हुआ और कितना नहीं हुआ यह तुम लोगों को देखने में नहीं आयेगा ।

जब माँ भ्रमर की बातें कर रही थीं तब उनके मुखमंडल में एक अपूर्व ज्योति दिखाई पड़ी । सर्वदा श्री श्री माँ की ऐसी मूर्ति देखने को नहीं आती । एक ओर मुखमंडल मानों ज्योति से उज्ज्वल हो उठा है, और दूसरी ओर उनकी आखों की ओर देखने से मालूम हो रहा था कि नयनों से अजस्र करुणा की धाराएँ विगलित होकर वह रही हैं—दृश्य इतना ही मनोरम था । अनिमेष दृष्टि से माँ की उस दिव्य मूर्ति की ओर देख रहा था ।

नेपालदादा—भ्रमर की किस प्रकार गति हुई है ?

माँ—इस प्रकार वातों का अवसर अब नहीं। यदि कभी अवसर हो वतलाया जायगा ।

श्री श्री माँ के शरीर के साथ मिल जाने का तात्पर्य

स्वामी शंकरानन्द—अच्छा, मिल जाने का क्या अर्थ है ? तुम्हारे साथ मिलने की बात पूछे जाने पर सम्भव है तुम कुछ भी उत्तर दोगे नहीं। इस लिये सामान्य दृष्टि से पूछता हूँ मिल जाने का क्या अर्थ है ?

माँ—अच्छा, यह जो मिल जाना कह रहे हो, निर्मल वावू आदि सभी यहां हैं। तुमलोग दादा महाशय की बात ही समझो । जब तुमलोगों के दादा महाशय को मृत्यु हुई उस समय यह शरीर वर्धमान या काशी के रास्ते गाड़ी पर था । उस समय देखने को आया कि जैसे कुछ पकाने के बाद दूसरे पात्र में डालने पर उसमें से जैसे धुआँ उठने लगता है उसी प्रकार तुम लोगों के दादामहाशय भी सफेद धुआँ की तरह उठकर धीरे धीरे समस्त आकाश में मिल गये । इस घटना के कुछ दिन बाद देखा कि तुमलोगों के दादा महाशय का ज्योतिर्मय शरीर कौपीन पहना हुआ शिर पर फट्का बाँधा हुआ था । वे भी सपेद थे। बाद में इस शरीर के साथ लीन हो गये । किसी विशेष अंश के साथ नहीं, सब अंशों के साथ सब अंशों का मिल जाना हुआ । अब कह सकते हो जो जिसके साथ मिल जाता है, वह वही हो जाता है । जिनके साथ वे लीन हो जाते हैं, अगर वे किसी धाम या लोक के हों, तो जो लीन होते हैं वे उस धाम या लोक को प्राप्त करते हैं, फिर वे जिन के साथ लीन होते हैं अगर उनका कोई विशेष धाम या लोक न हो, तो जो लीन होते हैं उनका भी लोक नहीं

प्राप्त होगा। तुम लोगों के दादा महाशय के इस शरीर के साथ लीन होने की जो बात मैंने कही उससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस शरीर की खंड आकृति के साथ वे लीन होकर वर्तमान हैं।

मैं माँ, तुम्हारे शरीर के साथ दादा महाशय के लीन होने की बातें जब तुम ने कही उस समय धुआँ की बातों का उल्लेख तुम ने नहीं किया। इस प्रकार धुआँ होने का क्या अर्थ है?

माँ—धुआँ बनकर इस प्रकार फैल जाने से उस शरीर की एक प्रकार गति हुई ऐसा समझ में आता है। बाद में फिर वह घना होकर एक मूर्ति का आकार लेकर इस शरीर में लीन हो गया।

मैं—क्या निर्मल बाबू भी तुम्हारे साथ लीन हो गये? इस प्रकार की बात पहले सुनने में नहीं आयी।

माँ—तुमने कितने दूर तक सुना है?

मैं—मैं ने सुना कि वे ऊर्ध्व लोक में जाकर उस लोक के अधिपति के साथ सायुज्य प्राप्त हुए और वे जब तुम्हारे साथ भेंट करने आये थे उनके साथ उस समय अनेक महापुरुष थे।

माँ—लेकिन उसका लीन होना अन्य से कुछ स्वतंत्र है। इस लीन भाव में थोड़ा सा अभाव है, यह सर्वांश रूप में लीन होना नहीं

मृत्यु के पूर्व मौसी का आगमन

खुकुनी दीदी दोबार माँ को भोजन करने बुलायी हैं, इस बार माँ खड़ी हो गयीं। मैं भी अपने डेरे में आने के लिये तैय्यार हुआ। माँ ने गोपी बाबू को कल खबर करने के लिये मुझे आदेश दिया।

कमलाकान्त—जब भ्रमर ने सर्वदा माँ के चिन्तन में बिताया तो वह निश्चय ही माँ के पास ही आया।

माँ—(मुस्कराकर नेपाल दादा को) यह तो कमलाकान्त के मुँह से कुछ निकला यद्यपि मैं ने सुना नहीं उसने क्या कहा। तुमलोगों की मौसी की मृत्यु के दिन भी वैसा हुआ था, उस दिन सोने का ख्याल बिल्कुल ही न था। तुमलोगों की दीदी माँ ने भी मौसी को देखा।

दीदीमाँ वहाँ उपस्थित थीं। उन्होंने कहा—"रायपुर में रात्रि के शेष भाग में बैठकर देखी कि तुमलोगों की माँ भी मेरे बगल में बैठी हैं। इसी समय वसुदेव, कृष्णजी और देवकी ये तीन मेरे, सम्मुख आकर खड़े हैं। उसी समय देखने में आया हम अर्थात्

(मौसी माँ) पीछे से अचानक आकर फिर चली गयीं। मैं ने ख्याल से उधर देखा नहीं। कृष्ण को देखकर मैं नें कहा - "यह कृष्ण तो है बहुत सुन्दर। मिलने पर पूजा की जा सकती।" तुम लोगों की माँ ने यह सुन कर कहा—"हाँ, मिलने पर पूजा तो की जा सकती है।" यह सुनकर मैं ने उधर देखा कि मूर्तियाँ सब चली गयी हैं। तुम लोगों की माँ भी चली गयी हैं। तब समझ में आया कि हैमी का भी अन्त हो गया है। यह तो सपना नहीं, रायपुर में बैठती हुई देखी थी।"

माघ २४, रविवार (ई० ६।२।४६)। कल माँ ने गोपीबाबू को खबर देने के लिये कहा था, अतः सुबह उनके घर जाकर खबर कह कर आया। करीब चार बजे वे माँ से साक्षात् करने आये। माँ ने गोपीबाबू को ऊपर जाने के लिये आदेश भेजा। साथ साथ हमलोग भी गये। कन्यापीठ के छत पर माँ के लिये एक छोटी कोठरी है उसी कमरे में बैठने का स्थान हुआ। हमलोग और गोपीबाबू उस कमरे में गये। खुकुनी दीदी ने मुझे उस कमरे में रहने की अनुमति दी और अन्य सभी को बाहर जाने को कहा। सब के चले जाने पर माँ ने मुझे कहा—"क्या तुम यहाँ रहोगे?" माँ के प्रश्न से समझा कि मैं भी वहाँ न रहूँ माँ ऐसा ही चाहती हैं, अतः मैं भी बाहर चला आया। दरवाजा बन्द कर दिया गया। माँ और गोपीबाबू ने प्रायः आधे घण्टे तक बातचीत की। इसके बाद गोपीबाबू भी चले गये। गोपीबाबू को रिकसे पर बैठाकर जब मैं आश्रम को लौट रहा था तो मेरी कन्या सती ने कहा—"माँ तुम्हें जल्दी नाव पर जाने के लिये कह रही हैं।" तुरन्त जाकर मैंने देखा कि एक बजरा किराये पर लिया गया, उस पर आश्रम की सरस्वती मूर्ति उठायी गयीं—माँ और अनेक भक्त बजरे के छत पर बैठे हैं। आज सरस्वती मूर्ति का विसर्जन होगा इसलिये यह आयोजन है। बजरा चलने लगा। दशाश्वमेध की ओर कुछ दूर जाकर लौट आये। सन्ध्या हो गयी। आश्रम के घाट पर आकर मूर्ति को गंगा में विसर्जित किया गया। इसके उपरांत हमलोग अपने घर पहुँचे।

भोजन के पश्चात् रात्रि ९ बजे आश्रम गये। माँ उस समय भी हाल घर में थीं। थोड़े देर बाद माँ ऊपर चली गयीं। मैं हाल में ही बैठे रहा। थोड़े समय के बाद मित्र मनोमोहन की कन्या ने मुझे आकर कहा—"माँ ने आपको उनके कमरे में प्रतीक्षा करने को कहा है, माँ भी शीघ्र वहाँ जा रही हैं।" मैंने वैसा ही किया। नेपालदादा (नारायण स्वामी) आदि कई सज्जन वहाँ गये। थोड़े समय बाद माँ आयीं। उन्होंने सबको बाहर जाने को कहा। सब के बाहर जाने पर माँ ने मुझसे कहा, तुम्हें पहले जो बातें बतलायी थीं आज गोपीबाबा को भी उन बातों को कहा। सोलन से लौटते समय बाबाजी जब रायपुर गये थे उसी समय मैंने देखा कि साधना के मार्ग में बाबाजी एक प्रकार की स्थिति आयेगी।

ये सब बातें और इनके अलावा और कुछ बातें भी बतलायीं, बाबाजी ने सब कुछ बड़े आग्रह के साथ सुना। बाबाजी को मैंने और भी कहा कि साधना के मार्ग में चलते समय ऐसा देखने को आता है कि हमलोग जैसे सोचते हैं वह ठीक वैसा नहीं होता है। हमलोग एक प्रकार धारणा करते हैं लेकिन सत्य वस्तु का प्रकाश होता है अन्य रूप में। बाबाजी ने इस बात को स्वीकार किया। बाबाजी का यह जो भाव है यह बहुत सुन्दर है। मैंने बाबाजी को कहा — जिन लोगों ने बाबाजी की पुस्तकें पढ़ीं उन्होंने कहा कि उसमें कहा गया कि 'यदि अखंड महायोग होय' अर्थात् यह योग होगा कि नहीं इस सम्बन्ध में सन्देहयुक्त कथन उसमें है। इसके उत्तर में बाबाजी ने कहा—'ऐसा लिखा है कि नहीं इस विषय में निश्चयता पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन यह अखंड महायोग अवश्य ही होगा इसमें उनका सुदृढ़ विश्वास है। क्योंकि नवमुण्डी आसन आदि की रचना इसी उद्देश्य से ही हुई है।'' सत्य के प्रकाश होने में किसी की भी आवश्यकता नहीं होती इस बात का बाबाजी से कहने में ख्याल नहीं हुआ। फिर योगायोग होने पर होगा। इस प्रकार कुछ समय तक बातचीत के बाद माँ ने दरवाजा खोलकर सबको आने को कहा। अनेक लोग आकर माँ के पास बैठे। अनेक प्रकार की बातों में ११ बज गया।

माघ २५, सोमवार (ई० ७।२।४९)। आज माँ काशी से दिल्ली जायेंगी। मेरी द्वितीया कन्या कान्ति भी उसी गाड़ी में दिल्ली जायगी। इसलिये सुबह से नाना प्रकार के कार्यों से व्यस्त रहा। केवल एकबार आश्रम जाकर माँ को प्रणाम कर आया। हमलोग प्रातः ९ बजे घर से रवाना हुए, १०-३० की गाड़ी से हमलोगों को मुगलसराय जाना होगा। माँ पहले ही वहाँ पहुँची थीं। गाड़ी ठीक समय पर आयी और हमलोग गाड़ी पर सवार होकर मुगलसराय पहुँचे। वहाँ जाकर सुना कि दिल्ली एक्सप्रेस के आने में दो घंटे विलम्ब हैं। माँ को प्लैटफार्म पर एक बेन्च पर बैठाया गया। माँ वहाँ बैठकर सबके साथ बातचीत करने लगीं। मैं जब माँ के पास गया और बैठा तो उस समय भी माँ ने गोपीबाबू की बातें उठायीं। माँ ने कहा—''यदि किसी विषय में निश्चित धारणा बन जाती है और उस विषय में किसी प्रकार सन्देह या द्वन्द्व उपस्थित नहीं होता है तो उसका प्रकाश बाध्य होकर होगा। लेकिन जिसका प्रकाश होने का नहीं वहाँ देखोगे सन्देह अवश्य ही उठेगा। बाबाजी भी 'अखंड योग' के सम्बन्ध में निर्द्वन्द्व नहीं हैं। बाबाजी से जब मैंने कहा, अच्छा, जिस प्रकार होगा, कह रहे हो, उस प्रकार न होकर अन्य प्रकार अन्य रूप में भी तो हो सकता है। बाबाजी ने तब कहा— हाँ, वैसा भी हो सकता है। इसी से समझा जाता है कि बाबाजी उस सम्बन्ध में द्वन्द्वहीन नहीं हैं।''

माँ ने केवल तत्त्व की बातें न कीं, अनेक वैषयिक विषयों में भी उनके ज्ञान की पूर्णता का परिचय उस समय मिला। काशी के आश्रम में बहुत से लोग वेरीवेरी में कष्ट पा रहे हैं। खुकुनी दीदी के पैर में सूजन दिखाई पड़ी। बेरीबेरी में भात न खाकर रोटी खाना अच्छा है माँ ने कहा। श्री भूपेन ने कहा कि रोटी उससे खायी नहीं जाती। इस बात पर माँ ने कहा इस देश के लोगों की तरह बंगाली लोग रोटी बनाना नहीं जानते। इस देश में लोग कैसे रोटी बनाते हैं माँ ने उसका विस्तृत वर्णन दिया। वेरीवेरी के मरीज के लिये रोटी के अलावा सब्जी, नींबू, टमाटर और आँवला आदि की व्यवस्था दी। इस प्रकार नाना प्रकार की बातों से दिल्ली की गाड़ी आ गयी। माँ को दूसरे दर्जे के डिब्बे में बिठाया गया। गाड़ी छूटने के पहले मैं माँ को प्रणाम कर कमरे के पास खड़ा रहा। खुकुनी दीदी ने एक अमरूद और संतरा मुझे प्रसादी के रूप में दिया। गाड़ी चल दी। माँ करुणा विगलित नयन से मेरी ओर ताक रही थीं। जब तक दिखाई पड़ीं उसी प्रकार ताकती रहीं। वहुत दफे विदाई के समय स्टेशन को गये लेकिन इस प्रकार ताकती हुई माँ को कभी देखा नहीं। माँ की इस करुणापूर्ण दृष्टि ने मुझे विचलित कर दिया। सोचा मेरा कोई भविष्य अशुभ देखकर ही माँ इस प्रकार ताक रही होंगी? माँ के चले जाने पर बस की खोज करने गया, क्योंकि ४–३० के पहले कोई गाड़ी थी नहीं। बस भी नहीं मिली। ४–३० की गाड़ी पकड़ी। गाड़ी पर सवार होकर ही पेट में व्यथा का अनुभव हो रहा था। काशी जब पहुँचा व्यथा जोर पर चल रही थी। तुरंत घर पहुँचा और तीव्र वेदना से जोरों से चिल्लाने लगा। इस असहनीय वेदना में भी माँ की करुणामयी आँखों को मानस चक्षुष से देखने लगा और सोचने लगा क्या इसीलिये माँ मेरी ओर दृष्टिपात कर रही थीं।

श्री श्री गिरिजी प्रसंग

स्वामी शिवानन्द गिरि

१९६३ ई० की फरवरी महीने की बात है। माँ जोधपुर में आयी हैं। माँ के इस आगमन का उपलक्ष्य है एक सत्-संग मन्दिर का उद्घाटन करना।

फरवरी ११, सोमवार रात्रि का मौन काल समाप्त हुआ है। माँ के कमरे में सन्ध्या समय सत्-प्रसंग चल रहा है। रात्रि के ९-३० बज गये हैं, अचानक माँ ने स्वामी चिन्मयानन्द जी से कहा—कनखल में तार से नारायण स्वामी को समाचार भेजो ताकि वे गिरिजी को अनुरोध से सूचित करें कि गिरिजी सावधानी से स्वस्थ शरीर में रहें।

श्री श्री माँ फरवरी १४ को दिल्ली के लिये प्रस्थान करने वाली हैं, उसके पहले ही गिरिजी कनखल से दिल्ली आ पहुँचेंगी। केवल दो दिनों के बाद ही जब माँ और गिरि महाराज से दिल्ली में साक्षात्कार होगा तो इस तार करने का क्या उद्देश्य था इसका तात्पर्य हम लोगों की समझ में नहीं आया। इस घटना का अलौकिक महत्त्व बाद में भिन्न भिन्न समय में माँ और गिरि महाराज की बातों से हमलोग की समझ में आया। इस घटना का अर्थ हमलोगों ने जैसे समझा उसका वर्णन यथासम्भव उसी प्रकार करने की चेष्टा करेंगे, इसमें किसी प्रकार भूल या त्रुटि हो तो इसके लिये माँ के चरणकमलों में तथा गिरि महाराज के चरणकमलों में बार बार क्षमा याचना करते हैं।

माँ के लिये गिरि महाराज के हृदय में जिस वात्सल्य और आनन्द का स्रोत बहता है, एकदिन रामचन्द्र को लेकर जननी कौशल्या ने और बालगोपाल को लेकर गोकुल में माता यशोदा ने भी उसी प्रकार आनन्द तथा सन्तान-वात्सल्य-रस का अनुभव किया था। शचीमाता भी एकदिन गौरांग-सुन्दर को लेकर इस आनन्द-समुद्र में मग्न थीं। आकाश जैसे अपने हृदय में सूरज को धारण करते हुए जगत् में अशेष कल्याण को वितरित करता है, वैसे वे लोग भी अपनी-अपनी साधन-शक्ति से भगवान् को केवल अपने गर्भ में धारण ही नहीं करतीं बल्कि अपनी पूर्वकृत तपस्या के फलस्वरूप भगवा_ के साथ एक शरीर, एक मन, एक प्राण होकर सबकी दृष्टि के बाहर विराट् जगत् का कल्याण साधन करती रहती हैं। मन्दाकिनी की स्निग्ध

निर्मलता क्या केवल कलोच्छ्वासमय एक आनन्द-धारा में ही पर्याप्त रहती है। क्या विशाल हिमालय ने अपने विस्तृत हृदय को मन्थन करते हुए इस त्रिभुवनतारिणी विगलित करुणा-राशि को नहीं बनाया है ? शुक्ति जिस प्रकार अपने हृदय रस से मोती का निर्माण करती हैं, ये सब भी अपने वात्सल्य-रस के अन्तराल में दीर्घकाल से संचित तपस्यालब्ध भावसमूह को तिल तिल से सौंपकर अपने प्राणों के प्राण, मनों का मन तथा अन्तरात्मा का भूषण रूप बाल भगवान् को गठित करती हैं। इन युगावतार अध्यात्म-महारथियों की मानवलीला का अनेक अंश उनकी जननी की प्रसन्नोज्ज्वल स्नेहपूर्ण सेवा में, अनिन्द्य सुन्दर भावसाधना के मध्य में गठित होता है। आकाङ्क्षा का धन, अन्तर की निधि श्री भगवान् का वास्तव परिचय जननी को अज्ञात नहीं रहता है, तो भी भगवत्-परिचय की अनुभूति से निज सन्तान के प्रति वात्सल्य रस के आनन्द में मग्न रहना जननी सम्भवतः अधिक चाहती है—इसीलिये वे अपने लाल को, अपने हृदय के धन को अपनी आत्मा का एकान्त स्वरूप मानकर वात्सल्य रस से हृदय को पूर्ण रखती हैं। जननी की इस प्रकार आकाङ्क्षा देखकर भगवान् भी उसी रूप में अपने को उपस्थित करते हैं। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" जननी के समीप आकर यदि भगवान् आत्मपरिचय प्रदान भी करता है तो भी जननी उन्हें सहायहीन शिशु रूप में अपनी गोद में लेकर ही आनन्द प्राप्त करती हैं।

फरवरी १४, १९६३। माँ सुबह दिल्ली आ पहुँची हैं। आश्रम में आकर माँ गिरि-महाराज के कमरे में गयीं। प्रायः १ घन्टा बाद बाहर आकर अपने ख्याल से कहने लगीं—"दो दिन के बाद जब भेंट होगी तो तार क्यों किया गया ? उन लोगों ने शायद सोचा होगा कि माँ को ख्याल नहीं कि दिल्ली में गिरिजी से भेंट होगी।" जाड़े के सुबह दिल्ली आश्रम के बरामदे में माँ के चारों ओर बैठकर सबका आनन्द हो रहा है। माँ ने कहा—"जोधपुर में उस दिन देखा कि गिरिजी आकर कह रही हैं 'कल चला जाऊँ'।' गिरिजी शरीर छोड़ना चाहती हैं। गिरिजी अपने भाव में तैय्यार हैं। माँ का न तो आह्वान है, न तो विसर्जन। अतः माँ ने कहा—'अच्छा' -इसी बीच में माँ की सेविकाओं में किसी को माँ से कुछ पूछकर चले जाने पर माँ ने गिरिजी से अपने ख्याल से कहा—"नहीं नहीं, कल जाओ मत" अर्थात् कल शरीर मत छोड़ो। फरवरी ११ को इसलिये कनखल में तार किया गया था।

हमलोगों के प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा—"तार क्यों किया गया, जानते हो ? पुस्तक से सन्न्यास मन्त्र प्राप्त होने पर भी जैसे सन्न्यास नहीं होता है, वह जैसे गुरुमुख से सुनना है मानों, इस शरीर का ख्याल हुआ, गिरिजी कानों से भी सुनें, नारायण से इस

शरीर ने कहा सावधानी से स्वस्थ शरीर से रहने के लिये, हृदय का तार तो पहले ही पहुँच चुका था।"

माँ का ख्याल था कि तार २४ घंटे के भीतर पहुँचे। जरूरी तार निर्धारित समय के पहले ही पहुँचा और उसका उत्तर भी समय पर जोधपुर में प्राप्त हुआ था। गिरिजी को माँ से विशेष कुछ बताते कभी नहीं देखा जाता है, हृदय से कुछ प्रार्थना करती हैं या नहीं हमलोगों को अज्ञात है। लेकिन माँ ने लक्ष्य किया एकबार एक निकट सम्बन्धी को गिरिजी प्रार्थना के बल पर मृत्यु से लौटा लायी थीं। मामुजी (श्री माखन भट्टाचार्य, माँ का भाई) की किसी समय की बीमारी केवल गिरिजी की प्रार्थना से ठीक हुई थी।

११ ता० प्रातःकाल जोधपुर में रहते समय माँ ने जब गिरिजी का 'कल चले जाऊँ' बात सुनी थी उसी समय माँ ने पुष्प को कहा—"गिरिजी के सम्बन्ध में कुछ देखा गया।" कुछ प्रश्न न होने से माँ भी इस विषय में पुष्प से कुछ नहीं बतायी थीं। १४ ता० को दिल्ली आश्रम के बरामदे में घूमती हुई माँ इन सब बातों को अपने ख्याल से कह रही थीं। बाद में माँ ने कहा—"समझते हो परमानन्द, गठरी बाँधकर यात्रा के लिये लोग जैसे तैय्यार होते हैं, गिरिजी भी उसी प्रकार। इस शरीर के पिताजी की सत्ता का आभास भी थोड़ा दिखाई पड़ा।" बाद में किसी के प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा—"क्या जानते नहीं, इस शरीर के पिताजी के बारे में अब कुछ कहना नहीं है, माँ के गार्हस्थ्य आश्रम में रहते समय लाल किनारेदार साड़ी पहनी हुई जो वधूवेश दिखाई पड़ा, इसलिये कहा गया. इस शरीर ने पिताजी की सत्ता का आभास देखा। इस शरीर की माँ का जो दर्शन उसे भी इस शरीर ने देखा था। माँ का जो दर्शन—वह था एक सुन्दर धर्ममय स्थान, दिव्य भाव के वातावरण से वह स्थान भरा था।"

एक दिन प्रातः १० बजे ऊपर के मंजिल में माँ के कमरे में गिरि महाराज बैठी थीं। माँ ने गिरि महाराज को दिखलाकर कहा—"भीतर भीतर अखंड सन्न्यास का जप है।" एक ध्यान-गम्भीर तन्मयता में गिरिजी बैठी हैं। मालूम हो रहा है कि वे मानों इस जगत् का कोई नहीं हैं।

मार्च २३, वृन्दावन। माँ के कमरे में गिरिजी के प्रसंग में आलोचना चल रही है—गिरिजी भी बैठी हैं। प्रसंग उठने पर गिरिजी ने मुस्कराकर कहा—"सुनो, कहती हूँ; मेरे पहनावे में एक लाल किनारेदार साड़ी थी वेश था पूर्वाश्रम का; हाथ में शंखवलय, तुमलोगों के दादाजी मुझे बुला रहे हैं। उन्हें कहा, अभी जाना होगा ?' नहीं-नहीं, देखूँ क्या किया जाय। अचानक ख्याल आया वृन्दावन में किसी बात में तुमलोगों की माँ ने कहा था, 'कहने

पर भी अगर मानते नहीं तो और यदि पक्का विचार उठता ही है किसी भी क्षण हँसते हुए कहीं चले जाने का, तो तुमलोग उन्हें नहीं रख सकोगे' इस बात का याद आया, और मन में विचार उठा, मैं तो सन्यासी हूँ, मैं तो निर्मला के पास ही हूँ।" गिरिजी का जैसे ही यह भाव आया तो साथ-साथ सब कुछ बदल गया। दादाजी की गति भी हमलोगों ने देखी। गिरिजी की ओर जो थोड़ा—वह भी इस प्रकार से त्याग हुआ।

श्री श्री १०८ मंगल गिरि महाराज गिरिजी के सन्यास गुरु हैं। वे अधिकारी छोड़कर किसी को सन्यास नहीं देते थे—विशेषकर औरतों को। गिरिजी से उन्होंने कहा—"महिलाओं को मैं सन्यास नहीं देता हूँ—लेकिन माता आनन्दमयी की तुम माँ हो, तुम्हें सन्यास का सब मैंने दिया।" गिरि महाराज के बारे में भिन्न-भिन्न लोगों की धारणा भिन्न-भिन्न है। बहुत से लोग उन्हें ठीक समझते नहीं। बहुतों की धारणा है आजकल गिरि महाराज की बातों को माँ खूब मानती हैं। भाव जिसका जैसा, उसका लाभ भी वैसा।

गिरिजी से इस घटना का विस्तृत विवरण प्रश्न करने के बाद हमलोगों को मालूम हुआ कि १० फरवरी रात २-३० बजे के समय गिरिजी के पहले शरीर छोड़ने की इच्छा का उदय हुआ। रातभर वे आसन में ही बैठी थीं। पहले पूर्व स्मृति का आभास, बाद में अनेक प्रकार के दर्शन हुए। रात्रि प्रभात हुई। थोड़े अधिक वेला में गिरिजी ने आसन छोड़ा। प्रायः ८ बजे विमला दीदी को साथ लेकर दक्ष प्रजापति के घाट पर वे नहाने गयीं। स्नान के उपरान्त दक्षमन्दिर में बैठकर बहुत देर तक जप चला। गिरिजी ने कहा—"दक्षमन्दिर में जप करते समय तुम सबको देख रही थीं। जप समापन के बाद विमला से पूछा—'वे लोग कहाँ गये ?' विमला ने कहा— 'क्या कहते हैं। उन लोगों में से कोई यहाँ नहीं आया है।"

भिखारियों को आटा और गुड़ देने के बाद गिरिजी आकर निताई दादा के तुलसी मंच के नीचे ध्यान में बैठीं। इस समय माँ भी जोधपुर से गिरिजी पर लक्ष्य कर रही थीं। माँ की बात है—"गिरि महाराज की आँखें खुलती ही नहीं, बहिरिन्द्रियाँ भी निष्क्रिय होने की ओर हैं—आँखें तो खुलनी चाहिए।" माँ ने देखा—दाहिनी आँख बहुत समय के बाद थोड़ा खुली। बाँयी आँख खुलती ही नहीं, कुछ समय के बाद वह भी धीरे-धीरे खुली। एक गम्भीर ध्यान में गिरिजी तल्लीन हैं। ध्यान के आवेश में फिर आँखें बन्द हो रही हैं—लेकिन चैतन्य स्पष्ट। माँ की इस बात को सुनकर गिरिजी ने कहा— 'हाँ-हाँ, उस दिन ठीक वैसा ही हुआ था।" कनखल में सभी लोग उस दिन गिरिजी को उस अवस्था में बैठी देखे थे। सब के कहने पर गिरिजी अपने कमरे में आकर अपने आसन पर बैठीं। इस समय जो-जो

अलौकिक दर्शन गिरिजी को हुए, वे साधारण के बोध के अगम्य होने पर भी हम लोगोंके कल्याण के लिए उनकी आलोचना होनी चाहिए ।

इसी समय गिरिजी ने एक नौका में भव-पारावार के काण्डारी का दर्शन किया । गिरिजी तथा काण्डारी एक ही नाव पर बैठे हैं । जोधपुर से माँ भी देख रही हैं कि गिरिजी के साथ माँ भी एक ही नाव पर हैं । गिरिजी ने काण्डारी से कहा – “मैं तो पार हो ही गयी, जो लोग तट पर खड़े अपेक्षा कर रहे हैं उनकी क्या गति करोगे । इन सबको छोड़कर मैं जाऊँगी नहीं ।” गिरि महाराज ने काण्डारी से पूछा—“इन सबको पार करोगे न ?” काण्डारी ने तीन बार “हाँ, पार करूँगा” कहा ।

उस समय गिरिजी की भावना इस प्रकार थी । इतने दिनों तक आश्रितों के लिए मंगल-कामना थी, आज की प्रार्थना—“भगवन् सबका मन तुम्हारी ओर हो । यह गर्भवास का कष्ट, मनुष्य जीवन के दुःख और भोग के प्रति उनका मन न जाय ।” यह भावना उठते ही फिर वह विग्रह — गिरिजी को साथ लेकर सीढ़ी से ऊपर उठते गये । पीछे एक कुत्ता है । धर्म कीं याद आते ही गिरिजी ने धर्मरूपी कुत्ते को देखा । गिरिजी ने उस विग्रह से पूछा—“तुम कौन मुझे साथ ले जा रहे हो । क्या तुम पुरुष या स्त्री हो ?” उसने कहा—“मैं न तो पुरुष, न स्त्री ।” विग्रह के पहनावे में सफेद वस्त्र, पीछे कृष्ण केश वस्त्र से ढँका था । गिरिजी ने विग्रह से कहा—“युधिष्ठिर को एक बार नरक दर्शन हुआ था, मेरे आश्रितों को नरक दर्शन कभी न हो ।” विग्रह ने कहा, “नहीं, नहीं, नहीं । तुम्हारे आश्रितों को नरक दर्शन नहीं होगा । जहाँ हरि नाम है वहाँ नरक का प्रश्न कहाँ ?”

फिर गिरिजी के दर्शन का परिवर्तन हुआ । गिरिजी ने देखा—अनन्त ज्योति का एक राज्य है । अचानक मन में एक प्रश्न उठा—आश्रित स्वजन जहाँ दिखाई पड़ते हैं—वह राज्य कहाँ है ? विग्रह ने एक ओर निर्देश कर कहा—“वे सब वहाँ अपने-अपने स्तर में हैं । अलग अलग स्तर में हैं इसलिए भेद है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कर्मानुसार स्थिति होती है ।” गिरिजी ने विग्रह से तीन बार कहा—“इन सबों का पतन कभी न हो ।” विग्रह में तीन बार ही स्वीकृत हुआ और उन्होंने कहा—“इन सबों का फिर पतन नहीं होगा ।” बाद में गिरिजी और विग्रह एक जगह—वहाँ दोनों ही केवल । उस जगह के वर्णन में गिरिजी ने कहा—“वहाँ से पृथ्वी कहो, जो भी कहो, सब दिखलाई पड़ते हैं ·· एक विलक्षण स्थान है । वहाँ न रात, न दिन, प्रकाश नहीं, न तो अन्धकार—एक शान्त शान्ति विराजमान है—वहाँ क्या है, क्या नहीं है कहा नहीं जा सकता ।” गिरि महाराज के श्रीमुख की भाषा—“कैसा—उसका वर्णन दिया नहीं ही जा सकता ।” गिरिजी की बात

हमलोगों की बुद्धि के गम्य नहीं है। कठोपनिषद् के ऋषि ने इसका वर्णन इसी रूप में दिया था—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ क० २।२।१५

उस महान् प्रकाश को सूर्य प्रकाशित नहीं करता है, चन्द्र, तारे या विद्युत से भी वे प्रकाशित नहीं होते—अग्नि की बात भी कहाँ। वे स्वयं प्रकाशमान हैं इसलिये सब कुछ प्रकाशित होते हैं। उस महान् प्रकाश का राज्य गिरिजी के ध्यान-नेत्र में क्या खुल गया था?

गिरिजी का यह था एक महाभाव का दिन। उनके श्रीमुख की वाणी थी—"सबकी मुक्ति बिना मुक्ति कहाँ? पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्षलता किसी को फिर जन्म-मृत्यु का ताप न भोगना पड़े।" यह भाव एक बुद्धदेव के जीवन में ही दिखाई पड़ा। निर्वाण के अन्तिम पादपीठ से जगत् के निर्वाण के लिये वे लौट आये थे।

संध्या समय तक गिरिजी अपने कमरे में आसन पर बैठी थीं। ये सब दर्शन उसी समय के थे। संध्या के थोड़े पहले निताई दादा के बेलवृक्ष के नीचे आयीं, बतासा लाया गया,-स्वयं ही लूट का कीर्तन गायीं। योगीभाई व स्वामी प्रकाशानन्द भी आ गये। गिरिजी ने सबको प्रसाद वितरित किया। गिरिजी के मन में यह भाव था कि नाम कीर्तन करते हुए शरीर को भी लुटा देंगी हरि की लूट जैसी—फिर उठेंगी नहीं। हृदय में शांत शान्ति, चित्त असीम गहन में, इन्द्रियाँ, मन प्राण आत्मा में लीन हैं। गिरिजी का शरीर शिव के समीप जमीन पर लेटा हुआ है। इस समय का वर्णन गिरिजी ने जो दिया इस प्रकार है—"इच्छामात्र से ही सब हो रहा है, कुछ कष्ट नहीं। देखा कि तुमलोगों की माँ आयी हैं, साथ में उदास है। समझा इसबार इस शरीर को रख देगी। पिछली रात को तुमलोगों की माँ की हज्म की गड़बड़ी थी, पेट में दर्द था, बहुत देर तक पेट में मालिश किया।" इस प्रसंग में गिरिजी से माँ ने कहा—'उस दिन रात को पेट में, सारे शरीर में दर्द था। पास आकर तुम कभी-कभी हाथ रखती हो, ऐसा ख्याल आया था।"

माँ को अचानक वहाँ उपस्थित देखकर माँ के शरीर के विषय में गिरिजी के मन में प्रश्न उठा। गिरिजी ने व्यस्त होकर माँ से पूछा—"कैसी हो अब? कहाँ से आ रही हो?"

माँ—आयी हूँ, तुमसे मिलने।

माँ के शरीर पर वस्त्र कम है। गिरिजी ने पूछा—"तुम्हें जाड़ा नहीं लगता ?"

माँ—"वे लोग इस प्रकार ही रखते हैं। देखो उस समय जल माँगी, किसी ने दिया नहीं।" जोधपुर में जल के लिये माँ के वार-बार कहने पर भी किसी ने सुना नहीं। बाद में माँ को जल दिया गया। उस दिन केवल जल से ही बहुत देर तक माँ को रहना पड़ा। दीदी माँ ने देखा माँ के पहनावे में लाल रंग की साड़ी थी। जोधपुर उस दिन वास्तव में किसी भक्त ने माँ को लाल साड़ी पहना कर पूजा की थी।

सूक्ष्म रूप में माँ को इस वेश में देखकर गिरिजी ने कहा—"मुझे रोकने के लिये आयी हो ?"

माँ—मेरी ओर ताकोगी नहीं ?

गिरिजी—यह तो ताकती हूँ।

माँ गिरिजी की ओर ताकती हुई हैं, देखीं गिरिजी की दोनों आँखें बन्द हैं, खुलतीं ही नहीं। पहले दाहिनी खुली। माँ ने गिरिजी की आँखों से अपनी आँखें हटायीं नहीं। माँ की दृष्टि के सामने गिरिजी अनेक समय तक इस प्रकार पड़ी रहीं। जाते समय माँ बोलकर गयीं—"सूक्ष्म में तुम्हारे हृदय के साथ सम्पर्क कर दिया गया ताकि जा न सको।" माँ ने गिरिजी के हाथ पर कुछ रखा। वहाँ उपस्थित लोगों ने देखा शिवजी के मस्तक का एक फूल गिरिजी के हाथ में आ गया। इसके बाद गिरिजी के शरीर में प्राण जैसे आ गया। इन्द्रियों में शक्ति आयी, हाथ हिल उठे। गिरि महाराज की इस प्रकार स्थिति कनखल में दो बार हुई एक तुलसी वृक्ष के नीचे, फिर वेलवृक्ष के नीचे। दोनों वार ही माँ ने देखा। उस दिन रात के संध्यावन्दन के बाद गिरिजी ने अल्पमात्रा में भोजन किया। रात्रि के विश्राम के समय भी उनके मन में शरीर-रक्षा की इच्छा उठी नहीं थी।

माँ का सीतापुर रहते समय (फरवरी २५, '६३) बातों बात माँ ने पानु दादा को गिरिजी के कुल में किसी किसी की इच्छा मृत्यु थी इसका विवरण अपने ख्याल से कहा था। गिरिजी के कई भाइयों ने मृत्यु के पहले सबसे छुट्टी लेकर, मृत्यु की बातें पहले ही कहकर प्राण छोड़ा। बाद में वृन्दावन में भी माँ ने अपने ख्याल से गिरिजी के बारे में बहुत कुछ कहा।

किसी ने पत्र से माँ से विश्वमुक्ति की कामना की। माँ ने उसे अपनी वाणी भेजी—"स्वयं मुक्त होने की चेष्टा, जिस आदर्श से सबको मुक्ति के मार्ग में चलने का आग्रह जागृत।" माँ ने उपस्थित सबसे कहा—"यह बात तुम सबके लिये है।" पूर्णमुक्ति की प्रार्थना से

गिरिजी के हृदय की प्रार्थना शायद माँ के ख्याल में आयी होगी। थोड़े घूमने फिरने के बाद माँ ने गिरिजी के साधन भजन के प्रसंग उठाया।

२७ फरवरी '६३। कनखल की घटना का उल्लेख करती हुई माँ कह रही हैं—"शाहबाग में रहते समय पहले भी गिरिजी को बहुत कुछ सुन्दर देखने में आये, तुलसी के नीचे प्रदीप देते समय दीदीमाँ की आँखों में पानी भर उठा। गिरिजी की हृदय-वेदना माँ के हृदय को स्पर्श करती थी। बाद में गिरिजी से साक्षात् होने पर माँ उल्लेख करती थीं—"अमुक दिन को तुम्हारा मन उदास हो गया था।' थोड़ा मुस्कराकर गिरिजी बोलती थीं—"अनेक दिनों से तुम्हारा कोई समाचार मिला न था, न ?'

२२ अप्रैल १९६३। माँ मोटर से हरिद्वार से देहरादून जा रही हैं—साथ है हेमि दीदी और दो सन्न्यासी। रास्ते भर गाड़ी में माँ गिरिजी के पूर्वाश्रम के साधन भजन, निष्ठा, सहनशीलता आदि की बातें कर रही थीं। तूफान से घर का छप्पर उड़ गया, दादाजी को कोई ख्याल नहीं—एकतारा (एक प्रकार का बाजा) बजा कर उसी घर में बैठकर उनका भजन गीत चल रहा है। चुपचाप बैठकर दीदीमाँ देख रही हैं—पति की अनासक्ति से उनके मन में कोई दुःख नहीं। मन में विश्वास था कि ईश्वर की इच्छा से सब हुए, हो रहे हैं और होगा। इस युग में ऐसी ईश्वर-निर्भरता दुर्लभ है। बाल्य काल में या गृहस्थ आश्रम में कभी किसी के साथ उनका कलह या वैमनस्य होता नहीं था। पड़ोस के लोग अपने अपने कलह या विरोध गिरिजी के माध्यम से ही निपटा लेते थे। घर की वधू के रूप में उनको अनेक प्रकार अन्याय सहन करना पड़ा, लेकिन इसलिये कदापि उनका मन अप्रसन्न नहीं होता था, माँ ने बताया—माँ को देखा परिवार के सब काम समाप्त करने के बाद दोपहर में अन्न की थाली लेकर भोजन करने बैठीं, उसी समय अतिथि आ गये। प्रसन्न चित्त से माँ ने थाली को अतिथि के सम्मुख रख दिया, और स्वयं अल्प कोई वस्तु मुँह में डाल कर पानी पीकर ही रह गयीं।" उस समय माँ थीं शिशु। गिरिजी का भोजन नहीं हुआ। माँ पूछती थीं "माँ, तुमने खाया नहीं। ?" गिरिजी थोड़ा मुस्कराकर कहती थीं—"खायी तो।" अतिथि को वे नारायण समझती थीं—अतिथि सेवा का आनन्द उनका परम प्रिय था और उसी से उनकी तृप्ति थी।

प्रसंगवश माँ ने यह भी कहा कि गिरिजी के हाथ से बना साग और भात बचपन में माँ अतीव परितोष से ग्रहण करती थीं। माँ ने अपनी पितामही के साधन भजन तथा निष्ठा का उल्लेख करती हुई अन्त में कहा—"ऐसा धार्मिक कुल के होते हुए भी उनको अपनी जमीन बेचकर कन्या के (अर्थात् माँ के) विवाह की व्यवस्था करनी पड़ी। बड़ी सहानुभूति

के साथ माँ ने इस छोटी घटना का उल्लेख किया। प्रकाशानन्द स्वामीजी ने कहा —"माँ स्वयं जिस गृह में आविर्भूत हुईं वहाँ भी इतना कष्ट।" मधुर स्मित हास्य के साथ माँ ने कहा—"कष्ट ही उनके घर में कष्ट पाया।"

अप्रैल २३, '६३। देहरादून में शिवमन्दिर के सामने अपराह्ण के सत्संग में माँ और गिरिजी दोनों ही उपस्थित हैं। भक्तों का आग्रह है कि कनखल का सारा विवरण सुनें और उनके साधन भजन के बारे में सब सुनें। गिरिजी के प्रसंग उठने पर माँ ने सविस्तार गिरिजी से सम्बन्धित कनखल की घटना और माँ के मातुलों ने कैसे पहले बताकर शरीर त्याग किया उसका वर्णन किया। दादाजी की सत्ता का आभास गिरिजी के भीतर से देखा और इसलिये माँ ने दिल्ली में ही परमानन्द स्वामीजी से कहा—महापुरुषों के लिये ही भागवत की कथा होती है। यह तो निष्काम कर्म है। इस शरीर के पिताजी के लिये किया जाय तो क्या समझते हो?" २८ जून से ५ जुलाई तक हरिद्वार में इस भागवत सप्ताह का अनुष्ठान हुआ था।

गिरिजी जिस प्रकार निर्विकार रह कर मौन रहती हैं उससे उनको सब लोग समझते नहीं। गिरिजी की एक बात है—'मैं तो पार पहुँच ही गयी' यह तो मुक्त पुरुष की बात है—वे सदा आत्मचिन्तन में मग्न हैं। वेदान्त ने इस स्थिति की तुलना एक महामत्स्य के साथ की। एक महामीन जैसे जल की धारा के सर्वत्र जा सकता है वैसे मुक्त पुरुष भी ज्ञान तथा अज्ञान उभय राज्यों में विचरण कर सकते हैं। गिरिजी की जैसे सब के लिये, आश्रित स्वजनों के लिये चिन्ता है फिर वैसे किसी के लिये कोई भी चिन्ता कुछ भी नहीं ही है। मुक्त पुरुष इच्छामृत्यु सम्पन्न हैं। योगिगण कल्प के अन्त तक भी जीवित रह सकते हैं ऐसा भी सुनने में आता है। *

---

* १९६३ नवम्बर संख्या में प्रकाशित बंगला का अनुवाद

श्री श्री माँ की अमरवाणी

(ब्रह्मचारी विरजानन्दजी से प्राप्त)

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराजजी कृत व्याख्या सहित

प्रश्न—तब भगवत् दर्शन का फल क्या है ?

माँ—जिस दर्शन में दर्शन अदर्शन का कोई प्रश्न नहीं उठता है ।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञानी का आत्मदर्शन, योगी का परमात्मा दर्शन, भक्तों का लीलादर्शन इनमें वास्तविक भगवत् दर्शन कौन सा है ?

माँ—जिस दर्शन में इनमें से कोई नहीं छूटता है । जहाँ दर्शन का फलाफल वह तो है ही । पहले जैसे स्वप्न में दर्शन होता है, बाद में जागृत अवस्था में दर्शन है, अन्त में जब प्रभु को प्राप्त हुआ तब अपने को मिला । उस समय प्रभु दास, पूर्ण अंश, एक ही आत्मा है—क्या छूट गया है ?

प्रश्न—जहाँ बातचीत होती है, क्या वहाँ भी एकत्व रहता है ?

माँ—लीला में बातचीत, वह तो है ही । यहाँ अपने साथ अपने का, लीला न होने पर आदान-प्रदान रहता है, प्राप्ति रहती है। यहाँ जानना न जानने आदि का प्रश्न चला नहीं गया । जिस प्रकाश में आदान-प्रदान का कोई प्रश्न नहीं—वह प्रकाश कहाँ है ?

प्रश्न – क्या यहाँ तब अज्ञान रह गया है ?

माँ—स्वप्न में बात हुई—यह एक ओर की बात है । 'वह मैं हूँ', यह स्थिति जब नहीं आती है—इसमें भी अज्ञान है, क्योंकि 'मैं' रह गया 'वह' भी रह गया है ।

एक है क्रम से प्रकाश—स्वप्न में बातचीत हुई, बाद में ध्यान में जप में बात हुई और चलते फिरते बात हुई । फिर क्रम से सभी तो एक ही है । लेकिन यह स्थिति एकबार आकर फिर चली जाती है । जब बुलाता हूँ तब मिलते हैं—बराबर नहीं रहते हैं । अभाव रह जाता है फिर मानों उनकी सत्ता में सर्वदा मग्न रहता हूँ । ऐसी स्थिति है—इसकी अनन्त दिशाएँ हैं, अनन्त प्रकाश हैं । इसमें जब तक स्थित रहता है तब तक अलग भाव है—आदान-प्रदान भी है । यहाँ अज्ञान रहेगा ही । लेकिन जब पुकारा गया और उनका प्रकाश हुआ—यह संसार की साधारण स्थिति नहीं है ।

व्याख्या

अखंड और खंड दर्शन

खंड साधक खंड भाव से दर्शन करता है लेकिन वास्तव में ब्रह्म परमात्मा और भगवान् जब स्वरूप दृष्टि से एक ही वस्तु है तो प्रकृत दर्शन वही है जिसमें कोई भी विशेषता छूट नहीं जाती। ब्रह्म निराकार, निर्गुण तथा निर्विशेष है लेकिन भगवत् सत्ता में सब गुण, सब आकार व सब विशेष आदि अनन्त गुण नित्य वर्तमान हैं। परमात्म भाव में भी उन गुणों की सत्ता आंशिक रूप में रहती है। अखंड दर्शन होने पर एक ओर जैसे उस निराकार निर्गुण स्वरूप का दर्शन होता है, दूसरी ओर वैसे सब गुण, सब आकार आदि अनन्त आकार भी उसमें भास सकते हैं! उसमें कुछ भी छूट नहीं जाता है, निर्गुण दर्शन होता है; फिर सगुण का भी दर्शन होता है। लीलामय रूप में दर्शन होता है, लीलातीत का भी दर्शन होता है---लेकिन सब दर्शन एक ही साथ होते हैं। खंड दृष्टि से देखने पर लीलामय और लीलातीत में विरोध अवश्य है, लेकिन अखंड दर्शन में खंड जगत् के कोई भी विरोध नहीं रहता। क्योंकि एक अखंड सत्ता ही एक ही समय सगुण, निर्गुण, सविशेष, निर्विशेष आदि अनन्त विरोधी गुणों के साथ दिखाई पड़ता है। जहाँ विरोध सा मालूम पड़ता है वहाँ वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि अखंड सत्ता में सब विरोध का समन्वय होता है। खंड दृष्टि से एक प्रकार के अनुभव के बाद कालान्तर में उससे विरोधी अनुभव होना सम्भव है, लेकिन अखंड में यह बात नहीं है। जिसे निराकार समझा जाता है उसे उसी समय साकार रूप में भी अनुभव किया जाता है। जिसे पिता के रूप में अनुभव होता है, उसे उसी समय पुत्र रूप में अनुभव होता है। माँ की बात का तात्पर्य यह है कि इस अखंड अनुभव में कोई भी वस्तु छूटती नहीं। अनन्त विरोधों का जहाँ समन्वय होता है वहाँ कोई भी विरोध नहीं रहता है। विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रहता है—यह खंड जगत् का नियम है, लेकिन अखंड इस प्रकार नहीं है। उसमें एक ही साथ ज्ञान, आनन्द, कर्म सभी अनुभव में आते हैं और किसी का भी अनुभव नहीं होता है। लौकिक विज्ञान के साथ अखंड विज्ञान के मेल करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि लौकिक सत्ता में विरोध का समन्वय नहीं होता है। अखंड में ऐसा प्रश्न नहीं उठता है। अखंड के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जायगा सब ठीक है, और कुछ भी ठीक नहीं है।

आवरण भंग

साधक अवस्था में मनुष्य को प्रकाश की प्राप्ति के लिये उसे कर्म करना पड़ता है। जब कर्म द्वारा आवरण भंग हो जाता है तब प्रकाश खुल जाता है। लेकिन जो स्वयं प्रकाश है उसके लिये कर्म भी अनावश्यक है। आवश्यकता है विशेष स्थान में यह भी सत्य है,

फिर आवश्यकता नहीं भी है विशेष स्थान में यह भी सत्य है। अर्थात् स्थान विशेष में आवरण का भंग होता है कर्म से, फिर विशेष स्थान में आवरण भंग के लिये कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। परमेश्वर स्वतंत्र है, अतः उन्हें परिच्छिन्न कौन कर सकता है। अथच भक्त के समीप परिच्छिन्न रूप में वे प्रकाशित होते हैं।

भक्ति का प्रकाश

जब भक्ति का आवरण कट जाता है तब भक्ति का प्रकाश आता है। इसलिये स्थान विशेष में कर्म भी आवरण है, ज्ञान भी आवरण होता है। फिर कर्मरूप आवरण कटने से ही भक्ति का उदय होगा ऐसी कोई बात नहीं है। ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमलोग जानते हैं कि सदाचार एक अच्छा गुण है, लेकिन सदाचार के न होने से ही मनुष्य सर्वथा त्याज्य है यह भी नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा—"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥" इसका तात्पर्य यह है कि अतीव दुराचारी होने पर भी वह साधु हो सकता है। इससे समझा जा सकता है कि सदाचार उत्तम गुण है, लेकिन वह साधुता का निर्णायक नहीं है। जो दुराचारी है लेकिन भगवान् में अनन्य भक्तिशाली है वह साधुपदवी प्राप्त होने योग्य है। भक्ति अनन्य होंने पर आचार के अभाव से भी उसे साधु कहा जा सकता है। लेकिन अनन्य-भक्ति के बिना केवल सदाचारशील होकर और साधु होकर भी वह भगवान् का दर्शन नहीं पाता है अथच दुराचार होकर भी पाता है—इसका रहस्य समझना आवश्यक है। केवल बाहर के आचरण से साधुता का निर्णय नहीं होता है।

साधारणतया अनावृत स्थिति में भगवत्-दर्शन होता है, आवरण रहते हुए दर्शन नहीं होता है। इसलिए कर्म द्वारा आवरण का नाश करना पड़ता है। लेकिन यह अन्तिम बात नहीं है। आवरण होते हुए भी आवरण का भेदन कर दर्शन हो सकता है। जो स्वतंत्र हैं अगर उनकी इच्छा हो तो आवरण को ऐसी शक्ति नहीं है कि उन्हें ढक सकता है। उन्हें दर्शन की जो शक्ति है आवरण के रहने पर भी वह रह सकती है। उनकी स्वतंत्रता के ऊपर किसी का हाथ नहीं है। असली बात यह है कि उन्हें प्रेम करना होगा। वास्तविक भगवदनुराग या उनके प्रति प्रेम हो तो भक्त में जितने भी दोष क्यों न हों, भगवान् उनके सब दोषों का खंडन कर उसे दर्शन दे सकते हैं। वास्तविक अनुराग होने से वे स्वयम् ही कोटि कल्पों के कर्म भक्त द्वारा एक क्षण में करा लेते हैं और उसे अन्त रंग कर लेते हैं।

प्रश्न—जब भगवान् शरीर धारण करते हुए अवतीर्ण होते हैं—लीला करते हैं—क्या यह भगवद्दर्शन में गणनीय नहीं है?

माँ—यहाँ लीला करने के लिये यह तो अलग ही रहता है । इस विषय में शास्त्र क्या कहता है—तुम लोग पढ़ते हो—बोलो तो ।

प्रश्न—कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद गोपीगणों ने कृष्ण जी से पूछा—तुमने वृन्दावन में जो प्रेम की लीला की, लेकिन तुमको हमलोगों ने कहाँ पाया । कैसे तुमको प्राप्त कर सकूंगी ? तब भगवान् ने कहा—मैं सर्वभूतों की आत्मा हूँ, इस भाव से मुझे पा सकोगी ।

माँ—देखो श्रीकृष्ण दर्शन का फल प्राप्त हुआ—भगवान् ने कहा ऐसे करने पर मुझे पा सकोगी । मार्ग भी दिखलाया । इससे समझ सकते हो कि मिलना बाकी रहा ।

लेकिन बात यह है कि संसार के यातायात की यह जो भक्ति है यह है मार्ग की भक्ति । जहाँ पराभक्ति की बात है वहाँ बार बार भक्ति की बात नहीं उठती । दर्शन का जो फल है वह तो है ही, लेकिन वहाँ 'जो' है 'सो' है ऐसा तो नहीं ।

प्रश्न क्या स्थिति नहीं है ?

माँ—इस दर्शन से आवरण कट जाता है, तब उसकी स्थिति आ गयी है—ऐसा कह सकते हो । उनका प्रकाश तो है ही, दर्शन के परिणाम से आवरण हट गया । लेकिन तुम्हारे कर्मों से उनका प्रकाश हुआ ऐसा कह नहीं सकते हो । ऐसा मानने पर वे क्रिया के अधीन होते हैं । आवरण के नाश के लिये ही कर्म की आवश्यकता है ।

प्रश्न—भक्तिशास्त्रों में आवरण की बात नहीं है—भक्ति ही परिणाम है ।

माँ—भक्ति श्रद्धा का अर्थ है—भक्त और भगवान् एक है, अलग नहीं । फिर अलग न होकर भी अलग है । फिर प्रभु दास, पूर्ण अंश एक ही आत्मा की बात है न—महावीर ने जो कहा है । श्रद्धा भक्ति के प्रकाश में जो बाधा है उसके कट जाने पर ही भक्ति का प्रकाश होता है । तुमलोग ज्ञान के आवरण की बातें करते हो और यह भक्ति की बाधा—भाषा में जैसे ही कहते हो ।

स्थिति—'जो' 'सो' है । इसमें जाने के लिये श्रद्धा भक्ति आदि है वह रास्ते में चलने के लिये है । जहाँ शुद्ध ज्ञान—ज्ञान स्वरूप, और यहाँ भक्ति स्वरूप । शुद्ध ज्ञान में प्रेम भक्ति की बातें नहीं हैं । महावीर ने जो कहा—वे पूर्ण और मैं अंश हूँ, वे प्रभु मैं दास हूँ, फिर एक ही आत्मा है—तीनों स्थितियाँ हैं, लेकिन मुख्य भक्त है दास ।

भगवत् दर्शन से ज्ञात हुआ कि किस उपाय से श्रीकृष्णतत्त्व प्राप्त होगा । यह कह सकते हो कि दर्शन के परिणाम से आवरण नष्ट हुआ—फलस्वरूप आवरण नाश । लेकिन वे तो हैं ही । जब आवरण कटता है तो यहाँ आवरण के भीतर रहकर ही न । ज्ञान में दर्शन कहाँ है ? हाँ आत्म दर्शन अवश्य है ।

प्रश्न—भगवत्-दर्शन का फल तो अविलम्ब होगा, आवरण नाश की क्या अपेक्षा है ? आग में जो कुछ पड़ेगा भस्मीभूत होगा ।

माँ—भगवान् का राज्य अनन्त है, वे कैसे किसको अपनी गोद में उठा लेंगे कहा नहीं जा सकता है। गोपीगणों में जो जो रास लीला में जा नहीं पायीं, उन्होंने घर में रह कर ही कृष्ण में लीन चित्त होकर शरीर छोड़कर उसी क्षण वैकुण्ठ के लिये प्रस्थान किया—तुम लोग कहते हो ।

कोई दर्शन क्रिया का अधीन है—आवरण के नाश के लिये कोई उसी क्षण हो जाता है । उनका प्रकाश होगा इसलिए आवरण नष्ट होने की बात है ।

प्रश्न—भूदेव बाबू ने तुम से कहा—तुम्हें दर्शन स्पर्श से हमलोगों की मुक्ति नहीं होगी ? तुमने कहा था दर्शन स्पर्श होने से होता है लेकिन वह दर्शन स्पर्श कहाँ होता है ?

माँ—जिस दर्शन से आवरण नष्ट होता है, वही दर्शन है । इसी दर्शन से मेरी मुक्ति होगी फिर किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं रहेगी—इस प्रकाश के लिये ही सब क्रिया है । मैं उसी को लेकर रहूँगा, जो भी हो देवता के द्वार पर पड़ा रहूँगा —यह चित्त शुद्धि का मार्ग है । श्रीकृष्ण जी ने गोपियों से कहा—मुझे प्राप्त करने के लिये यह करना होगा । देखो, पहले दर्शन, बाद में क्रिया और अन्त में 'जो' 'सो'—स्वरूप प्रकाश का । तुम जहाँ से पूछ रहे हो वह है यह ।

हिमाचल के अंचल में

(३)

कुमारी गीता बनर्जी

आषाढ़ ५, बुधवार को हमने तड़के ही उठकर कीर्तनादि समाप्त कर लिया। बहुत अधिक सर्दी थी। अतः सब लोग यही विचार कर रहे थे कि गंगाजी स्नान करें या न करें। विशेषतः इस समय जबकि सूर्यदेवता प्राची दिशा में अ नी रक्तिम छटा फैलाते हुए उदयाचल में आरूढ़ नहीं हुए थे। अन्त में हम छः यात्रियों में तीन ने तो निश्चय कर लिया कि स्नान करेंगे, और तीन नेतिसूचक दल में रहे। मैं द्वितीय दल में ही थी। हम सब पण्डेजी के साथ भक्ति गद्गद भाव से मन्दिर पहुँचे। हमारे तीन साथी स्नान कर आये। वे कह रहे थे कि पहले गंगाजी में प्रवेश करते समय उस हिमशीतल जल में कुछ कष्ट हुआ पर गंगामाता के सलिल में अवगाहन कर हमारा शरीर तथा मन प्रसन्न हो गया है। मैंने मन ही मन विचार किया कि यह तो गंगाजी का स्वाभाविक गुण ही है। पण्डेजी ने पहले हमसे गंगाजी की धारा में पूजा करवाई। हमने "देवि सुरेश्वरि भगवति गङ्गे" इस स्तव का पाठ किया। भागीरथी के तटपर भगीरथ जी का एक छोटा सा मन्दिर है। हम सब वहाँ जाकर मन्दिर दर्शन कर आये। मन्दिर में एक शिवलिंग तथा भगीरथ-लिंग है। अनन्तर हमने गंगा-मन्दिर में प्रवेश किया। सभी-लोग एक अनिर्वचनीय आनन्द में मग्न थे। मन्दिर बड़ा भव्य है। मुख्य मन्दिर में जहाँ गंगाजी की मूर्ति है, प्रवेश की विधि नहीं है। अतः हम द्वार पर बैठ गये। वहाँ विष्णुपाद स्थापित है। यात्री लोग वहीं पूजा करते हैं, हमलोगों ने पूजा-आरती कर ली। हमने गंगा स्तोत्र का पाठ किया। पंडेजी ने प्रसाद तथा भूर्जपत्र दिया। अन्त में पंडेजी एक चबूतरे के ऊपर बैठ गये और कहने लगे "आपलोग सब सावधान होकर सुनें" कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम सब उनसे कोई आध्यात्मिक उपदेश सुनने की प्रतीक्षा में थे। इतने में वे कह बैठे कि "या तो कन्या का विवाह या पुत्र की नौकरी, या एक पण्डा निवास अवश्य बनवा दीजिये।" इन बातों को वे इतना शीघ्र कह गये कि पहले तो मैंने समझा कि ये कुछ स्वस्तिवाचक मन्त्र ही पढ़ रहे हैं, पर जब उनकी बात मुझे ज्ञात हुई तब मैं हसूँ या रोऊँ कुछ समझ में नहीं आया। अगर हम स्वीकृति दें और पालन न करें तो भी पाप, अगर अस्वीकृति दें तो भी पाप। अतः हम स्थितप्रज्ञावस्था में ही मन्दिर से चले।

मन्दिर से चलते ही द्वार पर हमें एक पहाड़ी सज्जन मिले वे शायद यात्रियों को गंगोत्री का जल वेच रहे थे। उन्होंने हमसे कहा—"मेरी आँखें खराब हो गई हैं। आप अवश्य

ही मेरे लिये काशी से चश्मे भेज दीजियेगा।" यह सुनकर हमें हँसी आ गई। मैंने उनसे तुरन्त कहा कि "महाशय! आप पहले अपनी आँखों की जाँच करा कर बनारस में रिपोर्ट भेज दीजिये तब हम भी वहाँ से चश्में गंगोत्री भेज देंगे।" हमने गंगोत्री तथा यमुनोत्री का जल साथ ले लिया। आते समय प्रसिद्ध महात्मा मोदी के गुरु श्री श्री १०८ श्रीकृष्णाश्रम जी का दर्शन करने गये। सुना कि आप की आयु सौ से ऊपर है। अस्सी साल से आप गंगोत्री में हैं। इतनी सर्दी होने पर भी आप दिगम्बर हैं। सदा मौन रहते हैं, आपके मुखमण्डल में एक नैसर्गिक आनन्द का भाव है। आपके करकमलों के द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालयस्थ विश्वनाथ मन्दिर की नींव डाली गई थी। आपके दर्शन से सहज ही में हमारे स्मृतिपट पर यह बात याद आ गई कि "तिर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि" महात्माओं की उपस्थिति से तीर्थस्थान भी धन्य हो जाता है। हम बंगले में पहुँच कर जलपानादि कर चल पड़े। यहाँ १४ मील दूर पर गोमुख है। पर बरफ के कारण वहाँ जाना हमारे लिये अब असम्भव था। मैंने गंगाजी के मन्दिर तथा महाराज भगीरथ को प्रणाम किया। हम धीरे-धीरे चल रहे थे। हम डेढ़ बजे के करीब भैरवघाटी पहुँचे। वहाँ भैरवजी का दर्शन कर भोजनादि कर हम पुनः चल पड़े। अब लंका तक केवल उतराई थी। हम धीरे धीरे उतरने लगे। यहाँ एक पुल पार करते समय हमें सूर्य-किरण-प्रतिफलित गंगाजी की लहरों में सप्तवर्णरंजित इन्द्रधनुष दिखाई पड़े। कैसा नयनाभिराम दृश्य था। हम वहाँ रुक कर आँखें भरकर उसे देखने लगे। देखते देखते रुचि बढ़ती गई, क्योंकि ऐसा लग रहा था कि शायद मैं जिसे देख रही हूँ जीवन में फिर उसे देख नहीं पाऊँगी, इसलिये मन में उसका चित्र खींच लेने की लालसा हुई। लगभग ढाई बजे हम लंका पहुँचे। हमारी जीप खड़ी थी। कुलियों ने ट्रेलर में सामान लाद दिया। तदनन्तर वे पारितोषिक लेकर चले गये। हम भी जीप में बैठे। इतने में "गुड़ुम्" "गुड़ुम्" एक जोर की आवाज हुई। मानों चीनियों ने भारत पर अचानक आक्रमण कर दिया हो। हमारी जीप कुछ आगे बढ़ी। ज्ञात हुआ कि ऊपर डाइनामाइट से पहाड़ तोड़ा जा रहा है। अतः पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें नीचे गिर पड़ी हैं। आगे का मार्ग बन्द है। रास्ता टूटने की भी सम्भावना थी। हम सब जीप से उतर पड़े। वहाँ जाकर देखा कि मार्ग पूर्णतया बन्द है। चार पांच मजदूर काम कर रहे हैं। एक आदमी कुछ ऊपर चढ़ कर हिले हुए पत्थरों को नीचे गिरा रहा था। आज रात तक, रास्ता साफ होने की कोई सम्भावना नहीं है। अगर कोई मिलिटरी अफसर विशेष कार्य पर आ जाय तो Gang लग जाने से आज रात तक रास्ता खुल जा सकता है, पर यह भी अनिश्चित था। हमें गंगामाता ने अपना चमत्कार दिखा दिया, आते समय भी अन्तराय, और जाते समय भी वही स्थिति। कहने की आवश्यकता नहीं है कि गंगाजी

के प्रति हमारी भक्ति दसगुना बढ़ गई। इतने में दो तीन बूँदें भी टपकना शुरू हो गईं। हममें से किसी किसी ने तो यह भी निश्चय कर लिया कि हम आज जीप में ही रात्रि व्यतीत करेंगे। कारण पास में कोई मकान या चट्टी कुछ भी नहीं थी। एकमात्र उपाय था वापस लंका लौटना। वह भी इस दुर्गम संकीर्ण मार्ग में ट्रेलर के साथ जीप मोड़ने में भी कठिनाई थी। अन्त में ट्रेलर को अलग कर जीप को किसी तरह से मोड़ कर हम पुनः लंका पहुँचे। वर्षा जोर से शुरू हो गई। अब कहाँ ठहरा जाय। सामने कई मिलिटरी तम्बू लगे हुए थे। वह भी सब रिजर्व थे। अन्त में हमें एक छोलदारी मिल गई। वहीं हम सब ठहर गये। आज शायद यहीं रात्रिवास करना है। अगर खूब जोर से वर्षा हुई तो हम भींग भी सकते हैं और रात को चीते के पेट में भी जा सकते हैं। अब सबको रात्रि के भोजन की चिन्ता हो रही थी। क्षणभर में वर्षा रुक गई। कहीं जल नहीं था। पत्थर गिरने से जल की नली भी टूट चुकी थी। हमने दो रुपये से दो बाल्टी पानी मंगवा लिया। हमारे चालक महाराज वहीं मार्ग में बैठे थे। छः बज चुका था। अब फिर एकबार डाइनामाइट की जोर की आवाज हुई। हमने तो सोचा कहीं हमारे सिर पर ही पत्थर न गिरा दें। पर ज्ञात हुआ कि उन गिरे हुए पत्थरों को ही तोड़ा जा रहा है। शायद कोई मिलिटरी अफसर आ गये होंगे। सन्ध्या सात बजे मार्ग खुल जायेगा। यह भी श्री श्री माँ की ही कृपा थी। अन्त में हम फिर जीप में बैठे। दो रुपये का जल वहीं पड़ा रह गया। हमारे साथियों में किसी ने कहा कि यात्रा के समय जल-दर्शन शुभ है। क्षणभर में हम घटनास्थल पर पहुँचे। दुर्गम संकीर्ण मार्ग। चारों ओर अन्धकार व्याप्त था, मेघाच्छन्न आकाश था। इधर पत्थर गिरने से रास्ता भी कुछ टूट गया था। अतः इस रास्ते से गाड़ी जाना बड़ा खतरनाक था। हम सब जीप से उतर पड़े। ड्राइवर साहब ने बड़ा साहस दिखाया। उन्होंने जल्दी से गाड़ी को पार करा दिया। फिर हम सब जीप में बैठ गये। इस दुर्गम मार्ग में रात्रि में चलना बड़ा विपज्जनक था। आज रात्रि में ही हमें उत्तरकाशी पहुँचना था। गंगामाता की तरह इन्द्रदेव की तो अप्रसन्नता का कोई कारण दिखाई नहीं दिया। शायद देवराज इन्द्र की गंगाजी कोई निकट आत्मीया होंगी। उन्हें रुष्ट देखकर वे भी हमपर रुष्ट हो गये थे। अमरावती से फोन में कुछ पूछताछ की जा सकती है। पर बड़े खेद की बात है कि इस निर्जन स्थान में फोन देवता के शरण में जाने में भी कुछ कठिनाई थी। अवश्य ही आज शाम को इन्द्रदेव ने देवसभा सुधर्मा में अमात्यों की भारी बैठक बुलाई होगी। जिसमें उन्होंने यही निश्चय किया है कि “आज तो हमें गंगाजी के सम्मानार्थ इन यात्रियों को अपना भी कुछ चमत्कार दिखाना चाहिये।” अतः उन्होंने अपने कर्मचारियों को खूब जल बरसाने की आज्ञा दे दी। अवश्य ही ये देवता हमसे कुछ उच्चपदस्थ हैं ही

अतः इनकी सारी करतूत को हमें मूक होकर सहना पड़ता है। क्रमशः वर्षा बढ़ती ही जा रही थी। दाईं ओर अभ्रभेदी पर्वतमालायें विपुलकाय-दैत्यों की तरह प्रतीत हो रही थीं। बाईं ओर अथाह गंभीर खाई। जिसे सोचने से भी हृदय काँपने लगता है। इस संकीर्ण मार्ग में पहाड़ भी अधिक फिसलनदार है। ऐसे दुर्योग की रात्रि में कभी भी दुर्घटना की सम्भावना है। यहाँ रात को सरकारी गाड़ी के अतिरिक्त अन्य गाड़ी चलाना निषेध है। अतः स्थान स्थान पर गेट निरीक्षक फाटक बन्द कर सो गये थे, वर्षा में उन्हें ढूँढ कर, जगा कर तथा पुनः फाटक खुलवा कर हमें आगे बढ़ना पड़ रहा था। हमारी गाड़ी घुमावदार पार्वत्य रास्ते से क्रमशः नीचे उतर रही थी। इतने में हमारी जीप के सामने एक चीता महाशय हमें दर्शन देने के लिये आये। वे हमारी जीप से डेढ़ गज दूर पर थे। हमारी जीप की हेड्लाईट्स जला दी गई। उन्हें क्या पता था कि उनसे भी बड़ा कोई पशुमहाराज उनके सामने उपस्थित हो सकता है। वे बिजली देखकर ही छलांग मारकर पहाड़ के ऊपर चले गये। अन्त में किसी तरह हम रात को साढ़े ग्यारह बजे उत्तरकाशी पहुँचे। आश्रम के सामने आकर हमारे इस तैलयान का तैल भी समाप्त हो गया। पर हम किसी तरह से आश्रम पहुँच ही गये। हम गंगोत्री से सीधे उत्तरकाशी पहुँचे। अवश्य ही हमारा आज का अभियान दुस्साहसिक था। फिर भी श्री श्री माँ की कृपा से हम निर्विघ्न रूप से पहुँच ही गये। लगभग साढ़े १२ बजे हम भोजनादि कर शय्या पर चले गये। सभी को परम सन्तोष था, इसलिये कि इतने बाधाविघ्न उपस्थित होते हुए भी हमारी गंगोत्री-यात्रा पूरी हो गई। सबसे खुशी की बात तो यह थी कि कल प्रातःकाल बिस्तरा नहीं बाँधने थे। रोज रोज बिस्तरा बांधते-बांधते सब थक गये थे। कल विश्राम है।

आषाढ़ छः, बृहस्पतिवार। आज कल की उस कराल विभीषिकामय रात्रि में अपनी यात्रा के स्मरण से भी हृद्कम्प हो रहा था। ज्ञात हुआ कि गेट विरुद्ध फाटक से आने के लिये हमारे पास विशेष आज्ञापत्र भी नहीं था। उस दिन शाम को हम स्थानीय दर्शनीय स्थानों का परिदर्शन करने गये। यहाँ सबसे सुन्दर स्थान उजील है। यहाँ साधु महात्माओं का निवास है। भागीरथी के तट पर यह स्थान बड़ा रमणीय है। साधन भजन के लिये यह उपयुक्त स्थान है। हम यहाँ स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्दजी द्वारा प्रतिष्ठित जयेन्द्र आश्रम देखने गये। यह आश्रम बड़े रमणीय स्थान में है। सामने कुछ शान्त तथा मन्दगति से बहती हुई गंगामाता, उस पार दिगन्त से मिलती हुई अभ्रभेदी पर्वतमालायें, ऊपर स्वच्छ नीलाकाश। मानों प्रकृति देवी भी इन साधुओं की सेवा के लिये अपने अनुपम सौन्दर्य को लेकर उपस्थित हुई हैं। अनन्तर स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्दजी द्वारा स्थापित आश्रम-संलग्न "विश्वनाथ संस्कृत

महाविद्यालय'' का परिदर्शन किया। यह विद्यालय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है। ज्ञात हुआ कि गतवर्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गौरीनाथशास्त्री यहाँ पधारे थे।

आषाढ़ ७, शुक्रवार को प्रातः ६ बजे हम केदारनाथजी के लिये रवाना हुए। ''जय बाबा केदारनाथजी की'' इस जयध्वनि के साथ हमारी जीप चल पड़ी। ९ बजे हम टेहरी पहुँचे। हमारी जीप कुछ बिगड़ी हुई थी। अतः हम पहले मोटर-कारखाने पहुँचे। इंजीनीयर साहब ने हमारी जीप की दुरवस्था देख कर हमसे कहा कि ''अगर आप इसे पूर्णरूप से ठीक करवाना चाहते हैं तो तीन चार घन्टे लग जायेंगे।'' अतः उन्होंने हमें अपनी कार से राजमाता टेहरी द्वारा स्थापित स्थानीय कॉलेज में पहुँचा दिया। यह कॉलेज बड़े रमणीय स्थान में है। यहाँ की एक अध्यापिका हमसे मिलीं। वे हमें सभी स्थानों को दिखा रही थीं। कॉलेज बड़ी सुनिपुण योजना के द्वारा बनाया गया है। यहाँ की सुव्यवस्था देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। हमने भोजन कर लिया। अन्त में, शाम को करीब साढ़े चार बजे, इंजीनीयर साहब ने स्वयं आकर हमें सूचना दी कि जीप ठीक हो गई। गाड़ी आ गई। हम सब जीप में बैठ गये। लगभग ५ बजे हम श्रीनगर पहुँचे। श्रीनगर का दृश्य बड़ा मनोरम है। छः बजे हम रुद्रप्रयाग पहुँचे। उस दिन हमारा वहीं ठहरने का विचार था। यहाँ हमारी एक साथी की हाथ-घड़ी गायब हो गई, बिजली नहीं थी। अतः हम टार्च जला कर ही सभी जगह ढूँढने लगे। पर वह कहीं भी नहीं मिली। चीज थी बड़ी मूल्यवान। अतः रात को सभी उनकी घड़ी के लिये चिन्तित थे।

आषाढ़ ८, शनिवार को हम अति प्रत्यूष में ही उठ कर सन्ध्यावन्दनादि समाप्त कर लिये। अभी हमारा घटिका-अन्वेषण-पर्व समाप्त नहीं हुआ था कि सभी चिन्तित मुद्रा में जीप में बैठे। हमारे साथ करीब ३५ बसें चल रही थीं। हमारे सामने की दो बसें महाराष्ट्रियों तथा मद्रासियों से भरी हुई थीं। वे स्थान स्थान में उतर कर रास्ते के किनारे में ही बैठकर भोजन करते हुए चल रहे थे। कहीं कहीं झरने आने पर कई बाबाजी बस से उतर कर बड़े मस्त होकर स्नान कर रहे थे। आज आठ बजे हम अगस्त्य मुनि पहुँचे। यहाँ अन्य यात्रियों के साथ हम भी स्थानीय मन्दिर दर्शन कर आये। यहाँ एक उल्लेखनीय घटना घटी, वह यह कि जैसे ही हमारी घड़ीवाली साथी ने मन्दिर में पैसे चढ़ाने के लिये अपनी बटुआ खोली वैसे ही उन्हें, अपनी उज्ज्वल किरणों से बटुआ में स्थित अन्यान्य वस्तुओं को भी चमकाते हुए घड़ी महाराज दृष्टिगोचर हुए। यह देखकर सभी आश्चर्य में पड़ गये। एक साथी ने उनसे कहा कि ''या तो आप ही कुछ जादू टोना जानती हैं, या यह अगस्त्य

महाराज की ही करतूत है। कारण हमलोगों ने तो कल रात से आज प्रातःकाल तक कम से कम ५।६ बार, आपकी बटुआ ढूँढ डाली थी पर हमें तो कहीं भी आपकी घड़ी दृष्टिगोचर नहीं हुई।" यह सुन कर वे हँसती रहीं। पर कुछ भी हो उनकी घड़ी मिल जाने से सभी निश्चिन्त हो गये। लगभग १२ बजे हम फाटा पहुँचे। यहाँ बसें रुक जाती हैं। जीप या मोटर विशेष आज्ञापत्र लेकर आगे सीतापुर तक जा सकती हैं। हमें ज्ञात हुआ कि परसों यू० पी० के चीफ इंजीनीयर केदारनाथ जी पधारे हैं। अतः यहाँ के सब अफसर उनके साथ चले गये हैं। अब हमें आज्ञापत्र प्राप्त करने की कोई आशा नहीं थी। अतः हमें फाटा से ही पैदल चलना पड़ा, धूप चढ़ी हुई थी। यहाँ से सीतापुर छः मील है जहाँ हम जीप से जा सकते थे। आज हमारी 'त्रियुगी नारायण' जाने की बात थी, वह स्थगित कर दी गई। हम पगडण्डी से चलने लगे। हमारे दोनों ओर हिमाद्रि के उन्नत शिखर दण्डायमान थे। मुझे एकबार इच्छा हुई कि ये गिरिराज की उन्नतश्रेणियाँ युग युग से आकाश के साथ किस रहस्यालाप में तत्पर हैं वह हमें भी कुछ सुना दें। हिमालय के इस विराट रूप को देखकर हम स्तम्भित रह गये। शायद इसी महत्त्व के कारण ही पुराकाल में ब्रह्माजी ने हिमाद्रि को शैलाधिपतित्व प्रदान किया था। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार—

"शैलानां हिमवन्तञ्च नदीनाञ्चैव सागरम् ।
गन्धर्वाणामधिपतिञ्चक्रे चित्ररथं विधिः ।।"

हम धीरे धीरे रामपुर होते हुए सीतापुर पहुँचे। यहाँ हमने भोजन किया। यहाँ का रास्ता कुछ चौड़ा है। यहाँ यमुनोत्री की तरह खड़ी चढ़ाई नहीं है। हम धीरे धीरे सोनप्रयाग पहुँचे। यहाँ का दृश्य अति रमणीय है। यहाँ मन्दाकिनी और सोनगंगा परस्पर मिलती हैं। नवजलदरूपिणी मन्दकिनी एक ओर से शान्त भाव से प्रवाहित हो रही थी तथा दूसरी ओर से हिमाद्रि के उत्तुङ्ग शिखर से निकलती हुई चञ्चला चपला सोनगंगा कलकल नाद करती हुई मन्दाकिनी से मिल रही थी। मानो स्नेहशीला माता अपनी चिरचञ्चला चपला कन्या को अपने वक्षस्थल में आलिङ्गन पाश से आबद्ध कर रही हो! हम यहाँ से आगे बढ़े। सोनप्रयाग से गौरीकुंड की चढ़ाई अति कष्टदायक है। हम धीरे धीरे चल रहे थे। इतने में बहुत से सामान लादे हुए करीब २०/२५ घोड़े ऊपर से उतरते हुए दिखाई दिये। ज्ञात हुआ कि चीफ इञ्जीनीयर साहब नीचे आ रहे हैं। कुछ आगे बढ़ने पर हम उनसे मिले वे हमारे परिचित थे। हमने उनसे फाटा से सीतापुर तक जीप के लिये आज्ञापत्र न मिलने की सूचना दे दी। आपने कहा "मैं अवश्य ही जाते समय यह प्रबन्ध कर जाऊँगा। अब आपकी जीप सीतापुर तक पहुँच ही जायेगी।" हम आगे बढ़ कर मंडकाटा गणेशजी पहुँच

गये। हमारे दो साथी कुछ पीछे थे अतः हम उनकी प्रतीक्षा करने लगे। इस मार्ग में हमें यात्री अधिक मिले। सभी—"जय बाबा केदारनाथजी की" यह कहते हुए चले जा रहे थे। हम विश्वनाथ-धाम के ही हैं। हम भी "जय बाबा विश्वनाथ की, जय बाबा केदारनाथ की" बोलते हुए आगे बढ़ रहे थे। पर यहाँ हमें केदारनाथ की जय की अपेक्षा "पाई पैसे" की ध्वनि अधिक सुनाई पड़ी। यहाँ बच्चे से बुड्ढे, हमारे सभी पहाड़ी भाई हमसे पाई पैसे माँगने में तत्पर थे। हमारे साथी भी यथाशक्ति उन्हें देते रहे। क्रमशः सूर्यदेव अस्ताचल की ओर ढल गये। पालतू पशु धीर गति से घर की ओर चल रहे थे। कहीं पेड़ों में पक्षियों का कूजन सुनाई पड़ने लगा। बायीं ओर चीड़ के वन में मृदुमन्दवायुप्रवाह से एक प्रकार की गुंजन ध्वनि होने लगी। हमलोग भी गोधूली के म्लान अन्धकार में गौरीकुंड पहुंचे। ज्ञात हुआ कि यहाँ गंगामाता एक शिवलिंग के ऊपर गिरती हुई प्रवाहित होती हैं। उस रात को हमारा वहीं निवास का विचार था। हम वहाँ एक लालाजी की दूकान के तीनमंजिल में रहे। सामने गौरीदेवी का एक मन्दिर तथा एक उष्ण कुंड है। हमने यहाँ मन्दिर में सन्ध्या-आरती देखी।

आषाढ़ ९, रविवार को तड़के ही हम यहाँ के ऊष्णकुंड में स्नान तथा सन्ध्या-वन्दनादि कर चल पड़े। आकाश मेघाच्छन्न है। निःस्तब्ध जंगलों के भीतर से चढ़ाई का पथ, वायु, मृदुमन्द और शीतल। हम बहुत ही आराम से ऊपर चढ़ने लगे। लगभग ७ बजे घनमेघजाल को भेद कर सूर्य किरणों की एक झलक निकल आयी, मानो देवादिदेव शिव के तृतीय नयन को ज्योतिश्छटा! यहाँ सीधी चढ़ाई थी। लगभग नौ बजे हम चीरवासा भैरव पहुँचे। यहाँ भैरवजी का एक छोटा सा मन्दिर है। पण्डेजी बता रहे थे कि भैरव का दर्शन करने से यात्रियों का श्रम दूर हो जाता है। हमने भी भैरवजी दर्शन कर लिया। केदारनाथजी की कृपा से सूर्य भगवान् का असह्य तेज भी उस दिन कुछ स्तिमित हो गया था। इन्द्रदेव भी हमपर प्रसन्न थे। उसदिन न तो वर्षा हुई और न कड़ी धूप ही निकली। हमने 'रामबाड़ा' में विश्राम तथा भोजनादि कर लिया। यहाँ मन्दिर-समिति के सचिव श्री सत्यदेव ब्रह्मचारीजी से हमारी भेंट हुई। आपको कई बार मातृदर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपने बद्रीनाथजी में ठहरने की सुविधा के लिये हमें एक आज्ञापत्र लिख दिया। 'रामबाड़ा' से केदारनाथजी दो मील दूर हैं। यहाँ की मील नीचे से कुछ विलक्षण ही है। मैं धीरे धीरे चलती हुई यही सोच रही थी कि ठीक इसी प्रकार ही हम इस दुर्गम संसार पथ की शाश्वत यात्री हैं। हम अनादि अनन्तकाल से इस सीमाहीन कठिन कंटकाकीर्ण-संसार पथ पर चल रहे हैं। कब इसकी समाप्ति होगी वह सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही

जानते हैं। इस मार्ग में केदारनाथजी की तरह हमारे इस संसार मार्ग का परमलक्ष्य है परमानन्द की प्राप्ति। सभी आनन्द को ही चाहता है। उस प्राचीनकाल में ऋषियों ने उदात्तकण्ठ ये घोषित किया था "अमृतस्य पुत्राः वयम्" अतः अमृत के पुत्र हम परमानन्द-सुधारस को पान कर अमर होकर ब्रह्मानन्द सरोवर में ही निरन्तर अवगाहन करना चाहते हैं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिये ही भगवान् की माया से व्यामोहित जीव इस भवाटवी में अनादि अनन्तकाल से भ्रमण करता रहता है। वह कभी तो सत्कर्म करने से कुछ उच्चगति को प्राप्त करता है पर पुनः स्खलित होने पर अधोगति को प्राप्त करता है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" मुझे पंचदशी के उस श्लोक का स्मरण हो गया—

"कुर्वते कर्मभोगाय कर्मकर्तुं च भुञ्जते ।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमश्नुते ।।
व्रजन्ते जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ।।"

कई हजारों लाखों वर्षों बाद ही सद्गुरु की कृपा से, वासना की निवृत्ति तथा कर्मफल की समाप्ति होने पर ही जीव परमशान्ति को प्राप्त करता है। मैं अकेली चल रही थी। इसी प्रकार इस संसारारण्य में भी निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये एकाकी चलना चाहिये। कारण जन्म से ही हम मायाजाल में फँसे हुए हैं, फिर द्वितीय व्यक्ति आने से ही हमारे अभ्युदय के मार्ग में अन्तराय उपस्थित हो जाता है। हम और आगे नहीं बढ़ सकते हैं। जहाँ मेरे स्थान पर द्वितीय आ जाता है वहीं—राग, द्वेष, द्वन्द्व, कलह आदि उपस्थित हो जाते हैं। अतः इस संसारारण्य में तो एकाकी चलना ही श्रेयस्कर है। अब कुछ दूर से ही सम्पूर्ण केदारनाथपुरी चित्रित सी दिखाई देने लगी। सभी आनन्द से नाच उठे। हम ११७०० फीट ऊपर चढ़ चुके हैं, पर यहाँ की जमीन सपाट है। हमारे चारों ओर फूलों की अपूर्व शोभा तथा सामने चिरतुषारमण्डित हिमाद्रि का उन्नत शिखर था। हम धीरे धीरे केदारनाथजी पहुँच गये। तुषाराच्छादित हिमगिरि के उत्तुङ्गशृङ्ग से झरने की सप्तधारायें प्रवाहित हो रही थीं। मानों शंकर भगवान् अपनी जटाओं में छिपी हुई गंगाजी को ही सप्तधारा में बहा रहे हों। नीचे नवजलदप्रभा मन्दाकिनी भीषण वेग से प्रवाहित हो रही थी। एक ओर तुषाराच्छादित हिमालय के उच्च शिखर से एक दुग्धधवल जलधारा निकलती हुई मन्दाकिनी से मिल रही थी। पंडे ने कहा कि इस धारा को दूधगंगा कहा जाता है। नीलाम्बरी मन्दाकिनी तथा श्वेताम्बरी दूधगंगा के इस अपूर्व संगम को देखकर हृदय की अतृप्त वासना बढ़ती जा रही थी। नेत्र और भी देखना चाहते थे उस नयनाभिराम दृश्य को और मन चाहता था कि अपने मानस चित्रपट पर उसकी प्रतिकृति सदा के लिये अंकित कर ले। हम धीरे

धीरे मनोरम दृश्यों को देखते हुए आगे बढ़े। केदारनाथजी का विशाल तथा भव्य मन्दिर हमारे सामने था। पंडे ने कहा कि यह मन्दिर पंचपांडवों के द्वारा बनवाया गया है। पर पीछे हमें ज्ञात हुआ कि राजा मानसिंह ने इस मन्दिर को बनवाया था। राजस्थानी भव्यकला दृष्टिगोचर हुई। हम यहाँ मोदी भवन में पहुँचे। यह भवन बड़े रमणीय स्थान में है। सामने केदारनाथजी का भव्य मन्दिर तथा पृष्ठ भाग में हिमगिरि के तुषारमण्डित हिमकिरीट। एक ओर शंकराचार्यजी का समाधि मन्दिर बन रहा है। हमारे पहुँचते ही पर्जन्यदेव खूब पानी बरसाने लगे। हम सब ने शीतवस्त्र पहन लिया। हमारा आरती देखने का विचार था। पर ज्ञात हुआ कि यहाँ सरकार की ओर से बड़ी कड़ी निगाह रहती है। साधारण जनता पंक्तिबद्ध होकर एक एक करके आरती के समय केदारनाथजी का दर्शन करते हुए चली आती है। सम्पूर्ण आरती-दर्शन के लिये विशेष व्यय की आवश्यकता है। हमने पहली रीति का ही अनुसरण किया। वर्षा के लिये हमने बरसाती पहन ली। इस सर्दी में हम पंडेजी के साथ नग्नपद मन्दिर पहुँचे। मुख्यद्वार से ही हमने मन्दिर में प्रवेश किया तथा पंक्ति में खड़े हो गये। गर्भमन्दिर के द्वार पर एक छोटा सा कमरा है। उसमें जो विशेष रूप से दर्शन करना चाहते हैं वे बैठे हुए थे। यात्री लोग सामने से दर्शन करते हुए चले जा रहे थे। अब मेरी बारी आई, मैंने केदारनाथजी की एक झलक ही देखी, कारण प्रणाम करके ही आगे बढ़ना पड़ रहा था। केदारनाथजी एक जरी के वस्त्र ओढ़े हुए तथा छः सात लहरों की एक जड़ी की माला पहने हुए थे। कोने में एक बड़ा प्रदीप जल रहा था। हम दर्शन कर अपने निवासस्थान में चले आये। सभी लोग कल की पूजा की चिन्ता कर रहे थे। ज्ञात हुआ कि आमजनता को केवल पूजा के लिये ५ मिनट ही दिया जाता है। पूजा के विषय में बातचीत करते हुए रात को सब सो गये।

आषाढ़ १०, सोमवार को हम अति प्रत्यूष में ही उठ कर सन्ध्यावन्दनादि का समापन कर लिये। प्रातःकाल खूब अधिक सर्दी थी। अतः हमने मन्दाकिनी में स्नान का विचार छोड़ दिया। ज्ञात हुआ कि प्रातः ७ बजे से आठ बजे तक स्थानीय पण्डे लोग पूजा करते हैं। तदनन्तर साधारण जनता को समय दिया जाता है। पर मन्दिर के प्रधान पुजारीजी हमारे पंडेजी के चचेरे भाई थे। अतः पण्डेजी उनसे कुछ परामर्श कर साढ़े सात बजे ही हमें मन्दिर में ले गये। यह भी श्री श्री माँ की ही कृपा थी। मन्दिर का सिंहद्वार अभी बन्द था अतः हम पार्श्वद्वार से मन्दिर में पहुँचे। हमने केदारनाथजी के लिंग को स्पर्श किया। मेरे मन में अचानक यह भाव उदय हुआ कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसमें ये चतुर्दश भुवन, तारिका नीहारिकामय ये नक्षत्रमण्डल युक्त पृथ्वी विद्यमान है, सभी केदारनाथजी के इस

अर्धब्रह्माण्डाकार लिंग का ही स्वरूप है। हमें केवल केदारनाथजी को एक शिला के रूप में ही दर्शन नहीं करना चाहिये। बल्कि इनमें इस चराचर जगत् की भावना करनी चाहिये। तथा, इन्हें विश्वस्रष्टा उस विराटपुरुष सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी परमेश्वर के रूप में ही दर्शन करना चाहिये। ऐसा विचार कर मैंने और एकवार भक्तिभाव से केदारनाथजी की शिला का स्पर्श कर प्रणाम किया। पुजारीजी ने बड़ी सुन्दरता से हमारी पूजा करवा दी। पर जैसे ही हमने स्तवपाठ प्रारम्भ किया वैसे ही साक्षात् यमदूत के समान एक चपरासी ने हमें निकलने की आज्ञा दे दी। ये सरकार की ओर से यात्रियों का नियन्त्रण करते हैं। इनका व्यवहार बड़ा रूक्ष है। मैंने तो इन्हें शिवजी के पार्श्वद साक्षात् शृङ्गी भृङ्गी ही समझा। आठ बज चुका था अतः हम वाहर चले आये। हम मन्दिर की परिक्रमा तथा शिखर दर्शन कर मन्दिर के सामने आंगन में बैठ गये। यहाँ हमने महिम्नस्तोत्र पाठ किया तथा "जय शिवशंकर बम बम हर हर" एवं "माँ माँ" कीर्तन किया। सभी एक अपूर्व आनन्द में मग्न थे। पण्डेजी ने हमें प्रसाद दिया। यहाँ के सभी पण्डे तथा पुजारी श्री श्री माँ से परिचित हैं। अनन्तर हमारे एक साथी ने हम सबकी तसवीर खींची। हमारे पण्डे महाराज की भी एक तसवीर ली गई। हम लगभग ९ बजे केदारनाथजी से चल पड़े। हमने चलते समय मन्दाकिनीजी का स्पर्श कर लिया। हमें ज्ञात हुआ कि कल प्रातःकाल एक वृद्धा मन्दाकिनी जी में स्नान कर यहाँ से काण्डी कर जा रही थी रास्ते में ही सर्दी से वह जमकर मर गई। यहाँ एक सज्जन बता रहे थे कि परसों क्षणभर के लिये भूकम्प हुआ था। हमें भी इसका कुछ अनुभव हुआ था। इससे 'फाटा' से 'सीतापुर' तक के मार्ग में एक मोटर दुर्घटना हो गई। अतः सीतापुर से फाटा का मार्ग बन्द हो गया है। इससे हम वहुत चिन्तित हो गये। अगर हमारी जीप चीफ इञ्जीनियर के सौजन्य से सीतापुर तक पहुँच गई हो तो हमें वहीं अनिश्चित काल के लिये रुकना पड़ेगा। अब हमें चलते समय सीतापुर तक जीप के लिये आज्ञापत्र प्राप्त न होने का रहस्य ज्ञात हुआ। इसमें भी कोई कल्याण ही निहित था। केदारनाथजी का मन्दिर वैशाख में खुलता है तथा दिवाली के द्वितीय दिवस में बन्द किया जाता है। पण्डे लोग वहाँ से आते समय सवा मन घी से परिपूर्ण एक प्रदीप मन्दिर में जला कर आते हैं, सुना कि छः महीने वाद पुनः पण्डे उस प्रदीप को जलता हुआ पाते हैं। अब केवल उतराई थी। हम धीरे धीरे उतर रहे थे। गरुड़चट्टी से कुछ आगे हमें जाते समय नगारे बजाते हुए एक व्यक्ति मिले थे। वे थे बड़े रसिक महापुरुष। सभी यात्रियों से ही कुछ न कुछ चुटकीलेपूर्ण मजेदार बातें करते जा रहे थे। इससे हमारा भी मनोरंजन हो रहा था। उन्होंने जाते समय हमसे अपने लिये एक कमीज लाने के लिये कहा था। अतः हम उनके लिये केदारनाथजी से एक कमीज ले आये। उसे प्राप्त कर वे बड़े प्रसन्न दीख रहे थे। हम आगे बढ़ गये। 'रामवाड़ा' में हमने विश्राम भोजनादि कर लिया। आज हम कुछ जल्दी जल्दी चल रहे थे। ३ बजे हम गौरीकुण्ड पहुँच गये। यहाँ हमने मन्दिर-समिति के अतिथि भवन में रात्रिवास किया। आज शाम को एक सहयात्री हमें अपने जीवन की कुछ मजेदार घटनायें सुना रहे थे। सुनकर बड़ा आनन्द हुआ।

—क्रमशः

In Memoriam

SRI SWAMI MUKTANANDA GIRI

[May, 1877 - August 9th, 1970]

★

Sri Swami Muktananda Giri, "Giriji" as Ma used to call her, our revered and beloved Didima, took *Mahāsamādhi* on August 9th at 1-30 a. m. in Mataji's presence at Hardwar, deeply mourned by all who knew her. We had hoped that she would remain with us for a whole century, but Divine Dispensation willed otherwise. It was Giriji's wish to retain her body only so long as she would not be bed-ridden or too frail to travel with Mataji. Her wish was fulfilled. Her passing was as simple, peaceful and inspiring as her whole life.*

Mokshada Sundari Devi, as her parents named her, was the offspring of a highly respected Brahmin family of East Bengal, which had produced a number of saintly and learned persons. She was the eighth child of her parents. Her father, a *kulaguru*, had many disciples; her mother was also deeply religious. Mokshada was one of those extremely rare souls that are born saints, She was a quiet, gentle child, fond of solitude. There were no negative sides to her character that had to be overcome. She never knew what it was to be angry, greedy or jealous. Neither did she ever quarrel with anyone or tell a lie. She attended school only for a few years. Yet she possessed a natural gift to express her spiritual aspiration and her love of God in poetry. From her early youth to her last days she used to compose many beautiful songs and lyrics. Both her parents passed away before her childhood was over.

At the age of twelve, she was married to Sri Bipin Bihari Bhattacharya, an equally saintly person, much loved and respected for his honest, upright nature and his integrity. Ascetic by inclination he had little interest in the affairs of this world. He also was an inspired singer. Soon after the birth of their first child, in 1893, he took his wife and daughter to his mother at Kheora and left home to live a life of renunciation. The child died at the age of nine months. After more than two years of absence, friends of the family found him in his place of retreat and persuaded him to return and to resume once more the responsibilities of a householder. However, a sense of detachment remained with him throughout his life.

---

* Her departure is described in detail in Mātri Lilā' of this issue.

In 1896, their second child, Nirmala Sundari Devi, our Mataji, was born. It is in the fitness of things that Mataji should have chosen such an extraordinarily saintly couple for her parents. Didima, not only a model of all the gentler human virtues, was also wise by nature and intuitively knew what was best for her children. Thus, Nirmala was never slapped or even harshly rebuked. She grew up happily, unaware of the fact that, as far as material needs went, her family was poor. Mokshada, always working hard, kept her humble cottage spotlessly clean and orderly. Every guest was served as Nārāyaṇa, while she herself went without food on many occasions. Complete trust in God, one of the main features of Mokshada's character, gave her the fortitude to bear with equanimity and patience all the hardships and bereavements of her family life. Nirmala, while still a child, helped her in her own unique way to get over the loss of three young sons who passed away in quick succession. In later years, Mokshada also had to mourn the death of two daughters. Her youngest son, Makhan, has survived his mother.

When Nirmala had become Sri Anandamayi Ma, recognised as a Divine Incarnation by an ever increasing multitude of devotees and admirers, some of them of very high standing, Didima's life naturally became easier and her privations gradually ceased. Anyone else would have succumbed to the temptation of feeling proud and superior to others. Yet Didima proved herself perfectly equal to the changed circumstances of her life. It never even entered her mind that she occupied an elevated position. She remained her simple, humble self, full of calm and dignity, whether in the company of villagers or great scholars and rulers of the world.

After Dādāmaśai* had passed away in 1936, Didima felt that she should become a *Sannyāsini,* mainly in order to be able to spend the rest of her life close to Mataji. In April 1938, she received full *sannyāsa* from the great Swami Sri Mangal Giri Maharaj at Hardwar. This kind of *sannyāsa* is hardly ever given to women. In fact, she was the only woman to whom he gave *sannyāsa*. Her guru called her "Swami Muktananda Giri".

---

* Mataji's father was called "*Dādāmaśai*" (grand-father) by Mataji's devotees.

Swami Muktananda Giri already possessed the qualities required of a *sannyāsi*. First and foremost she was self-effacement personified. Her compassion knew no bounds; it encompassed the righteous as well as the wicked. Unaware of her own needs, she was in the habit of giving away whatever she got. Neither did she find fault with anyone. She was always quick to discover some good quality even in persons whom nobody else would tolerate. She seemed desireless, with the exception of one desire: to be at all costs with Mataji. To the last day of her life she was ever ready to sacrifice the most elementary needs and comforts so as to be able to travel about with her beloved daughter.

In the early days, Bholanath and Bhaiji had given initiation to devotees who asked for it, since Mataji does not do so. Bhaiji passed away in 1937 and Bholanath In 1938. Thereafter Giriji began to act as the Guru of all who wished to take mantra *dikṣā*. Several hundreds of men, women and children must have received initiation from her in Mataji's presence in the course of all these years. By and by Giriji also became the *Sannyāsa Guru* of most of the sannyāsis and two *sannyāsinis* belonging to our Ashram.

Thus it may rightly be said that, not only during Mataji's childhood, but also during the 32 years of Giriji's life as a *Sannyāsini*, she played a very important and unique part in Mataji's *lilā*, Giriji became the almost constant companion of Sri Sri Ma and in her selfless, unassuming manner was of invaluable help and assistance to her. All the thousands of Mataji's children loved and revered her as their spiritual grand-mother. Mataji alone knows how the painful gap created by Didima's departure from this earth is to be bridged.

One thing is certain: Didima has not left us. Although she has discarded her body that had served her well for nearly a century, she is here with us. We feel her presence tangibly wherever we may be and we may be sure of her readiness to help and bless us at all times. May we ever remain worthy of her benediction.

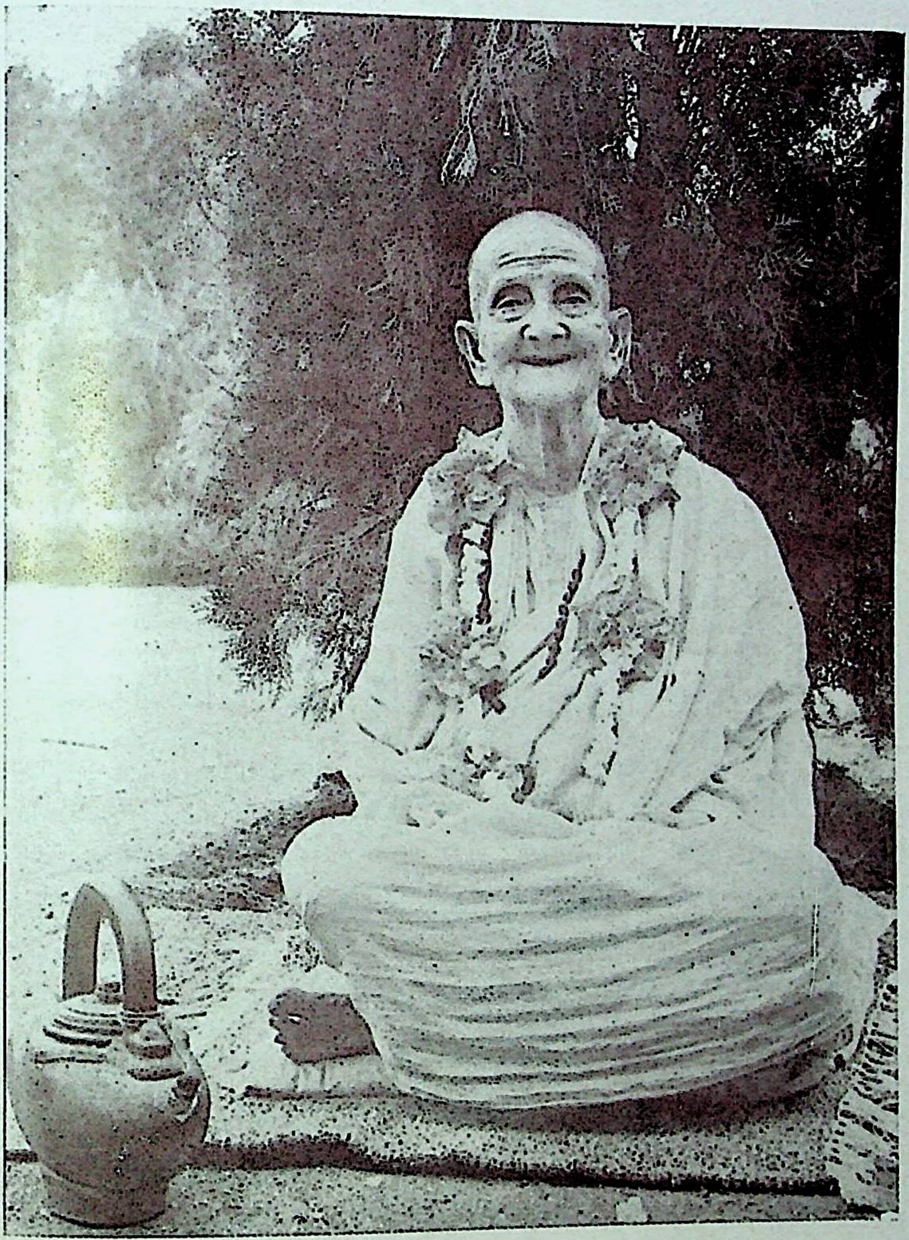

At Poona—May, 1970

Courtesy : Sri Sadanand, Bombay.

Just as there is a veil of ignorance for the individual,
So there is also a door to Knowledge.

Mātri Vāni

Happiness that depends on anything or anyone turns into sorrow when that particular thing or person is out of reach. Everything in this world is transitory. So also worldly happiness : it comes and the next moment it is gone. If permanent, abiding happiness is to be found, That which is Eternal will have to be realized.

* * *

The One Who is your Guru is the World-teacher, and He Who is the World-teacher is your Guru. He is of infinite forms, of infinite manifestation, and of infinite non-manifestation; in the shape of the Guru, the *Iṣṭa*, the mantra is He and no other. Wherever mind and heart may turn is He, the all pervading Self (*Ātmā*) : He reposing by Himself within Himself. In order that this Reality may become manifest, that it may be grasped, there are various paths. Again, grasping means holding on to one's own Self. On the other hand, there is no question of grasping or not grasping. This, verily, is the Realization that is wanted.

* * *

When in association with great souls—saints and sādhus—you are striving to embrace the highest and to relinquish ephemeral pleasures, it is not proper to critisize any practice (*kriyā*) those great-ones may engage in. Whatever they say should be accepted without argument. To speak of falsehood or error where they are concerned is an offence on your part and positively harmful. Are not all those whom you are judging in this manner your own people ! So long as one's true Being has not been realized, everyone should be treated as one's very own Self. Try to find God in everyone. This is the attitude to be cultivated Good and evil are all within the One who pervades the entire cosmos. Therefore, the duty of those who have gone out to realize Truth, is to regard everything that saints and sādhus undertake

in quest of Truth, as the various manifestations of their *Iṣṭa* or Guru. This is the spirit to be adopted.

* * *

Thou art mother, Thou art father, Thou art friend and beloved, everything art Thou alone; where this is so, there is only one single universal ashram. Here, there can be no question of boundaries—it is limitless. Duality creates conflict. It is the veil of ignorance that causes blindness.

Sad Vāni

Reported by "*Bhaiji*"

(*Continued from the last issue.*)

16.

You are given to much discussion about sattvic food. For this body sattvic food means to nourish oneself with divine thoughts and emotions and to abide in the awareness of Truth or God. If once a day you eat perfectly pure food but remain engrossed in worldly thoughts all day and night, of what value can sattvic food possibly be to you ? Within the mortar of the mind, pound the medicine of God's Name or of Self-enquiry with the honey of pure aspiration and partake of it. In this way the opportunity for right diet as well as the necessary ingredients for making it effective will be provided from within.

At all times let your objectives be noble, give your whole attention to whatever you undertake, and your mind and body will then develop the qualities you are trying to create by sattvic food.

Anything taken in through the senses is food, therefore be watchful and see that you do not become addicted to what you absorb into yourself. Strive always to keep your appetites under control.

17.

Essentially there is only one inner Call. All the various methods of the different religious sects are solely for the purpose of answering this Call. Once man awakens to it there is no more need to cry out again and again. Truly speaking it is not you who call Him, but He who calls you. In the hushed silence of night the sound of distant temple bells and conches can be clearly heard; through intense and undivided devotion to Him the hunger of the senses is stilled, and His call will find response from your inmost depths and reverbrate through your whole being. Then and then only will true prayer spontaneously flow from your heart. This divine Call is bound to come to everyone. Śiva, the Eternal Spirit has resolved Himself into *jīvas*, sentient beings, and every creature has to become reconverted again into Śiva. Just as water freezes into ice, and ice melts into water again, so this play of transformation of Śiva into *jīva* and *jīva* into Śiva goes on and on through eternity.

18.

In this world one cannot afford to ignore anyone. Every human being has a claim to some measure of respect and support from every other. No one has the right to believe that he is of greater importance for the maintenance of order in the universe than anyone else. Without a ruler a country cannot be governed; on the other hand there can be no ruler without subjects. Each one is progressing continually on the path of action that has been assigned to him by the Creator. Therefore, to consider oneself great and others small because of any merit or position of prestige one may have acquired, is a serious mistake. Rather than regard this vast universe as a conglomeration of countless particles, look upon it as one indivisible cosmos, and all distinctions between high and low will then disappear. A man who respects himself will have even more respect for others. Without respect reverence cannot develop, and without reverence love will not awaken; when love is wanting the Lord of Love recedes into the far distance and no amount of effort will bring Him near.

19.

All creatures are fundamentally one, for the whole universe is a manifestation of the One. A man who hears the word 'Himalaya' without having actually set eyes on the mighty range, will be under the impression that it is but a single mountain, whereas once face to face with the Himalayas he will realize that they consist of hundreds upon hundreds of peaks, stretching over hundreds of miles, with milliards of trees, animals, birds, insects, with streams and waterfalls. Similarly, the farther one advances or the deeper one penetrates on the path of *sādhana*, the more clearly will be perceived the One revealed in the many and the many in the One. In actual fact we are always with the One, but distracted by the many we forget Him. Step by step we learn to walk, mouthful by mouthful we satisfy our hunger; single letters are composed into words, groups of days form a month, and months added together constitute a year.

You often say: "There is only the One-Without-A-Second." This is indeed a fact, for in this universe there is nothing except the One. The world is made up of sense perceptions. Although each one of the five senses reveals a different facet of the immensity of creation, yet their endless movement originates from the One, and they again find their rest in Him. Their whole significance lies in giving expression to the One. With the one goal before you try to focus your whole attention on one form, one perfume, one contact, or one sound, and you will eventually come to see that everything is contained in this one. Thereupon you will realize that the One appears as the many and that in very truth the many are the One; you will know that nothing whatsoever exists outside of the One.

20.

So long as speech has to be employed, use your words sparingly. Listen and try to assimilate what others say, and only when necessity demands utter a few words measured out in homoeopathic doses, as it were. Have you not noticed that where large quantities of allopathic medicine fail, a few drops of homoeopathic medicine sometimes work wonders! What is the hidden motive behind talkativeness? Is it not to display superiority or erudition or else to defeat someone by argument? The force of action is much greater than mere words. Superficial conversation and discussion will not take you far. Practise self-introspection and calm the passions of the heart and you will see how little inclination there is then for talk.

21.

At all times gaze into the heights and keep on mounting. If you aim at what is low, you will sink down into the netherworld. Accustomed to take the even, easy road, you have almost lost the ability to aspire after the sublime. Although you are in the habit of seizing opportunities as they present themselves at every moment, you fail to use this faculty in the right direction. Make a sustained effort to aim at the highest, and if your eyes cannot always remain turned towards the sky, you can surely at least keep them fixed straight ahead. The courage to climb upwards comes through enterprise and perseverance. You often complain that the body is willing but the mind does not co-operate, or else that the mind is quite active but the body lags behind. When this is so, you will have to set to work with untiring energy, or your downfall if inevitable. Courage is required in whatever one does; courage itself is power.

22.

Try always to spend as much time as you can in the open air, keeping the body as bare as is practicable. Gaze to your heart's content at the lofty mountains and on the sea and your words will be frank and free. If these are not within reach, you can at least peer at the sky whenever you have the chance. Little by little the rigid knots that make up your shakles will be loosened and you will find yourself becoming freer. A fully awakened consciousness functions only through an untrammelled mind and body. To be fettered is to be crippled.

You brought nothing into this world but your naked body and one day you will have to depart stripped of everything. If during the short period that lies between birth and death you are burdened with too many possessions and luxuries, it will be very painful to leave them behind. Keep your body light and your mind will be light. When both body and mind are light it is easy to attain to Liberation.

23.

Why do you accumulate wealth and possessions ? In order to maintain yourself and your family. And for whom does the family exist ? If you give a straightforward reply you will have to admit that it is for yourself. But if you ask, "What is this self ?", you will find no answer and your intelligence can take you no further.

'*Who am I ?*' Once you sit down and ponder seriously over this question, you will soon discover that all the book learning that you have crammed into your brain in school and college, and all the practical experience you have gained in active life, are not of the slightest help in solving this question. If you want to discover the origin of the sense of "I and mine" you will have to alter the whole course of your thinking, and give your undivided attention to the search after Truth. Whenever the mind starts wandering, it must be firmly brought back to concentration upon the source of the 'I'. This is the means by which to arrive at Self-realization.

24.

When at daybreak a *vairāgī* (itinerant ascetic) goes from door to door chanting the name of '*Hari*', thousands may hear it, but how many have really listened? Why is that? Most people have the power of hearing, but the majority are so captivated by the melodies of the world that they will not easily give ear to devotional songs. The only way to counteract this is *japa* (regular repitition of one of God's Names, anything from 10 to 10,000 times), or else to devote some time every day to prayer or meditation, the search for the Self, *satsang*, the singing of God's praises, religious discourses, or any other practice of the kind. In this way the mechanism of body and mind will by and by become attuned to the vibrations of religious music and be able to appreciate it. Without regular practice no science can be mastered. Similarly sustained effort is necessary for those who aim at Self-realization. This should be borne in mind. Just as a watch has to be wound every day, so the winding of the machinery of the mind, at least once daily with the key of divine contemplation will greatly assist in purifying the mind.

25.

Do not pay attention to other's faults. It blurs the vision, defiles the mind and adds to the load of the world's sin. Therefore try to see only the bright side of things in whatever you perceive. It is the good and beautiful which is true and living, whereas the bad and ugly is only the shadow of what really is. Nobody ever wishes to be bad. When you seek the company of others, remember you are out to find the good and beautiful. If you are truthful in thought, word and deed, your heart will be pure and full of joy, and your intelligence and reason sound and accurate. Then good will be found everywhere and nothing appear as evil. God alone is perfect; no person can be free from defects. By making a practise of seeing the good qualities in others, the same virtues develop in yourself, for as you think so you become. In fact it gives much greater satisfaction to appreciate the merits of others than to dwell on one's own worthiness. To take pleasure in thinking of one's own excellence will only inflate the ego and magnify the frailties of others.

26.

He only who lives consciously, that is to say in Self-awareness, deserves to be called a human being. Without being truly a human being first, one cannot become a superman. By following the social and moral laws, human qualities are gradually developed, after which, when one becomes interested in the spiritual quest and the mind has been purified by divine contemplation, one may go beyond illusion and grow into a superman. The endeavour to fulfil his real want is characteristic of man; to be established in his true being is the mark of the superman. Man's task is to satisfy his want by awakening to his true nature; the superman's task to become perfected in his true being, which implies renunciation and all-embracing Love. First of all try to be a real human being.

27.

The Supreme is Joy itself. This is why the goal of life for all created beings is Joy (*ānanda)*. At all times give and receive happiness, hear and see the delightful; thus you will be able to live blissfully. Gloom is the token of death, none in the entire universe welcomes it. If dejection does steal into your heart, drive it away by force. Say to yourself : "Why should I, who am a scion of Joy Supreme, feel downcast ?" Does a rich man's son ever exhibit his poverty ? Even though his parental wealth may have been lost, he will rest content in himself, for he knows that he is the offspring of a distinguished family. And you, whose inner treasure is quite intact—ought you to pass your days like beggars ? Can anything be accomplished without keeping one's backbone erect ? Do you not see with how much energy the people of the West talk and act ! They have put their heart and soul into securing the physical welfare of the world, and all affluence and every comfort is in the palm of their hands. For ever banish from your heart anything in the nature of fear, anxiety or despondency. Where joy, enterprise and diligence are, there the Supreme Energy (*Mahāśakti*) Itself is present. Learn to see God in all worthy undertakings of mankind. If you can do this, you will pass from the material world of *karma* to Reality, the Brahman, which is identical with the realization of Supreme Bliss (*Paramānanda*).

28.

Since one cannot see oneself with one's own eyes, one should listen eagerly when others point to one's mistakes. This is an aid to self-scrutiny; whereas hearing one's praise does nothing but harm.

The attitude of the majority of people is exactly contrary to this : they like being praised but greatly fear censure. As a result they remain dependant on praise and blame throughout their lives and in consequence suffer frequent frustration. In worldly life it is necessary to be mindful of praise and blame. But on the spiritual path, unless one becomes indifferent to both, one cannot remain firm and steadfast. In order to progress inwardly, one must concentrate on a single goal and become absorbed in the One. Therefore it is imperative to cultivate activities and states of mind that promote one-pointedness, and to withdraw as far as possible from all external distractions.

29.

One of God's names is *Chintāmani* (fulfiller of desires). At first men turn to God because He fulfils all desires, but by and by they become so absorbed in the contemplation of Him that there is no room left for any other thought, that is to say, one becomes infused with the divine Presence. One must pine for God as keenly as the miser craves for wealth, as the childless long for a son. Throughout life's journey keep Him first and foremost in your thoughts and He will become your sole aim. If anyone can thus enshrine Him in his heart, He will take all burdens off His devotee and give him freedom to contemplate exclusively the Divine. There have been numerous instances of this, not only among saints and *sannyāsis* but also among men of the world. Even beasts, birds and plants are within the pale of His Mercy. Laying all cares at rest, take shelter in Him with a tranquil mind. Keep your kite flying, with the string held firmly in your hand; the wind will of itself seize it and carry it soaring into the sky.

30.

Whenever you have the chance, laugh as much as you can. By this all the rigid knots in your body will be loosened. But to laugh superficially is not enough : your whole being must be united in laughter, both outwardly and inwardly. Do you know what this kind of laughter is like ? You simply shake with merriment from head to foot, so that one cannot tell which part of your body is most affected. What you usually do is to laugh with your mouth while your mind and emotions are not involved. But I want you to laugh with your whole countenance, with your whole heart and soul, with all the breath of your life. In order to be able to laugh in this way you must have implicit faith in the power of the Self and try to bring the outer and inner parts of your being into perfect harmony. Do not multiply your needs, nor give way to the sense of want, but live a life of spotless purity. Making the interests of others your own seek refuge at His feet in total surrender. You will then see how the laughter that flows from such a heart defeats the world.

(*To be continued.*)

"It is not wonderful to be a pilgrim on the Supreme Path ? This is indeed the path to be taken. The ultimate Goal is reached when the Supreme Path has become revealed."

—Mata Anandamayi

Meditation

Elwood Decker

An ordinary child soon discovers that things are destroyed by energy. Toys exuberantly thrown out of the crib, are sometimes accidentally broken. Fascinated by this knowledge, when the child tires of playing with his toys, a toy or two may be deliberately smashed to provide extra satisfaction of curiosity.

Alert parents see to it that the growing child learns to exert energy to protect his toys and other things...in order to protect himself. He learns to restrain his enthusiasm for destructive energy and let it be guided by the more important practicality of protective energy.

Later the child learns that energy also creates things, at first by imitation or reproduction; and with greater knowledge, by originality.

By this the child begins to understand that energy is generated by thought, and enters the adult world. The vast potentiality of thought is as far as most human beings can comprehend.

Only a rare few will find the absorbing drama of personal thought insufficiently satisfying, and seek the Source of its power in Silent, Blissful SPIRIT. Lifetimes are spent attempting to adjust body and mind to the ever-changing, mysterious multiplicity of things, actions, and thoughts. It seems so strangely impossible to become aware of Silence, Emptiness, and Stillness, the "drawing room" of our heart, where we may transcend time and Know our Eternal, Infinite SPIRIT through intimately Illuminating Visions and Impersonal Expansions of the Power of ITS CONSCIOUSNESS in us. It is a shock to suspect that we have been deceived into thinking that space was infinite and motion was eternal, by our commonly accepted standard of "normalcy."

Only a few will go on where Love alone is the Way.

Ma Embodied this Way from the very beginning of Her Glorious Life on our fortunate planet. Gods and Goddesses were Her Playmates. Shiva Danced for Her.

Her normal Experience was Spiritual Abundance; but what was naturally effortless for Her, will require an all-out effort for us to begin to realize. She will help us, especially if we try. She came to earth to Show us the Way.

It takes a lot of love to meditate successfully. The attention must be firmly welded to ONENESS. Duality must vanish. It isn't difficult if we love MA, for She Loves us. If we really try, ONENESS will Happen for us...perhaps when we least expect it. It will BE increasingly With us, as MA encourages our childish efforts with Her Generous Grace. With our adoration, let us also gratefully offer MA a firm mental conviction that it is only *in* our Consciousness that space and motion have been *temporarily* conceived,...borrowing from Consciousness Itself, their illusionary "infinity" and "eternity."

We devotees believe that Sri Sri Anandamayi MA is the Blissful, Merciful MOTHER of the Universe. How would *you* like it, if *you* were the Great Mother, and your children under-rated themselves and each other ? Let us have enough mercy on our dear MA to think big of our Potential and Intrinsic Consciousness.

When we eliminate the humiliating misconception that we are living in space and motion, by recognition of the truth that we live *in* Consciousness instead, our hearts are instantly changed to the extent of our new awareness. From that moment, if we are determined enough, we shall strive in remembrance of this revelation to free our sense of identity from the limitations of sensation and thought imposed on our Infinite, Eternal Consciousness by our naive acceptance of space, time, and motion as absolute values independent of anyone's awareness.

We love according to our sense of identity. If we are exclusively identified with our bodies, we love other bodies. If we are partially identified with our minds, we prefer thinking creatures. As our thoughts evolve, we become more selective. As we concentrate our minds, we concentrate our love and discover a finer oneness.

So it is easier, if we catch a glimpse of the Transcendent Nature of Consciousness, to turn our hearts towards IT, and offer our identity to ITS True, Eternal, Infinite BEING. MA IS such a Perfect EXAMPLE. The slightest thought of Her propels the mind beyond thought into meditative Bliss. Her Divine Form and Her Formless SPIRIT are Inseparable.

To love oneself as only a body or a mind is offensively egotistical because it shuts out all other bodies and minds.

To transfer one's identity to Pure Consciousness, by loving that Consciousness, is sanctifying, a blessing to oneself and a blessing to all others. For all Creation is known to be *not* the product of motion in time and space, but the Product of Consciousness. When Oneness with Consciousness is achieved, then a most Magical, Wonderful, Blissful ONENESS With All Creation is also achieved; and the limitations of Creation are Enjoyed along with the Infinity of The Creator.

So MA IS AT HOME with everything and every condition. She can watch Her Foot burn, take on the diseases of others, or share the love of Her devotees with the same Divinely Inviolate, Blissful Equanimity.

"God's grace pours down everywhere and at all times. According to one's self-dedication, one will receive enlightenment. To pray constantly for God's grace is man's duty."

—Mata Anandamayi

Philosopher and Mystic Sri Madhusudana Saraswati

T. Krishnaji

A teenager, Kamalanayana, walked with his bundle of books from Nawadwipa in East Bengal to far off Varanasi, to study *Advaita Vedānta* with a view to be its critic. Ultimately he became a champion of *Advaita Vedānta.* Kamalanayana was none but the ascetic Sri Madhusudana Saraswati, a virile *Advaitic* scholar and an ardent devotee of Lord Krishna.

Pramod Purandaracharya was a learned Brahmin of Kotilapada Village in Chandradwipa (Faridpur District) in East Bengal. King Kandarpa Narayan was his patron. Purandaracharya had four sons, all of them grew to be reputed scholars. His third son, Kamalanayana, was a poetic genius, who by his eighth's year mastered the classical literature and became a gifted poet. His period of life is fixed differently by different scholars, namely, 1540-1623 A.D., 1570-1640, and 1525-1632 A.D. When Kamalanayana was twelve years old, his father took him to his patron king for introduction. Though the king received them cordially, he had no time or inclination to hear the young poet. Finally they returned disappointed to their village by boat. On their way, the boy was pensive, keenly feeling his father's disappointment. He told his father that he had decided to utilise his talents in praise of God and of no mortal; and beseeched his father to permit him to take to *sannyāsa* āsrama. Purandaracharya yielded to his son's request but told him to obtain his mother's assent as well and that he should study scriptures before adopting *sannyāsa.*

Reaching home, Kamalanayana secured his mothers blessings and permission to become a *sannyāsi.* Hearing about Sri Gauranga Deva and his preaching of devotion to Bhagavan Sri Krishna, Kamalanayana left home for Nawadwipa. On his way he had to cross the river Ganga. Kamalanayana offered his prayers to Mother Ganga and unexpectedly, a boatsman came and helped him to cross the river. He reached Nawadwipa but was disappointed to learn that Sri Gauranga Deva had left for Jagannatha Puri. He met many devotees of Sri Gauranga Deva and his faith and devotion to Sri Krishna were strengthened. He decided to write on *bhakti* philosophy. He thought it necessary to study *Nyāya* philosophy, which treats *Bhagavān*, *jīva* and *jagat* as separate, enabling development of devotion. He studied *Nyāya* under two reputed scholars, Mathuranath Pandit and Hariram Tarka Vagiswar and mastered *Nyāya* quickly. Thereupon Kamalanayana thought that he should study *Advaita Vedānta* before attempting to be its critic. He walked all the way to Varanasi, braving insecure roadways and troublous conditions.

From early ages, Varanasi had been the spiritual centre of *Advaita Vedānta*, and several ascetics and scholars had illumined that city with their learning. At the time Kamalanayana reached Varanasi, there were Rama Tirtha, Narayana Bhatta, Madhava Saraswati, Appayya Dikshit, Vireswar Saraswati, etc., reputed for their scholarship and asceticism. Kamalanayana studied *Advaita Vedānta* under Rama Tirtha and Madhava Saraswati. When he mastered *Vedānta*, he realized the truth of *Vedānta*, and that true devotion is possible only on Self-realization. One should realize the *Ātmā* before self-surrender or *Ātmā samarpana*. Kamalanayana confessed to his Guru Rama Tirtha that he had committed a sin in not disclosing his intention that he wished to study *Vedānta* with a view to be its critic. Rama Tirtha advised him to write on *Advaita Vedānta* criticising the objections to it levelled in *Nyayamrita* of Vyasa Tirtha, a *Dwaita* scholar, and that he should take to *sannyāsa āsrama*, when any blemish of non-disclosure of his intention to the Guru would be absolved.

Madhusudana Saraswati became a passionate advocate of *Advaita Vedānta* and an ardent devotee of the personal god Sri Krishna. Many people fail to understand how a *Jñani* could also be a *Bhakta* and see contradictions in a person who is both. Sri Sankaracharya, the foremost philosopher, mystic, reformer, and missionary, had systematised the *Advaita* philosophy. *Advaita Vedānta* postulates the attributeless Brahman as the Sole Reality; that *Jiva* is non-different from this Reality that all else is mere appearance and that Self-enquiry is the way to *Jñāna*. The ways of work and worship are preliminary steps to *Jñāna*. The accommodative spirit of *Advaita* attracts the best minds of all countries. Sankara himself was a great devotee, who sang his devotion to all gods of the Hindu pantheon. Sankara denounced *Jñana-Karma Samuchhaya*, integration of *Jñana* (egoless State) with *Karma* or devotion (ego states). Each has its own place. In the post-Sankara era, *Advaita* philosophy was severely criticised by dualists and modified dualists, which resulted in much polemical literature.

The middle ages in India was the golden age of *bhakti*, inspired by several saints, whose ecstatic devotion and preachings moved the masses to devotion. *Advaita Vedānta* with its accommodative spirit could not escape the devotional fervour of the age. Appayya Dikshit 1554-1626 (another view 1520-1593), a senior contemporary of Madhusudana Saraswati, was a great dialectitian and a passionate devotee of God Śiva. To an *Advaiti*, all manifestations of *Iṣwara* are the same, but he chooses one of them as *Iṣṭa Devata*. Madhusudana preferred god Sri Krishna, whom he adored as the highest Reality. The *Advaita* doctrine believes in the grace of God as a preliminary requisite. Sri Sankaracharya refers to the ways of *Karma* and *Bhakti* as but rungs of the ladder leading to *Jñana* (Upadesa Panchakam). In one of his verses, Madhusudana reiterates this view, "Those who drink the nectar of the lotus feet of Govinda would have a pure mind to cross the occean of *saṁsāra*. They will have the vision of unveiled light and obtain *Ātma Tattva* taught in the Upanishads and, freed from the delusion of duality (a dream), will be filled with pure bliss."† A deep study of the Upanishads and *Advaita Vedānta* led him to the view that God is immanent and true devotion or *Ātmā Samarpana* or Self-surrender is possible only if God is immanent and not transcendent. In the fulness of non-differentiating devotion, the light of knowledge dawns.

Kamalanayana approached Vireswar Saraswati requesting him to initiate him into *sannyāsa āsrama*. Vireswar Saraswati told him to wait for some time. Mere learning is not sufficient; devotion and dispassion (*vairāgya*) are essential doorways to enter the *sannyāsa āsrama*. He told Kamalanayana to write a commentary on the Gitā and that he would consider his fitness for *sannyāsa* on returning from a short pilgrimage. On his return Vireswar Saraswati read the Gita commentary written by Kamalanayana, and pleased thereat, initiated him into *sannyāsa āsrama* and gave him the name of Madhusudana Saraswati.

After entering the *sannyāsa* āsrama, Madhusudana Saraswati accompanied his Guru to Mathura and Vrindaban. The Guru directed

---

† श्रीगोविंद पदारविंद मकरंदास्वद शुध्धासयाः
संसारांबुधिमुत्तरंति सहसा पस्यंति पूर्णं महः ।
वेदांतैरवधारयंति परमम् सूय स्त्यजंति भ्रमं
द्वैतंस्वप्नसमम् विदंति विमलां विंदंति चानंदितां ॥

Madhusudana Saraswati to choose a quiet spot on the bank of the Jamuna to carry on *jñāna nishta* (spiritual practice). Madhusudana remained alone on the Jamuna bank, immersed in God-conciousness. Whenever he regained outer conciousness, he beheld the unique sight of Sri Krishna, flitting like a blue flame on the sandy bank of the Jamuna river.He sang ecstatically : "Let the yogis through yoga practice and mind control perceive that undefinable Supreme as Effulgence, devoid of attributes and activity. Let me ever have the sight of that Blue Flame (Sri Krishna) flitting on the Jamuna bank."† Madhusudana reached the heights of *para bhakti*, when the devotee, the act of devotion and devotion merge in the nondual resplendent Brahman, the state of '*Vāsudevam Sarvamayam*' वासुदेवं सर्वमयं.

One of the queens of Emperor Akbar suffered from an incurable illness and in a dream she was directed to approach a *sannyāsi* on the bank of the Jamuna at Mathura to seek relief. She came to him and described her ailment. Madhusudana told her to go home and that she would be well. Accordingly she regained her health and Akbar sent presents to Madhusudana. He did not accept the presents but sent a message that it was the bounden duty of a king to protect his people and their faith and that he should observe this scrupulously. The fame of Madhusudana Saraswati spread not only because of his scholarliness but also as a *Mahātmā*.

Tulasidas (1532-1623) the author of *Sri Ramacharitmanas* was a friend of Madhusudana Saraswati. The *pandits* of Varanasi harassed Tulasidas for writing the Ramayana in *prakrit* language (Avadhi Hindi) instead of Sanskrit. The pandits carried their complaint against Tulasidas to Madhusudana, who wrote a verse saying, "in the woods of Varanasi, Tulasi is a moving plant, blissful and the bee of Sri Rama has adorned the muse of Tulsidas with his endearing kiss." Tulsidas and Madhusudana introduced the element of Rama and Krishna *bhakti*. in Varanasi, the citadel of *Vedānta*.

Madhusudana was a towering figure among the post-Sankara *Advaita* scholars. He wrote several works in support of *Advaita* refuting the criticisms against it. He also wrote on devotional philosophy. Namely : (1) Commentary on the Dasa Sloki of Sri Sankaracharya called *Siddhanta Bindu* (2) *Gudartha Deepika*, commentary on the Bhagavad Gita (3) *Advaita Siddhi,* the last word on Advaita philosophy to withstand successfully the vehement criticism in Nyayamrita of Vyasa Tirtha, a dualist, (4) Samkshepa Sareeka Vyakhya. (5) Advaita Ratna Raksha. (6) Prasthanabheda, a summary of the *darśanas.* (7) Commentary on Siva Mahimna Stava (8) Vedanta Kalpalatika. (9) A commentary on the first Verse of the Bhāgavata and (10) Bhakti Rasayana, Philosophy of devotion with 11 groundings called Bhumika, on the model of Jñāna Bhumikas enumerated in Jñāna Vasista Ramayana. Madhusudana Saraswati's contribution to devotional philosophy is its treatment as an independent *Puruṣārtha.*

---

† ध्यानाभ्यासवशी कृतेनमनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किचन योगिनो यदि परं पश्यन्तिपश्यन्तुते
अस्माकं तु तदेव लोचन चमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिंदी पुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महोघवति ॥

His fame as a great thinker and scholar spread all over the country and many students, belonging to different creeds and philosophic persuasions, came to him for study and he admitted them without making any distinction. Balabhadra Bhatt, Purushothama Saraswati, Jiva Goswami and his nephew Rupa Goswami (of the Chaitanya School), Ramacharya, a disciple of Raghottama Tirtha, were some of his noted disciples.

He was revered and honoured by all classes of people, princes, ascetics and laymen. He was one of the invitees of Akbar's Divine Faith Concourse (*Din-i-ilahi*).

Raja Todarmal respected him. In those days the Mullahs and Muslim fakirs were a privileged class wielding weapons and arms. They harassed the Hindu *sādhus* and *sannyāsis* and no court could entertain complaints against their criminal acts. The *sādhus* and *sannyāsis* made representations to Madhusudana to use his good offices with the Emperor and his ministers to get redress for their grievances. When Madhusudana approached Akbar and Todarmal, they pleaded their helplessness to remove the privileges of the mullahs and fakirs and suggested that the *sādhus* and *sannyāsis* should also be armed in self-defence.

Madhusudana was not a dreamer. He was bold and practical. He gave initiation into the ascetic order to all classes of people and was a pioneer in creating a *militant* section of the ascetic order to safeguard the life and liberty of the weaker section.

He lived long in the service of *Advaita* philosophy and Hindu ascetics but was always permeated with the fragrance of devotion to God Sri Krishna. He foresaw his end and left Varanasi, in 1623, at the age of 107 years, for Hardwar, the gateway to the celestial regions. He sang his devotion to Sri Krishna ecstatically;

> "Oh Krishna, I know not any Reality but Thee,
> You of the colour of the newly formed cloud,
> With crimson lips, moon-like face,
> Eyes like lotus petals, garbed in yellow cloth,
> Holding the flute."‡

Contemplating Sri Krishna and ecstatically singing his devotion to Him, Madhusudana gave up his body to the sacred waters of the Ganga.

Madhusudana Saraswati is a unique personality in the history of *Vedānta* and *Bhakti*. He combined vast learning and forcible expression, quickness to appreciate contemporary conditions and readiness to meet the challenges to freedom, with a capacity to organise. He was a great dialectitian, a staunch exponent of the Advaita philosophy and an ardent devotee of Lord Sri Krishna. One rarely meets a personality like him. He is one of the immortal sons of *Bharata Desa*, remembered by *jñānis* and *bhaktas*. May he inspire generation after generation of the Hindus with devotion and faith in the divine nature of man.

---

‡ वंसी विभूषित करात् नवनीरदा भात्
पीतांवरात् अरुण विंव फलाधरोत्वात् ।
पूर्णेंदुसुंदर मुखात् अरविंद नेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने ॥

Gita and Gandhi

Saroj

Gita and Gandhi are two terms intimately related to each other. As the *bhakta* is inseparable from *Bhagwān*, so is Gandhi from the Gita. As its fragrance is one with a flower, so was Gandhi with the Gita; as a body perishes without *prāna*, so Gandhi believed to perish in the absence of the Gita; and as a son cries out in grief without a mother, so did Gandhi without the Gita. After all, is it ever possible to live without life ? Can one think of existing being devoid of *prāna* ? For Gandhiji the Gita was not only a holy book, not a scripture of religious exhortations and certainly not a piece of literature. It was, as a matter of fact, the very motherhood re-incarnated in the shape of the Gita that used to comfort him in moments of overwhelming sorrow. Gandhiji himself said once :—

"Whenever I am in grief, I turn to Mother Gita and sit in her lap to be comforted for ever."

The Gita, to Gandhi, was the sheet-anchor, the chief support of his life's programme. After all, what he pursued and stuck to all his life was a programme of winning over his self on the inner plane and to set a pattern to be followed on the outer plane. This was the grand plan he had adopted from the very beginning of his fight for freedom and he died in harness for it.

How was the spirit of the Gita imbibed by Gandhiji to attain the pinnacle of glory ? Let us understand this. Gita epitomizes the essence of all religions, all creeds and all modes of philosophical thoughts by highlighting the omnipresence of One all-pervading Spirit everywhere as Lord Krishna says :—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

"There is nothing superior to Me, O Dhananjaya ! All this is threaded on Me, as rows of gems on a string."

Truly-speaking, Gandhi was the Gita and the Gita, Gandhi. In the face of any serious problem, Gandhiji used to consult the Gita as a doctor consults his 'Materia Medica' or a scholar consults a dictionary. He had a subtle realization of this thought. He worshipped the sloka—

मन्मना भव मद्भक्ता मद्याजी मां नमस्कुरु ।

"On Me fix thy mind, be devoted to Me; sacrifice to Me; prostrate thyself before Me..." and stuck to it throughout his life. Not only this, the Mahatma's whole life was a manifestation of the Gita in practice. On account of his complete identification with the ideals of the Gita he ought to be remembered as a living Gita, because whenever he smiled, the Gita smiled; whenever he wept, the Gita wept; whenever he talked it appeared as if the living Gita was talking and whenever he walked, it seemed as if the Gita walked in the form of a faqir for the elevation of her harijans, her own kith and kin. What is the Gita after all ? The Gita is :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धः गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

"All the Upanishads are the cows; the Milker is Gopal, the joy of the cowherds; Partha is the calf; the man of high intelligence is the enjoyer; the milk is the great nectar of the Gita." And what is the use of the Gita ? For this, it is said in Chhandogyopanishad :—

एतस्मिन् विज्ञाते सर्वँ विज्ञातं भवति ।

In other words, if you know the Gita, nothing is left unknown. Within five hundred slokas, the Srimad Bhagwad-Gita has placed many patterns of spiritual evolution before humanity, such as *Sthitaprajña*, *karmayogi*, *bhaktimān*, *gunātīta*, *sanyāsi*, *samādhistha*, etc.No doubt, there have been numerous venerable men who have reached the height of one path or another, but there are few in whom the highest qualities of all the paths of spiritual evolution are found blended so harmoniously as in Mahatma Gandhi. His life was a rare combination of *sanyāsa*, *yoga*, *bhakti* and *jñana*, It was, indeed, a paradox of spiritual wonders attained in the midst of scientific glories. By all means, his was a standing monument of *samanvaya*.

Between thinkers and religious teachers there has been an age-long controversy over the adoption of *pravritti marga* or *nivritti marga*.

That means : should one remain devoted to life for attaining the highest bliss or should one retire from life in order to experience beatitude in the shape of *mukti* or *moksha* ? Each great man has interpreted the Gita according to his own path. Adi Sankaracharya interpreted the Gita as the scripture of *nivritti*, while others like Tilak and Sri Aurobindo regarded the Gita as a bible of *pravritti.* Gandhiji also emphasized *pravritti mārga* more but with a difference, as he advocated a synthesis of both. He often felt and exclaimed in his moments of spiritual ecstasy :—

"*Pravritti* and *nivritti*, like truth and *ahimsa* are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them. They are like two sides of a coin, who can say which is the obverse and which is the reverse ?" Nevertheless, *pravritti* is the means and *nivritti* the end. One is engaged in work in order to become free from work. One eats in order to get rid of pangs of the hunger. One relishes sleep in order to get rid of fatigue. One talks in order to purge oneself of the passion for speaking and to become speechless in time. Similarly, one becomes attached to the world in order to cut off the shackles of worldliness. The more attached one is, the stronger is the urge to be free. No world, no *mukti.* One aspires for *moksha* or pines after *mukti* because of the thirst for life. A moment comes when the action of life turns inward; passion has reached full circle and tables turn. One then begins to look within. What happens later is pictured beautifully in the Gita—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥

"He who forsaketh all desires and goeth onwards free from yearnings, selfless and without egoism—he goeth to Peace."

About the concept of *karma*, Gandhiji had a very simple definition to offer on the basis of the Gita.

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

"Man, attains perfection by each being intent on his own duty." What a practical suggestion to all of us. There can be no problem of educated unemployment, if the students follow this advice of Lord Krishna, so wonderfully practised by Mahatmaji.

The mission of Gandhi's life was the realization of God, a complete *sākshātkāra* with Him through the service of mankind. What

Mahaprabhu Gauranga's followers had attained through the constant chanting of "Hari bol" and Tulsidas had attained through his renunciation of the world, the same was attained by Bapu through the service of India's teeming millions. The sense of service was the guide-line, the torch-bearer of Gandhi's life. The constant practice of *samatva* (equality) in all walks of life, then, became his song of humanity, his message of eternity : Mounting on this platform of equality, Gandhiji heralded a new era of non-violence and truth in an age of violence and hatred.

Mahatmaji felt craving for sense objects to be the root of all evils, as the Gita declares—

ध्यायतो विषयान्पुंसः, संगतेषु उपजायते ।
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोध उपजायते ॥
क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

Let us be free from egotistic desires and be prepared to find the One all-pervading Spirit everywhere. The Upanishad says—

एकमेव द्वितीयो नास्ति ।

"There is One without a second." The Gita too declares—

"I am the origin of the whole. All merge in me and I merge in all."

Gandhiji believed Karma Yoga to be the central message of the Gita. He said that sacrifice of the fruit of action was better than action itself. What do you lose if you decide to offer the fruit at the feet of the Master by saying :

"Lord ! You have made me achieve this good or bad deed. It is your creation; hence its fruit is yours."

Even if we commit thousands of blunders by telling lies or deceiving our own self, or disobeying our elders, we lose nothing by offering the fruit of our action at the master's feet. In this process of offering, we shall certainly come to see the light of God that has been denied to us so far. At this sacred moment, I appeal to you all to experiment with the *gitātmak* principles of Gandhiji to create a climate of tranquillity and an epic of humanity. In this age of science, when the moon-dust is being examined in the labs of America, let us create a science to experiment with the Gandhian ideals, in the labs of India for the welfare of the world.

Sacred Places of Kashmir, Jammu and Ladhak

A Devotee

अथ वैवस्वतीयेऽस्मिन्प्राप्ते मन्वन्तरे सुरान् ।
द्रुहिणोपेन्द्ररूद्रादीनवतार्य प्रजासृजा ।।
कश्यपेन तदन्तःएथं घातयित्वा जलोद्भवम ।
निर्ममे तत्सरोजभूमौ कश्मीरा इति मण्डलम् ।।

SRINAGAR

[During the present period of Vaivaswata Manu, Prajapati Kashyapa induced the gods Druhina, Upendra, Rudra and others to descend on earth and cause Jalodbhava, who resided there, to be killed. He then founded the kingdom of Kashmir upon the site of the lake].

Srinagar is the capital of Kashmir. It is situated at a distance of about four hundred kilometers north of Pathankot Railway station in Punjab and two hundred ninety-three kilometers north of Jammu. Srinagar is a Sanskrit word which means 'the beautiful city'. It was founded by King Pravarasena II who reigned in Kashmir from 110 A. D. to 170 A. D. The city is on the banks of the sacred river Vitasta of which the modern name is Jhelum. It is about 5,000 feet above sea level and lies between two hills; one of them is called Hari Parvat and the other Shankaracharya Tila. Both the hills and the river Vitasta are regarded as very sacred in Kashmir.

The river Vitasta is mentioned in the Vedas and Puranas. It is said that the Goddess Parvati incarnated in the form of this sacred river in Kashmir in order to free the land from pishachas.* The great sage Vyasa has written about the sanctity of this river in the Mahabharata, a verse of which is given below :

वितस्ता च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ।।†

---

* The Rājatarangini, first Taranga, verses 26-27.

* A type of evil spirit.

† The Mahabharata, Vanaparava, chapter 82, verse 89.

[The sage Pulastya said to Yudhisthira, "O King ! By visiting the river Vitasta and propitiating the forefathers and gods by offering its waters, a man acquires the merit of performing the *Vajapeya** sacrifice."]

As to the origin of the sacred hill of Hari Parvat it is said that in very ancient times the valley of Kashmir was a vast lake called Satisaras (the lake of the goddess Sati). A demon named Jalodbhava resided in this lake and committed atrocities in its neighbourhood. The gods being unable to subdue him, approached the goddess of wealth (Lakshmi) for help, She took the form of a parrot (sharikā) and taking a pebble in her beak dropped it in the middle of the lake where the demon was residing. The pebble swelled into a big mountain and crushed the demon under its weight. The gods then took shelter in this mountain which is therefore called Hari Parvat (the mountain of the gods). It is also called Sharika Parvat.

However, according to the Nilamata Purana the account is slightly different. There it is said that the great sage Kashyapa, the father of the gods and nagas came to this place for a pilgrimage. Nila Naga, the head of the nagas, requested him to save the nagas from the atrocities of the demon Jalodbhava, who lived in the lake Satisaras. Kashyapa felt sorry for their plight and prayed to Lord Brahma to destroy the demon. At Brahma's behest all the gods assembled near Satisaras and took their position on the lofty peaks surrounding the lake to fight the demon. Balabhadra drained the lake by piercing the mountains with his plough-share. When Jalodbhava became visible, Vishnu killed him with his discus called Sudarshana. The gods and the nagas then took their abode in this new land, while the goddesses adorned the land in the shape of rivers and rivulets.

Every stone of Hari Parvat is regarded as sacred and representative of the gods. There are a number of sacred shrines on this hill, the shrine of the goddess Sharikā being the most ancient. A rock in the shrine is regarded as the emblem of the goddess. There is a *Srichakra* (symbol of the goddess) embedded on this sacred rock which remains covered with vermillion. It is visible only in summer when the vermillion mixed with oil trickles down and evaporates. It is said that the throat of the dead body of the goddess Sati, when cut to pieces by

---

* A type of sacrifice mentioned in the Vedas.

Vishnu bit by bit with his discus called 'Sudarshana', fell at this spot. Hence it is regarded as very sacred. The following verse from the sacred Tantrachudamani may be noted in this connection.

काश्मीरे कण्ठदेशश्च त्रिसंध्येश्वर भैरवः ।
महामाया भगवती गुणातीता वरप्रदा ॥

[The throat of the goddess fell in Kashmir. The God (Bhairava) is called Trisamdhyeshwara and the Goddess (Bhagwati) is called Mahāmāyā, who is the giver of boons and who is beyond the three *guṇas*.]

The goddess Sati was born as a daughter of Daksha Prajāpati. She was married to Siva but Daksha was not pleased with Siva, his son-in-law. Once Daksha performed a big sacrifice. To this sacrifice he invited all the gods and goddesses, saints and sages, but he did not invite Siva and Sati. Sati came to know about this great sacrifice which was being performed by her father Daksha. Even though uninvited she was eager to go to her father's house to witness the great sacrifice. Siva, who knew what would be the consequences of this great sacrifice, unwillingly gave his permission. Sati, with her attendants, then went to Daksha's house (this place is identified with Kankhal near Hardwar in the Saharanpur District of Uttar Pradesh), but her father did not welcome her. He began to speak ill of Siva which Sati could not bear. She gave a fitting reply to her father's abuses hurled against her revered husband, but her heart was so full of sorrow that she could not endure the insult. She breathed her last on the spot itself. Her attendants then carried the sad news of her demise to Lord Siva in Kailās. On hearing the news Siva's sorrow knew no bounds. With his attendants he proceeded to Daksha's place. The sacrifice was destroyed and Daksha with many others like him were killed. Brahmā and other gods then pacified Siva by their prayers. At their request Siva brought Daksha back to life, but, as a punishment, his head was replaced by the head of a goat. Siva then left the place carrying Sati's dead body on his head, and began to wander about on earth like a mad-man. Gods and sages were upset at Siva's behaviour, fearing that the entire creation might collapse. Vishnu, at their request, then began to cut the dead body of Sati into pieces with his discus so that Siva might in the long run be freed from this infatuation. The place where the pieces of Sati's dead body fell to the earth are regarded as very sacred. They are fifty-one in number and are called "*Pithasthāna.*" In each of these sacred spots the goddess Sati has got a special name and so also Lord Siva.

At the foot of the southern extremity of Hari Parvat, close to Bachdarwājā of Akbar's fortress, there is an ancient shrine of Lord Ganesha called Bhimaswāmi. It is said in the Rājatarangini that due to the great devotion of King Pravarasena, the image of Ganesha in the shrine turned his face from west to east in order to show that the god was not averse to his city.

नगराप्रातिलोम्याय भक्तया तस्य विनायकः ।
प्रत्यंमुखः प्रांमुखतां भीमस्वामी स्वयं ययौ ॥*

[Due to his (Pravarasena's) devotion, Vināyaka Bhimaswāmi, of his own accord, turned his face from west to east, indicating that he was not averse to this (Pravarasena's) city (Srinagar).]

At the top of the Sankarāchārya Hill, situated at a distance of about four kilometers from the town, there is a very ancient and famous temple of Siva. It stands on the site of a more ancient temple which, according to Major General Cunningham, was built by King Jalauka, son of emperor Asoka, in about 200 B. C., but according to others it was originally built by King Sandhimat (2629-2564 B. C.). The temple was perhaps first rebuilt in the sixth century A. D. and thereafter again in the eighth century A. D. by King Lalitāditya. It was then named after the great Sankarāchārya who visited Kashmir and revived Hinduism there also. He is said to have lived on this hill for some time. Previously the hill was called Gopādri. The Muslims call it Takht-i-Sulaiman and the Buddhists call it Pas Pahar. It is said that one of the successors of Sankarāchārya also visited Kashmir during the reign of Abhinava Gupta (993-1015 A. D.) and stayed on the Sankarāchārya Hill for some days. He believed in Brahman, the Supreme, all-pervading formless without any attributes, and did not believe in Śakti (Goddess, the manifestation of Brahman as Supreme Power). One day, when the saint was hungry, he saw a milk-maid carrying milk at the foot of the hill. He called out to her to supply him with milk. The milk-maid asked him to climb down the hill and take the milk. As he was weak, he told her that he had no strength ('Śakti') to walk down the hill. Hearing this, the milk-maid said to him, "How can you have *Śakti* when you do not believe in *Śakti* (Goddess) ?" This opened the eye of wisdom of the saint. He realized that the Goddess herself had favoured him with this reply and cleared his doubts about her existence. From then he began to believe in the Goddess and subsequently composed the well-known hymn called 'Saundarya-lahari' (which literally means 'Waves of Beauty') in her praise*. A verse from this beautiful poem is given below.

---

* The Rajataragini.

नमः शिवाभ्यां नवयौवनाभ्यां
परस्पराश्लिष्टवपुर्धराभ्याम् ।
नगेन्द्रकन्यावृषकेतनाभ्यां
नमो नमः शंकरपार्वतीभ्याम् ॥

[I bow in reverence to Siva and his spouse Pārvati who are in their prime of youth and who have clasped each other in embrace and united to form a single body. I bow in reverence again and again to Sankara and Pārvati, the former having a flag bearing the portrait of an ox and the latter being the daughter of the king of the mountains (Himalayas).]

The Siva temple on the hill is a splendid structure of stone with a Siva Linga installed in it. It commands a beautiful view of the surrounding scenery. It is the oldest temple surviving in Kashmir. It is said that Shikandar-But-Shikan did not demolish this shrine because he had an idea that the Mahmud of Ghazni had read his prayers in it.†

At Ghat Somyar, below the second bridge on the Jhelum, there is a sacred spot called 'Somatirtha.' It lies in the locality named Sudarmar.

The confluence of the Jhelum with the Tsunth Kul (ancient Mahasarit) issuing from the Dal Lake on the outskirts of Srinagar is regarded as very sacred from ancient times. Its name is Marisangama.

Near Shan-i-Hamdan, on the right bank of the Jhelum in Srinagar, there is a very holy spring sacred to the goddess Kali. There was a temple over this spring which was constructed by King Pravarasena II (110-170 A. D.) and was called Kaleshwari. The locality, even today, is called Kalaspur which is a corruption of Kaleshwaripur. The ancient temple was destroyed by Kutb-ud-din (1373-1394 A.D.), who, with its materials, built a mosque‡ named after Syed Ali Hamdani who came from Hamdan in Persia in the fourteenth century A.D. and converted a large section of the people in this area to Islam. When the Sikhs came to power in the Kashmir valley, Sardar Hari Singh, the Governor, ordered the demolition of the mosque and the restoration of the site to the Hindus because it was originally a Hindu shrine. According to this order preparations were being made to blow up the mosque with canons, when the Mohammadans of Srinagar entreated Pandit Birbal Dhar to request the Governor to refrain from demolishing the mosque. Birbal Dhar being mainly responsible for establishing the Sikh Government in Kashmir commanded great influence in the government in those days. Out of compassion, he approached Sardar Hari Singh and requested him not to demolish the Muslim shrine, as the Hindu shrine (i. e. the sacred spring) was well protected, being within the enclosure of the mosque, which, if demolished, would expose the holy spring to constant pollution by all sorts of people. The Sardar then refrained from knocking down the mosque. Since the spring is inside the mosque the pilgrims can see it only from outside.*

---

* See "Archaeological Remains of Kashmir" by Pandit Anand Kaul.

† See "Kashmir Through the Ages" by Pandit Gwasha Lal Kaul.

कालिकाये विदमहे श्मशानवासिन्यै धीमहि
तन्नो घोरे प्रयोदायात् ॥

(According to the precept of the preceptor I know the Goddess Kalika. I meditate on Her, who dwells in the cremation ground. May that meditation and the knowledge save me from this dangerous world).

SWAYAMBHU

स्वयंभूर्यत्र हुतमुख् भुवो गर्भात्समुन्मिषन् ।
जुह्वतां प्रतिगृह्णाति ज्वालाभुजवनैर्हविः ॥ *

(There the self-created Śiva, incarnated as Fire rising from the womb of the earth, receives with numerous arms of flame the offerings of the sacrifices.)

---

‡ There is a walking stick kept in this mosque, which is said to have been used by Jesus Christ. This stick is exhibited to the public on rare occasions.

* See 'Archaeological Remains of Kashmir' by Pandit Anand Kaul.

Swayambhu, the place named after Śiva called *Swayambhu* (the self-created), which is now known as Suyam, is a sacred place situated about a kilometer to the south-west of the village called Nichiham in Machhipura Tehsil of the Baramula District in northern Kashmir.

Pilgrimage takes place at Suyam once in a period of about thirty years when the earth there gets heated naturally and remains so for about a year. The pilgrims cook rice with water in pots by burying them upto their neck in the earth. The cakes of cooked rice are then offered as '*pindas*' (morsels of food) to the departed souls of the forefathers. Sacred flames are also produced by digging holes into the hot earth and pouring *ghee* (clarified butter), honey or sugar, and camphor into them.

According to the *Swayambhu-mahātmya* (the book describing the glory of *Swayambhu*), the self-created God Siva incarnated at this place as Kālāgnirudra (Siva in the form of destructive fire) at the request of the gods who were oppressed by the demons (*asuras*). The following is a verse from the Nilamata which tells about *Swayambhu.*

स्वयंभूवं वह्निकृतं तथा वै पिंगलेश्वरम् ।
विन्दुनादेश्वरं देवं देवं भद्रेश्वरं तथा ॥†

[There is the god *Swayambhu* in the form of Fire and there is the God Pingaleshwara. There is the god called Vindunādeshwara and there is the god Called Bhadreshwara].

At Halamatpura, another village in the same Tehsil of the district, there are five sacred springs situated near one another. In one of them there is a Śiva Linga.

त्रयी साङ्ख्यं यागं पशुपतिमतं वैष्यवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परभिदमदः पथ्यमिति च ।

---

* The Rājatarangini, first Taranga, verse 34.

† The Nilamata, verse 1021.

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥*

(Though the ways differ which are spoken
of in the three-fold Veda,
Sānkhya, Yogaśhāstra, the doctrine of
Pashupati, and Vaiṣṇava Shāstra;
Though some take this and others that to be the better path,
And followers of the various paths
both directly and indirectly dispute,
Yet Thou alone art the Goal of all
As is the ocean of every river.)

BHADRAKĀLI

Bhadrakāli, which is now wrongly pronounced as Badrkal, is a sacred village named after the goddess Bhadrakāli. It is situated about six kilometers south-east of the village Krambhar, which is at a distance of about ten kilometers north-east of Swayambhu.

There is a spring sacred to the goddess Bhadrakāli in the village. The Nilamata tells about the worship of the goddess in the following verse—

ततोऽस्टम्यां पूजनीया भद्रकाली यथाविधि ।
उपसितैराराध्यैर्धूपैर्मात्यैर्वस्त्रादिभिरपि ।
दीपैरत्नैस्तथा भक्षैर्फलैर्मूलैस्तथैव च ॥†

(There on the eighth day, the Goddess Bhadrakāli is to be worshipped according to rules by fasting and by offerings of flowers, water, incense, garlands, clothing, light, gold and eatables like fruits, roots etc.)

---

* Shivamahimnastavah, verse 7. Translation by Arthur and Avalon.

† The Nilamata, verses 650-651. One line is missing.

THID

सिंहारूढां त्रिनेत्रां करतलविलसच्छंखचक्रासिरम्यां
भक्ताभिष्ठप्रदात्रीं रिपुमथनकरीं सर्वलोकैकवन्दयाम् ।
सर्वालङ्कारयुक्तां शशियुतमुकुटां श्यामलाङ्गीं कृशाङ्गीं
दुर्गा देवीं प्रपद्येशरणमहमशेषापदुन्मूलनाय ॥

(In order to be saved from unending miseries I take refuge in the Goddess Durgā, who is seated on a lion, who is of light green colour, who has a slim figure, who wears all ornaments, whose crown is the moon, who has three eyes, who gracefully holds in her hands the conch, sword and discus, who fulfils the desires of Her devotees, who kills their enemies and who is worshipped by all men.)

Thid is an ancient village, which is situated on the eastern shore of the famous Dal Lake on the outskirts of Srinagar. Its ancient name is Thedā.

There are seven holy springs at Thid which are regarded as sacred to the Goddess Durgā. It is said that the goddess performed austerities at the adjoining village of Bran, the ancient name of which is Bhimādevi.

Bhimā is another name of the Goddess Durgā.

The five springs issuing from the hills by the side of the nearby hamlet Dampur are supposed to comprise the sacred Tirtha of the goddess Bhimādevi. This place is now occupied by a mosque.

Kalhana tells about the sacred villages of Thedā and Bhimādevi in the following verse of the Rājatarangini.

थेदां च भीमादेवीं च देशश्चान्यान्पदे पदे ।
स मठप्रतिमालिङ्गै हेम्यैर्निन्ये महार्धताम् ॥*

(By erecting at every spot *mathas* (temples with towers), statues of gods and emblems (*Linga*), he (king Sandhimat) gave splendour to Thedā, Bhimādevi and other places.)

TRAL

ॐ कालिका घोररूपा सर्वकामप्रदा शुभा ।
सर्वदेवस्तुता देवी शत्रुनाशं करोतु मे ॥†

---

* The Rājatarangini, second Taranga, verse 135.

† Kālikākavacham, verse 12.

(O Goddess Kālikā ! Thou art of terrible form, Thou fulfillest all desires, Thou art good and Thou art worshipped by all the gods, kill Thou my enemies.)

Tral is a town beautifully situated on a sloping plateau at the foot of the mountains at a distance of about ten kilometers north-east of Tsurus. It is about eight kilometers east as the crow flies from Avantipur which is about thirty kilometers north-west of Srinagar.

There are about twelve springs in Tral. Two of the springs called Diva Nāg and Kansabal are regarded as very sacred. There is an ancient shrine of the goddess Kāli at this place.

In the nearby village called Gheru, there is an ancient shrine of the goddess Gouri. The goddess Parvati is called Gouri because her body is white. The following verse tells about her origin and name.

योगाग्निदग्धदेहा सा पुनर्जाता हिमालये ।
शङ्खेन्दुकुन्दधवला ततो गौरीति सा स्मृता ॥

[After her body was consumed in yogic fire (fire that emanated from her meditation), she was again born in the Himalayas. Being as white as the conch, the moon and the *kunda* flower, she is called Gouri.]

The following is a verse from a hymn of Gouri.

आशापाशक्लेशविनाशं विदधानां
पादाम्भोजध्यानपराणां पुरुषाणाम् ।
ईशामीशार्धाङ्गहरां तामभिरामां
गौरीमम्बामम्बुरुहाक्षीमहमीडे ॥

[I worship Mother Gouri, who is the better half of Śiva, who is very delightful, who has got lotus eyes, who effects the destruction of the sorrows caused by the bondage of desires, of those who meditate on Her lotus feet.]

TRIPHAR

त्वं ब्रह्मा सृष्टिकर्ता च त्वं विष्णुः परिपालकः ।
त्वं शिवः शिवदोऽनन्तः सर्वसंहारकारकः ॥*

[Thou art Brahma, the Creator of the world, Thou art Visnu, the Preserver, Thou art Siva, the Giver of unlimited good and the Destroyer of all that is destructible.]

---

* Himālayakrita Shivastotram, verse 1.

5

Triphar is situated at a distance of about five kilometers towards east from the north-east corner of Dal Lake on the outskirts of Srinagar.

There is a peak lying east of Triphar called Mahādeva peak, which is sacred to Mahādeva.

In ancient times the sacred shrine of Śiva called Tripureshwara was located at Triphar. The following verse from the Rajatarangini tells about this sacred shrine.

त्रिपुरेश्वरभूतेशविजयेशेषु भूभृजा ।
स्नानद्रोण्या रौप्यभय्या तेन पीठत्रयं कृतम् ॥

[The king (Avantivarman, 855-883 A.D.) had at the shrines of Tripureshware, Bhutesha and Vijayesha three pedestals made with silver conduits for bathing water.]

The stream called Tripuraganga which flows by the side of Triphar is regarded as very sacred.

---

* The Rajatarangini, fifth Taranga, verse 46.

A Little Anthology on the Worship *of* THE MOTHER

(Compiled by Shivashankari)

Yā devī sarva bhūteshu śakti rūpena samsthitā
Namastasyee, namastasyee, namastasyee, namo namoha.

One has to approach, *Śankari - Śakti* to achieve *Parabrahman. Paramatman* - Siva - is in *Śakti* and *Śakti* is in Siva. The two are inseparable.

—*Mataji*

Do you aspire after Divine Grace ? Then propitiate the mother, the primal Divine Energy—*Śakti*. Yes, She is *Mahāmāyā* Herself. She it is who has divided the whole world and is conjuring up the triple device of creation, maintenance and dissolution. She has spread a veil of ignorance over all, and unless She unbars the Gate, none can enter the "Inner Court". Left outside, we see only the external things, but the Eternal One, *Satchidananda* remains ever beyond our ken.

—*Sri Ramakrishna*

To walk through life armoured against all fear, peril and disaster, only two things are needed, two that go always together : the Grace of the Divine Mother and, on your side, an inner state made up of faith, sincerity and surrender. Let your faith be pure, candid and perfect ...... Let your sincerity and surrender be genuine and entire. When you give yourself, give completely, without demand, without condition, without reservation so that all in you shall belong to the Divine Mother and nothing be left to the ego or given to any other power.

The more complete your faith, sincerity and surrender, the more will grace and protection be with you, and when the grace and protection of the Divine Mother are with you, what is there that can touch you or whom need you fear ? A little of it even will carry you through all difficulties, obstacles and dangers ; surrounded by its full presence you can go securely on your way because it is Hers, careless of all menace, unaffected by any hostility however powerful, whether from this world or from worlds invisible. Its touch can turn difficulties into opportunities, failures into success and weakness into unfaltering strength. For the grace of the Divine Mother is the sanction of the Supreme and now or tomorrow its effect is sure, a thing decreed, inevitable and irresistible.

—*Sri Aurobindo*

The path of the spirit is so simple that a child can walk it ; but grown-up people, who have complicated minds, for them the path is as sharp as the blade of a razor. The simple-minded are ever protected by the Divine Mother and She creates such an atmosphere about them that nothing can touch them. Everyone can acquire this atmosphere. Whatever you really want, you can gain. The power is within you. But you cannot do it if you take the egoistic point of view. If however, you surrender to Divine Mother and pray to Her with whole-hearted devotion, then nothing can prevent you from moving onward. You are sure to attain

—*Swami Paramananda Puri*

One must worship the Mother in all Her manifestations. She is the creative aspect of the Absolute. She is symbolized as Cosmic Energy. Energy is the physical ultimate of all forms of matter and the sustaining force of the Spirit. Energy and spirit are inseparable. The five elements and their combinations are the external manifestations of the Mother. Psychic power, intelligence, discrimination and will are Her internal manifestations. Humanity is Her visible form. One must feel that the Mother sees through one's eyes, hears through one's ears and works through one's hands. The body, mind, *prāna*, intellect and will and all their functions must be felt as Her manifestations. The one universal life throbs in the hearts of all. There can be no room for hatred and selfishness ; for hating another one is but hating the Mother; for being selfish to another, one is but denying one's own self. This consciousness must be driven deep into the heart. This ideal of divine oneness must be the practice for meditation.

Mother's grace is boundless, Her mercy illimitable. She is pleased with a little purity of heart. During the sacred *Navarātri*, one must not lose the glorious opportunity to make a definite and sincere attempt to obtain Her grace. She will transform one's entire life and bless one with the milk of divine wisdom, spiritual insight and *Kaivalya moksha*.

—*Swami Sivananda*

While the child is in its mother's womb, its inner power is united with that of his mother and thus there is knowledge of Reality. By the yogas of meditation or inquiry or by *kriyāyoga* and other yogas one must again reach the state of the child in its mother' s womb. The *sādhaka*, the bhakta, the yogi must become the child-yogi in the womb of the Divine Mother. Then the breath will not be broken up anymore. All along there will be only one goal, one aspiration, one inner experience, one Realizaion ......

While in its mother's womb, the individual has no connection with the outer world; There is thus no impediment and the blood circulation is not conditioned by the functioning of the breath but evenly flows straight in and out of the mother's blood stream. By the sight of outer things and breathing the outer air, man's concentration is destroyed by outer things and the remembrance of his true nature vanishes. It is necessary for the aspirant to hide himself from the obstacles of the outer world by entering the Divine Mother's womb in the case of his own heart. Thereby lost remembrance will be restored. Then the Mother will take on Herself all his burdens.

—*Mataji*

Yā devī sarva bhuṭeshu mātri rupena samsthitā
namastasyee, namastasyee, namastasyee namo namoha.

Mātri Lilā

(June 15th—August 31st, 1970)

Mataji was in Poona since May 13th. We have already reported in detail about the celebrations of her birthday and after. In the middle of June Mataji was to visit some places in Maharashtra, when Didima developed breathing difficulty. The doctor prescribed a few week's complete rest for her. Mataji therefore postponed her trip. Didima rested for about a fortnight, after which her health seemed normal.

In the later part of June Mātaji followed invitations to the houses of several devotees, among them the Rajmata of Baroda who had met Mataji for the first time this summer only. Satsang had to be held in sheds, since Mataji does not enter the dwelling of a householder. On one occasion it started raining heavily and the wind blew the rain into the shed from the sides. Our hosts felt quite desperate, being unable to protect the gathering from the inclemency of the elements. Mataji said laughingly : "What is the use of worrying ? Just sing kirtana !" She herself began to sing, "Radhe Govinda" and the whole congregation joined in enthusiastically not heeding the pouring rain. In a few minutes the sky had cleared up and the gathering proceeded undisturbed.

Mataji used to go for a drive on Kharakvasla Road almost every evening and then walk for a mile or more accompanied by a number of Brahmacharis and Brahmacharinis. Dr. Gopinath Kaviraj also often walked with her.

On June 28th, Mataji paid a visit to the Ashram of Sri Dilip Kumar Roy. The great poet and singer sang beautifully before Matāji.

On July 2nd, Mataji together with Didima, Didi and a large party of ashramites and devotees motored to Miraj, 140 miles from Poona, at the invitation of Sri Thakorebhai Patel, a devotee from Bombay, who owns some mills at Miraj. It is a health-resort, renowned for its bracing air and wholesome water. There is a T. B. Sanatorium also at Miraj. Mataji and her entire party were put up at the "Tilak Vidya Mandir" school. One day the students of the school gave a demonstration of *āsanas* in which they are experts. Their performance was much appreciated.

On July 3rd, Mataji and Didima motored to Nipani in Belgaum at the pressing invitation of Sri Chandrasekhar Swami, Head of the Department of Comparative Philosophy in Varanasi Sanskrit University, who happens to be the head and *Guru* of the famous Shivacharya Swami Hiremath at Nipani. Dr. Gopinath Kaviraj was already there. Dr. Gouri Nath Sastri, Vice-Chancellor of the Sanskrit University and a few others accompanied Mataji from Miraj. Mataji was taken in a two-mile long procession in an open car followed by hundreds of citizens who all walked on foot. The entire population of the town numbering several thousands seemed to have come out to welcome Mataji and to pay homage to her. Eleven arches had been erected along the road. Women carrying copper vessels went on sprinkling water in front of the car. As Mataji passed, people came out of every house waving lights and incense in worship. It was indeed a moving and unique sight.

Sri Dattabal had requested Mataji to visit the meditation hall of his "Divine Mission" if ever she came to Kolhapur. On her way back from Nipani, Mataji had to pass through Kolhapur but she did not know Dattabal's address. Mataji went to the famous Mahalakshmi Temple at Kolhapur. In the very crowded bazar she by chance met a devotee who knew the address and who had been praying fervently for Ma's *darśana*. At night Mataji was again back at Miraj where she remained until July 9th. *Satsang* was held twice daily. One day the renowned singer, Sri Vinaya Pattavardhan sang to Mataji. Another day she went to see the famous Ganesh temple which is made of black stone.

On July 9th, Mataji proceeded to Barsi where she had been for the first time last summer.* Twenty-two persons accompanied her, while the rest of the party, including Didima, returned to Poona. At Barsi Mataji was in a very animated mood. She sang and talked as during her previous visit. Like last year she also visited the *mandir* of Lord Vishnu and King Ambarish where special puja was celebrated.

---

* Ānanda Vārtā, October 1969, pp. 190-91.

On July 12th, Mataji returned to Poona. On the 13th the opening-ceremony of a new guest-house in the Ashram grounds was performed in Mataji's presence.

Mataji had wanted to go to Kankhal (Hardwar) for Gurupurnima. But the devotees of Poona and Bombay just would not let her go. Some of them pleaded that they had never before been with Mataji on that auspicious day and they took great trouble to persuade her to remain in their midst. Mataji finally responded to their entreaties, leaving for Bombay on July 19th, the day after Gurupurnima. The festival was observed in great style on July 18th. Excellent arrangements had been made. The attendance was enormous. Mataji felt inspired to sing for quite a long while. She sang "Krishna Kanhaiya," "Krishna Gopal" and "Prangopal re." It was as it were, an invitation to Gopal to take his abode in the temple for Him which is under construction in the Ashram grounds with an adjoining hall for satsang.

During her short stay in Bombay for two nights, a number of dignitaries came to see Mataji, such as Swami Akhandanandaji, Swami Chinmayanandaji, the Secretary of Sri Vinoba Bhave, the Rajmata of Gwalior and the head of the R. S. S. (Rashtriya Swayam Sewak Sangh), who was still in hospital after a cancer operation.

On July 21st, Mataji left for Varanasi with Didima and Didi to see the ailing Dr. Gopinath Kaviraj and Sri Mukti Maharaj, who is one of the last surviving disciples of Holy Mother Sharada Devi. Both of them have been staying in our Ashram at Varanasi.

On July 29th, Mataji and Didima travelled to Kankhal, reaching there the next morning. Mataji remained in the Kankhal Ashram until August 1st and then moved with her entire entourage to Jaipuria Bhavan at Ramghat, Hardwar, where a *Bhāgavata Saptah* was held from August 3rd to 10th, with Sri Srinath Shastri of Vrindaban officiating. Sri Sitaram Jaipuria of Kanpur—who unfortunately was very ill and therefore unable to come himself—had put the greater part of the newly built Jaipuria Bhavan at the disposal of Mataji and her party for the entire period of her stay which extended over *Jhulan* and *Janmastami*. This *dharmaśāla* is a beautiful four-storeyed structure consisting of forty rooms, spacious courtyards, kitchens, bathrooms etc., situated directly on the Ganges. An ideal place for large gatherings. From August 4th, Mataji motored to Kankhal almost every evening, spending the night there in quiet and solitude.

The Ashram at Kankhal had so far been known by its old name "Shantiniketan." The owner of the property Sri Nitai Basu Mallik, who happens to be a devotee of Mataji, recently made a gift of the same to Sri Sri Anandamayee Sangha in the memory of his parents. The Gift Deed was registered only on July 31st and in the morning of August 7th it was formally inaugurated in Mataji's and Didima's presence as a regular Ashram. Brahmachari Jogeshda who is incharge of the Kishenpur Ashram and a few others were called for the occasion and special *bhoga* was offered in the Siva Mandir at midday. Mataji returned to Ramghat as usual by 11 a. m. to be present during the last half hour of the Sanskrit reading of the *Bhāgavata* followed by *ārati.*

On August 8th, Sri Krishna's birth was described in the course of the reading of the *Bhāgavata.* This is always a special occasion. Didima was present in her seat and Mataji noticed her extraordinary radiance that day. Late in the evening the car that almost daily used to take Mataji to Kankhal was sent back. Mataji said she had no *kheyāla* to spend the night at Kankhal. At about 1 a. m. Didima got up and went to the bathroom. On returning to her room she felt uneasy. Her attendant wanted to call Mataji, but Ma had already left her room and came of her own accord. Didima could not breathe normally. Mataji sat down by her side and gently massaged her chest, yet there was no improvement. At nearly 1-30 a. m. Didima suddenly opened her eyes, looked at Mataji, tried to raise her hands by way of *pranāma* and breathed her last. Her room was directly on the bank of the Ganges, the music of its streaming filled the atmosphere. In this simple and beautiful manner, in the most blessed surroundings, under the most auspicious circumstances, ended the life of the holy woman who had been chosen by Providence to give birth to Sri Anandamayi Ma and to bring her up. Not only that : to be later her closest companion for 32 years as a *sannyāsini.*

Trunk calls were put through first to Varanasi and then to all our other Ashrams. Early morning disciples and devotees began to arrive from Dehradun and Delhi. Later in the morning Didima's body was lifted into a car and taken to Kankhal Ashram in sitting posture. It remained all day long in the lotus pose on an elevated seat on the veranda of the Ashram, dressed in silken garments, the forehead adorned with ashes. The face looked entirely beautiful, serene and fresh until the late evening when the body was given *samādhi* in the garden of the Ashram.

Mataji went to Kankhal after the Sanskrit reading of the *Bhāgavata* at about 11 a. m. More and more devotees collected from many places. Excellent singers arrived from Delhi and the kirtan could be kept up with full vigour until 10. p. m. Someone came from Jullundur where no information had been sent. He had been prompted by a dream to hurry to Ma without delay. A few others in different places had also dreamt. By 2 p. m. devotees arrived (partly by plane) even from Bombay. At 6-45 p. m. Didima's only son, Sri Makhan Bhattacharya came from Varanasi with the General Secretary of the Sangha and Brahmachari Nirmalananda. Then only the final rites were performed. The Mahant of "Nirvani Akhara," the Ashram of Didima's Sannyasa Guru, had come earlier in the day and his advice was sought as regards the procedure and he himself provided some of the necessary paraphernalia. Hundreds and hundreds of people had *darśana* of Didima in *Mahāsamādhi* in the course of the whole day. A solid *samādhi* had been built of bricks, the inner walls were made of marble slabs. By about 9-30 p. m. the body was placed into it in sitting posture. The whole function was extremely inspiring and serene.

The next day, August 10th was the last day of the *Bhāgavata Saptāh*. On the 11th morning there was *havan* (fire sacrifice) and the recitation of the whole of the Bhagavad Gita. Immediately after its completion, *Akhanda Rāmāyaṇa* was started in Didima's room at Ramghat in Mataji's presence. It was followed by the reading in Hindi of the *Devi Bhāgavata*, the *Bhāgavata* twice and again *Rāmāyana*, ending with *Yoga Vāsistha*. In this manner the uninterrupted reading of Sacred Scriptures was sustained day and night until August 25th by all present taking turns. At Kankhal the *Siva Purāna* and the *Rāmāyana* were read in the day only.

On several days Brahmins in small numbers and beggars were fed and given presents at Kankhal. On August 20th, Mataji went to Rishikesh to grace with her presence feasts that were given to Sannyasis on behalf of Didima's *Mahāsamādhi* in Sri Sivananda Ashram and Kailash Ashram. On this occasion, Swami Sri Vishnudevananda, the aged Sannyāsaguru of Sri Swami Sivananda Saraswati and also the Guru of Sri Swami Chetan Giri, met Mataji for the first time. He is the head of the Kailash Ashram. On August 23rd, which was the 16th day of

Didima's passing, a special celebration was held at the Kankhal Ashram. Uninterrupted *japa* was kept up all day in Didima's room upstairs and uninterrupted *kirtana* downstairs, Mataji herself singing several times and starting new tunes. Four *pūjās* were performed that day, namely of Narayana, Siva, Durga and Giriji (Didima). Another *pūjā* of Giriji was performed at 1-30 a. m. (the time of Didima's passing) in Giriji's room at Kankhal by a Brahmacharini who had come from Varanasi. Mataji and those who spent the night at Kankhal were present. In spite of acute scarcity of space and rain at intervals, food was served in leaf bowls at midday to all present and also distributed at Daksheshwar Temple.

On other days *Daridra Nārāyaṇa Bhojan* (feeding of the poor) was arranged at Harkipowri on a large scale. About one thousand poor were fed. The final and biggest *bhandārā* was held on August 25th at the "Nirvani Akhara" at Kankhal, which has been amalgamated with the Ashram of Sri Mangal Giri, Didima's *Sannyāsa Guru*. Five hundred *sannyasis* were given food and clothes and sixteen also special presents. Mataji attended, accompanied by a very large number of devotees who had arrived for the occasion from all over North India. At our Varanasi Ashram also two hundred *sannyāsis* were entertained to a feast on behalf of Giriji and about three hundred poor were fed. There was *sādhu* feeding, on a smaller scale, *kirtan* and talks about Didima in most of our Ashrams. Giriji's disciples and devotees of their own wishes contributed generously to all these functions.

In between, *Jhulan* was celebrated at Ramghat every evening from 13th to 16th August in the customary manner. *Vigrahas* of Sri Krishna and Sri Radha were placed on a profusely decorated swing and Brahmachari Nirmalananda performed *pūjā* to the accompaniment of beautiful songs. Next to Mataji's seat there was a seat for Giriji with her garlanded picture. A large swing had also been prepared for Mataji's use, but she would not sit on it the first day. Afterwards Ma would place Didima's picture on it at the end of the function and then sit on the swing just for a second, so as to satisfy those who had taken much trouble over its decoration and were anxious to see it used by Mataji.

On *Jhulan Purnima* there was midnight meditation in the open courtyard. At 1 a.m. Mataji drove to Kankhal, as a function was held there the next early morning with *pūjā* and *havan*. It was August 17th, the day of the *Rakshā bandhan* festival. Already from the evening before, people had started tying bracelets (*rākhīs*) round Mataji's wrist, receiving *rakhis* from her in return. This continued almost all day long.

On August 24th, *Janmāstami* (Sri Krishna's birthday) was celebrated by a solemn midnight *pūjā* which started at 11-30 p. m. and continued for nearly two hours. At 1-30 a. m. another *pūjā* was performed in Giriji's room. The attendance was extremely large as people had arrived from everywhere for the *Pūrnāhuti* of the function held in honour of Didima, which was to be the next day.

On the 25th morning, *Nandotsava* (frolics of the *gopas* and *gopis* after Sri Krishna's birth) was observed. Although Mataji was in a hurry to go to Nirvani Akhara for the *sannyāsi* feeding, she gave her full attention to this joyous festival. The men were singing *kīrtana*, dancing round *vigrahas* of Sri Krishna. Mataji joined in the singing and danced a few steps with the woman who was dressed up as a *gopi* After a small vessel containing curds fell down and broke into pieces, as tradition demands, Mataji went out into the open courtyard in the pouring rain, surrounded by the whole crowd of devotees. Someone held a large bowl full of curds in front of her. With such swift and skilful movements Mataji threw curds into every one's open mouths and all over them that in a few minutes every single person had received his or her share. Mataji was in a great mood, full of joy and *bhāva*. She then entered Giriji's room, where the reading of scriptures (that had gone on for full 15 days without a break) was now brought to an end and ārati performed. When Mataji came out of the room, she moved like lightning among the throng of men and women, touching the head of every single person in blessing.

Mataji was to motor to Dehradun in the early afternoon after returning from "Nirvani Akhara", but it became late in the evening. On her way Mataji first went to Baghat House, Kharkhari, where the stepmother of the Raja of Solan was given *Ātur Sannyāsa** by Swami Hridayananda of Sivananda Ashram. Then Mataji went once more to Kankhal, reaching Kishenpur only at 10-30 p.m. Mataji was to board the train to Delhi from Dehradun on the 26th evening, but she had the *kheyāla* to return to Kankhal for some work that had been left undone. She therefore drove to Hardwar already at 2 p. m.

---

* *Ātur Sannyāsa* is given to people who are likely to pass away soon.

and got into the train from there. During the few hours spent at Dehradun a packed full hall of people had *darśana* in the morning. Mataji also visited Kalyanvan and then a devotee at Rajpur who, aged 95 and confined to bed, was pining to see Mataji once more in this life.

On August 27th, Mataji reached Delhi, leaving for Vrindaban on the 28th. A *Bhāgavata Saptah* was held there from September 1st to 8th. Mataji is expected to be in Gwalior for five or six days from the 9th. Swami Akhadanandaji is expounding the *Bhāgavata* there for a whole month. After Gwalior Mataji may spend a few quiet days at Solan and before the end of September go to Delhi in time for the *Navarātri* and *Durgā Pujā*. It has already been reported in the last issue that the Luxmi Puja as well as the Dewali and Annakut festivals also are scheduled to the held in our New Delhi Ashram in Mataji's presence. Soon after that she is likely to leave for Shuktal where the *Samyam Saptāh* will now commence from November 4th, and not from 6th as already announced.

SHREE SHREE ANANDAMAYEE SANGHA

LIST OF PUBLICATIONS

HINDI

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni „	1.00
Sri Sri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi Vol. I to XV	40.50
Ma Anandamayi—Dr. Pannalal	3.00
Akhanda Mahāyajna—Gurupriya Devi	2.50
Kīrtan Rasa Swarūpa	6.00
Sankirtana, Stava, Arati	0.50
Amar Vāni	6.00

BENGALI

Matri Darshan—"Bhaiji"	3.00
Sad Vāni—"Bhaiji"	1.50
Mātri Vāni	0.75
Shri Shri Ma Anandamayee—Gurupriya Devi Vol. I—XIV	36.50
Ma Anandamayee Upadeshamrita Sangraha	1.50
Akhanda Mahayājna „ „	2.50
Kiratan Rasa Swarupa	6.00
Suno Bali Maer Katha—Sailesh Brahmachari	1.25
Anandamayi Ma—Ganga Samiran	2.50
Amar Vāni	10.00

GUJRATI

Mātri Darshan—"Bhaiji"	1.50
Ma Anandamayi—Na—Sannidhyama (Vol. I)—Containing Bhaiji's "Sad-Vāni" & "Sri Ma Anandamayi Lila Katha" by Swami Bhagavatananda Giri	4.00
Ma Anandamayi-Na-Sannidhyama—Vol. II by Swami Bhagavatananda Giri	2.00
Amrit Vāni—Br. Dattatreyananda	2.00

ENGLISH

Mother As Revealed to Me—"Bhaiji"			4.00
Mātri Vāni (Sayings)	1.50.	Special edition	2.50
Words of Sri Anandamayi Ma			5.00
Mother as Seen by Her Devotees	5.50.	Special edition	6.50
From the Life of Sri Anandamayee Ma by Km. Bithika Mukerji, M. A., D. Phil.			12.00

PHOTOS etc.

Photos—various sizes	0.50 to 15.00
Lockets	1.50
Album	2.50

श्रीश्री आनन्द मयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

Registered with the Registrar of Newspapers for India under No. N. 4727/57